❀ प्रकाशकीय ❀

संयम-प्रकाश की तृतीय किरण पाठकों के हाथ में काफी विलम्ब के साथ पहुंच रही है। यह विलम्ब पाठकों को तो असह्य हुआ ही है पर स्वयं हमें भी असह्य होगया है। पर यह अकारण नहीं है, इसके कई कारण हैं। सब से बड़ा कारण तो प्रेस की अव्यवस्था है। किन्तु इस अव्यवस्था के लिए प्रेस स्वयं भी पूर्ण उत्तरदायी नहीं ठहराया जासकता। आजकल कर्मचारियों का मिलना बहुत मुश्किल होरहा है। यथोचित वेतन देने पर भी आदमी नहीं मिलते। इसके अतिरिक्त कागज आदि के सम्बन्ध में समय २ पर कई ऐसी बातें होगई हैं जिनके कारण भी कुछ विलम्ब हुआ। आशा है इस विवशता का खयाल कर पाठक इस विलम्ब के लिए हमें क्षमा करेंगे। भविष्य में ऐसा विलम्ब न हो इसके लिए हम अभी से काफी सतर्क हैं और यह आशा करते हैं कि इसकी "अनगार-भावना अधिकार" नामक चतुर्थ किरण पाठकों के हाथों में अप्रेल के अन्तिम सप्ताह तक पहुंच जावेगी। प्रूफ संशोधन में कई गलतियां रहगई हैं—प्रेस कर्मचारियों की असावधानी से पृष्ठ नं० ५२० उल्टा छप गया है—इसके लिए भी हम क्षमा-प्रार्थी हैं।

चैनसुखदास जैन न्यायतीर्थ,
मन्त्री—
श्री आचार्य सूर्यसागर दि० जैन ग्रन्थमाला समिति,
मनिहारों का रास्ता, जयपुर सिटी।

❋ विषय-सूची ❋

* समाप्त *

❀ अथ पंचाचाराधिकारः ❀

संयम—प्रकाश

पूर्वार्द्ध—तृतीय किरण

अथ पंचाचाराधिकार

❀ मंगलाचरण ❀

अथ नत्वा जिनं पार्श्वं, पंचाचार-प्रकाशकम् ।
अधिकारं समासेन, वच्मि भव्य-हिताप्तये ॥

इस अध्याय में मुनियों के पंचाचार का वर्णन किया जायगा। आचार का मतलब आचरण करना है। मुनियों के लिए जो आचरण अनिवार्य हैं वे ही आचार कहलाते हैं। उनके मुख्य रूप से ५ भेद हैं—सम्यग्दर्शनाचार, सम्यग्ज्ञानाचार, सम्यक्चारित्राचार, सम्यक्तपआचार और सम्यग्वीर्याचार।

दर्शनाचार

अच्छी तरह से सम्यग्दर्शन का आचरण करना अर्थात् अपने जीवन में उतारना ही सम्यग्दर्शनाचार कहलाता है। सारे आचारों का मूल सम्यग्दर्शनाचार है। जब तक जीवन में सम्यग्दर्शनाचार नहीं उतरता तब तक बाकी के चारों आचार मिथ्याचार कहलाते हैं। इसी लिए सबसे पहिले सम्यग्दर्शनाचार को कहा है। सम्यग्दर्शन की बहुत बड़ी महिमा है। बड़े २ आचार्योंने इसकी महिमा के वर्णन में बहुत कुछ लिखा है। सम्यग्दर्शन आत्मा की अनुभूति है। इसी अनुभूति के बल पर आत्मा में कर्मों के क्षय करने की योग्यता उत्पन्न हो जाती है। यह अनुभूति एक ऐसी दृष्टि है जिससे यह प्राणी, संसार, देह और भोगों को यथार्थ रूप में जानने की क्षमता पा लेता है।

"एको मे शासदो आदा णाणदंसणलक्खणो ।
शेषा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥"

अर्थात् मेरा अकेला आत्मा ही शास्वत (नित्य) है। वह ज्ञान दर्शन-लक्षण है। इसके अतिरिक्त जगत के सभी पदार्थ मुझ से बाह्य हैं, और सब जड़-पदार्थ के संयोग से प्राप्त होने वाले हैं। वे कोई भी मेरे नहीं हैं। इत्यादि विचार सम्यग्दर्शन के बिना

कि ताड़न, मारन, छेदन, भेदन इत्यादि
उत्पन्न नहीं हो सकते। सम्यग्दर्शन की ऐसी महिमा है कि यदि वह नरको मे भी उत्पन्न होजाय-जहाँ कि ताड़न, मारन, छेदन, भेदन इत्यादि नानाप्रकार के भयंकर दुःखों से यह प्राणी प्रतिक्षण संतप्त होता रहता है-वहाँ भी अपने आप को सुखी अनुभव कर सकता है। यही सम्यग्दर्शन स्वर्गों के अपार वैभव मे भी मनुष्य को विह्वल नही होने देता। इसीलिए पं० दौलतरामजी ने अपने एक भजन मे कहा है कि "बाहरि नारकि कृत दुख भुगते अंतर सुख रस गटागटी। रमत अनेक सुरनिसंग पै तिस परणतिते निज हटाहटी ॥" अर्थात् बाहर मे नारकियो के द्वारा किए हुए अनेक दुखों को भोगता हुआ भी आत्मा भीतर में गटागट शांति-रस पीता रहता है। इसी तरह स्वर्गों का अपार वैभव भी सम्यग्दर्शन के कारण मनुष्य में किसी भी प्रकार का उन्माद उत्पन्न नहीं करता। जैसे सूर्य उदय होने और अस्त होने की दोनों हालतों में एकसा रहता है अर्थात् उदय की अवस्था में भी सूर्य लाल रहता है और अस्त की अवस्था मे भी लाल ही रहता है इसी तरह सम्यग्दृष्टि भी संपत्ति और विपत्ति दोनों में एकसा रहता है। न वह विपत्ति में घबड़ाता है और न संपत्ति में उन्माद उत्पन्न होने देता है। यही कारण है कि सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाने के बाद इस आत्मा मे ऐसी विशेपता उत्पन्न हो जाती है कि इस के कारण यह संसार मे अर्द्ध-पुद्गल-परावर्तन काल से अधिक नहीं रह सकता। इसके बीच मे यह अवश्य ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

सम्यग्दर्शन की महिमा

अधिक हुआ तो नवग्रीवक पहुँच
सम्यग्दर्शन के विना यह आत्मा घोरातिघोर तपश्चरण करके भी मुक्ति को नहीं पा सकता। अधिक हुआ तो नवग्रीवक पहुँच गया। इसके बाद तो इसे वापस लौट कर आना ही होगा। अगर ११ अंग तक शास्त्रो का ज्ञान भी होजाय और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न हो तो उसका सारा ज्ञान व्यर्थ है। इसी तरह बिना सम्यग्दर्शन के तेरह प्रकार का चारित्र भी मनुष्य के लिए कोई फल प्रदान नहीं कर सकता। इस सम्यग्दर्शन के पालने से ही शिवभूति मुनि को शास्त्र का एकाक्षर-ज्ञान नहीं होने पर भी केवल ज्ञान उत्पन्न होगया था। उसने किसी को उड़द की दाल धोते हुए देख कर यह ज्ञान पा लिया कि जिस तरह दाल का तुष दाल से भिन्न है उसी तरह आत्मा भी जड़ से भिन्न है। यह सम्यग्दर्शन की ही महीमा है कि चक्रवर्ति भरत अपार वैभव के वीच भी निर्लिप्त होकर रह सका। और इसी लिए कपड़े उतारने के अन्तर्मुहूर्त बाद ही उसको केवल ज्ञान उत्पन्न होगया। जैसे कमल जल में रहता हुआ भी उससे निर्लिप्त होकर रहता है उसी तरह सम्यग्दृष्टि भोग भोगता हुआ भी उन में निर्लिप्त रहता है। और यही कारण है कि उसके भोग भी निर्जरा के हेतु कहलाते हैं।

प्रश्न—चाहे सम्यग्दर्शन की कितनी ही महिमा क्यों न हो पर यह कैसे हो सकता है कि उसके होने पर भोग भी निर्जरा के कारण हों। क्या सम्यग्दृष्टि जब भोगों में प्रवृत रहता है या अन्य किसी विचार में लगा रहता है तब उसके बंध नहीं होता? और असंख्यात गुणी कर्म-निर्जरा होती रहती है?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि चाहे कुछ भी करता रहे या किसी भी विचार में लगा रहे—उसका आपा-पर का भेद-विज्ञान-रूप श्रद्धान बना ही रहता है। और उसी श्रद्धान के प्रभाव से वह जो कुछ काम करता है या सोचता विचारता है वह सब ठीक ही होता है। वह व्यापार करेगा आवश्यकता पड़ने पर युद्ध करेगा, स्त्री पुत्रादिकों से प्रेम करेगा, इन्द्रियों के विषयों का उपभोग करेगा, हँसेगा, रोवेगा, पर उसकी ये सब क्रियायें उसके सम्यग्दर्शन का नाश न कर सकेंगी। क्योंकि इन सबको करता हुआ भी वह इन्हें हेय समझता है। ये सब काम मिथ्यादृष्टि भी करता है, पर भेद-विज्ञान न होने के कारण ये सब उसके तीव्रबंध के ही कारण हैं। सम्यग्दृष्टि तो इन्हें करता हुआ भी कर्मों की असंख्यातगुणी निर्जरा ही करता है। इसीलिए तो शास्त्रों में कहा है कि सम्यग्दृष्टि के भोग भी निर्जरा के कारण हैं। यह सब श्रद्धान की महिमा है।

जैसे नाटक का पात्र (Actor) नाटक की रंगभूमि में राजा, रंक, स्वामी, सेवक, स्त्री, पुरुषादि अनेक वेषों को धारण करता हुआ भी अपने को उन सब से भिन्न अनुभव करता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि-दुनियाँ के सब कामों को करता हुआ भी अपने आपको इन सब से भिन्न अनुभव करता है और जल में कमल की तरह इनसे अलिप्त रहता है। शास्त्रों में जो दुनियाँ के पदार्थों से सम्यग्दृष्टि के प्रेम की तुलना नगरनारी(वेश्या)के प्रेम, धाय के दूसरे बच्चे से प्रेम आदि के दृष्टांत दिए हैं वे सब इसी आशय को प्रकट करते हैं।

प्रश्न—यह सब आपका कहना ठीक है पर यह कैसे हो सकता है कि सम्यग्दृष्टि के भोग भी निर्जरा के कारण हैं?

उत्तर—शास्त्रों में यह बात सम्यग्दृष्टि की महत्ता को प्रकट करने के लिए कही गई है। वास्तव में भोग तो बंध के ही कारण हैं, फिर भी सम्यक्त्व के साथ में भोगों का विष नष्ट होजाता है जो तीव्र बंध का कारण है। आसक्ति न रहने के कारण सम्यक्त्वी के भोगों में मिथ्यात्वी के भोगों की अपेक्षा पाप-बीजता बहुत कम रहती है। इसी बात को ध्यान में रखकर आचार्यों ने उपचार से सम्यक्त्वी के भोगों को निर्जरा का कारण कह दिया है। पर इसका मतलब यह नहीं है कि भोग उपादेय हैं। बुराई, बुराई ही है, वह कभी भलाई नहीं हो सकती। हाँ यह हो सकता है कि वह भलाई की मौजूदगी में उतना असर न कर सके। एक बलवान आदमी अपथ्य सेवन (बदपरहेजी) करे तो वह शक्ति के कारण उतना असर नहीं करता। फिर भी बदपरहेजी तो बुरी चीज ही कहलावेगी और वह निर्बल व्यक्ति को एक ही बार में दिखला देगी कि वह कितनी बुरी चीज है। यह बात नहीं है कि बलवान आदमी को बदपरहेजी हानि नहीं पहुँचाती, पर उसका असर निर्बलों पर जितना जल्दी और ज्यादा होता है उतना बलवानों पर नहीं होता। इसी तरह भोग सम्यग्दृष्टि को हानि ही पहुंचाते हैं और यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि उन्हें छोड़ने को लालायित रहता है।

प्रश्न—अच्छा एक बात और बतलाइये। एक जीव (छद्मस्थ) के एक समय में एक ही उपयोग होता है, ऐसी जैन सिद्धांत की मान्यता है। तब एक ही आत्मा (सम्यग्दृष्टि) एक ही समय में विषय भोगों और आत्म-चिन्तन के विचार में कैसे रह सकता है? इसलिये

यह मानना चाहिये कि जब सम्यक्त्वी युद्धादि सांसारिक कार्यों में प्रवृत्त होता है तब उसके आत्म-चिन्तन के विचार बिलकुल नहीं रहते, क्योंकि एक समय में दो तरह के विचार कैसे रह सकते हैं? इसलिये यह क्यों न मान लिया जावे कि सांसारिक विषयों में प्रवृत्ति होने के समय सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है।

उत्तर—जिस समय सम्यग्दृष्टि जीव युद्धादि सांसारिक विषयों में प्रवृत्ति करता है उस समय आत्म-विषयक अथवा भेद-विज्ञान विषयक विचार नहीं करता यह ठीक है। किन्तु भेद-विज्ञान विषयक प्रतीति अवश्य बनी रहती है। एक ही समय में दो चिन्तन अथवा दो उपयोग नहीं होते यह ठीक है। और इसी तरह यह भी ठीक है कि एक ही समय एक ही आत्मा में परस्पर विरुद्ध दो प्रतीतियाँ नहीं ठहर सकतीं, किन्तु भिन्न विषयक प्रतीति और भिन्न विषयक चिन्तन तो ठहर ही सकते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि चिन्तन और प्रतीति का विषय सदा एक सा ही हो। जैसे एक मनुष्य खाते, पीते, चलते, फिरते, पढते, लिखते या किसी भी अन्य विषय का विचार करते समय अपनी इस प्रतीति को कभी नहीं भूलता कि वह नीरोग है। इसी तरह जब सम्यग्दृष्टि जीव आत्मातिरिक्त अन्य विषयों में प्रवृत्ति करता है तब भी उसके यह प्रतीति बनी ही रहती है कि उसका आत्मा सब पर-पदार्थों से भिन्न है। सम्यग्दर्शन की लब्धि-अवस्था सदा बनी ही रहती है चाहे उपयोगात्मक ज्ञान किसी भी विषय का क्यों न हो। जब सम्यक्त्वी आत्म-चिन्तन पर आता है तब लब्धि और उपयोग का एक ही विषय हो जाता है। और जब यह चारित्र मोहनीय के उदय से पर-चिन्तन में प्रवृत्त होता है तब दोनों का विषय भिन्न २ हो जाता है। इसलिये यह आवश्यक नहीं है कि आत्मातिरिक्त विषयक विचारों व तदनुकूल कार्यों के समय सम्यग्दर्शन की लब्धि भी नष्ट हो जाय।

सम्यग्दर्शन के भेद

अब सम्यग्दर्शन के भेदों का वर्णन करते हैं:—सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं—सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्-दर्शन। सम्यक्त्व के तीन भेद भी हैं—वेदक, क्षायिक और औपशमिक। आज्ञा, मार्ग आदि के भेद से इसके दश भेद भी हैं। एवं निसर्गज और अधिगमज की अपेक्षा भी दो भेद हैं।

इस प्रकार शास्त्रों में सम्यक्त्व के भेदों का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। इनमें सम्यक्त्व के पहिले दो भेद स्वामित्व की अपेक्षा किये गये हैं। अर्थात् सम्यग्दर्शन के स्वामी सराग और वीतराग जीव दो तरह के होते हैं। तीन भेद कर्मों की क्षयादि अवस्थाओं की अपेक्षा किये गये हैं, और यही भेद प्रधान हैं। दश भेद उत्पत्ति के भिन्न २ कारणों की अपेक्षा किये हैं। और अन्त के दो भेद कारणत्व और अकारणत्व की अपेक्षा से हैं। क्रम से उक्त सभी भेदों का वर्णन करते हैं—

सराग और वीतराग सम्यग्दर्शन का स्वरूप

प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, और आस्तिक्य जिसके होने पर प्रकट हो जावे वह सराग सम्यग्दर्शन है। यह सम्यक्त्व सरागी अर्थात रागाशवाले चौथे गुणस्थान से दशवें सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान तक के जीवो के होता है। राग चारित्र-मोहनीय का एक भेद है और इसका उदय दशवें गुणस्थान तक होता है। इसलिये वहाँ तक के सम्यक्त्व को सराग सम्यक्त्व कहा है। इसके बाद वीतराग सम्यक्त्व होता है।

वीतराग सम्यक्त्व आत्म विशुद्धि मात्र ही है। क्योकि एकादशादि गुणस्थानो मे प्रशम संवेगादि का विकल्प नहीं होता। यह विकल्प तो दशवें तक ही रह जाता है जब तक कि राग भाव का उदय है।

प्रशमादि का स्वरूप

आत्मा पर रागादि वृत्तियो का प्रभाव न होना शम या 'प्रशम' कहलाता है और संसार के कारण पापो से डरना 'संवेग' है। सत्य तत्वों के विषय मे आस्तिक्य बुद्धि रखना-नास्तिक्य से उलटे-'आस्तिक्य' का लक्षण है। किसी भी जीव पर द्रोह बुद्धि न रखना 'अनुकम्पा' या 'दया' कहलाता है। इन चारो का आत्मा में प्रकट होना सराग सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व होने का ज्ञान

आगे यह बताते हैं कि किस गुणस्थान तक सम्यग्दर्शन के हो जाने का पता जीवों को कैसे लगता है—

सूत्र-लोसांत अर्थात् सूक्ष्मसांपराय नामक दशवें गुणस्थान तक के जीव चरणानुयोग की अपेक्षा से वर्णित अपने सम्यग्दर्शन को अपने आत्मा मे उत्पन्न प्रशमादि चारो के द्वारा जान लेते हैं। और प्रमत्तविरत नामक छठे गुणस्थान तक के जीनों के सम्यग्दर्शन को दूसरे सम्यग्दृष्टि विद्वान् लोग भी उन जीवो के मन वचन और काय की चेष्टा से अनुमान के द्वारा जान लेते हैं।

प्रश्न—जैन शास्त्रो मे यह भी देखने मे आया है कि अपने सम्यग्दर्शन का पता अपने आप को भी नहीं लगता। शुक्ल लेश्या को धारण करने वाला द्रव्य-लिंगी मुनि जो नौ-पूर्व तक का जानने वाला होता है उसे भी अपने मिथ्यात्व का पता नहीं लगता। तब यहाँ अपने व दूसरे के सम्यक्त्व को जानने की बात कैसे कही गई?

उत्तर—जैन शास्त्रो मे सम्यक्त्व का वर्णन विभिन्न अनयोगो मे वर्णित है। चरणानुयोग के अनुसार जो सम्यक्त्व का वर्णन

है वह वाह्य चारित्र की अपेक्षा से है। पात्रो के उत्तम मध्यम और जघन्य जो तीन भेद किये हैं वे चरणानुयोग की अपेक्षा से ही हैं। अगर इन भेदो को करणानुयोग की अपेक्षा से मानें तब तो जो मनुष्य थोड़ी देर पहिले ग्यारहवें गुणस्थान में है वही अन्तर्मुहूर्त में पहिले गुणस्थान मे आजाता है। और इस बात का पता दातार को लग नहीं सकता। तब पात्रापात्र की व्यवस्था कैसे बन सकती है? इसलिये इसे चरणानुयोग की अपेक्षा ही मानना चाहिये। इसी तरह छठे गुणस्थान तक सम्यक्त्व भी दो अनुयोगो द्वारा माना जाता है। चरणानुयोग में सब व्यवस्था वाह्य चारित्र की अपेक्षा से है। इसलिये सम्यक्त्व का लक्षण भी वाह्य चारित्र की अपेक्षा से ही निर्धारित किया गया है। छठे गुणस्थान तक के जीवो के सम्यक्त्व को जो दूसरे लोग अनुमान से जान लेते हैं, वह चरणानुयोग का सम्यक्त्व है, करणानुयोग का नहीं। करणानुयोग के अनुसार तो सम्यक्त्व घातक कर्मो के क्षय,क्षयोपशम और उपशम की अपेक्षा से है। वहाँ वाह्य चारित्र की इतनी प्रधानता नहीं। वाह्य चारित्र म कुछ गडबडी नहीं होने पर भी गुणस्थान उतर जाता है।

छठे गुणस्थान के ऊपर गुणस्थानो की व्यवस्था करणानुयोग के अनुसार ही है। यह कहना गलत है कि किसी को भी अपने सम्यक्त्व का पता अपने आप नहीं लगता। मिथ्यात्व का पता चाहे स्वयं को न लगे पर सम्यक्त्व तो मालूम हो ही जाता है। अगर सप्तमादि गुणस्थान वाले जीवो को भी अपने सम्यक्त्व का पता न चलेगा तो फिर उन्हें आत्मानुभव ही क्या हुआ? पर चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थान तक के जीवों के सम्बन्ध मे तो यह बात फिर भी किसी अंश में सही हो सकती है।

निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शन का स्वरूप

सम्यग्दर्शन के दो भेद निसर्गज और अधिगमज के भेद से भी हैं। जो दूसरे के उपदेश की अपेक्षा के बिना अपने आप ही उत्पन्न हो जाता है वह नैसर्ग अथवा 'निसर्गज' सम्यग्दर्शन है। और जो दूसरे के उपदेश की सहायता से उत्पन्न होता है वह 'अधिगमज' है।

गुरु के उपदेश से, विद्वानो की सङ्गति से, तत्वचर्चा से शास्त्र स्वाध्याय आदि से आत्म स्वरूप की प्रतीति होना अधिगमज सम्यग्दर्शन है। पर इन ज्ञान के निमित्तो के बिना जो आत्म श्रद्धान होता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन है। बादलों की क्षणिकता, मनुष्यादि प्राणियो की आकस्मिक मृत्यु एवं अन्य पदार्थों की क्षण भंगुरता देख कर जो स्वयं आत्म-प्रतीति होती है वह निसर्गज सम्यक्त्व के उदाहरण हैं।

आगे सम्यक्त्व के क्षायिकादि तीन भेदो का वर्णन करते हैं।

क्षायिक-सम्यग्दर्शन का स्वरूप

अनन्तानुबन्धी क्रोध,मान,माया, लोभ और मिथ्यात्व,सम्यङ्-मिथ्यात्व एवं सम्यक्-प्रकृति-ये सात कर्म प्रकृतियाँ सम्यक्त्व का

नाश करने वाली हैं। इनके क्षय से क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। और क्षायिक सम्यक्त्व हो जाने पर वह जीव तीसरे या चौथे भव में अवश्य संसार से मुक्त हो जाता है।

प्रश्न—अनन्तानुबन्धी तो चारित्र मोहनीय की प्रकृति है इसलिये वह चारित्र का ही घात करेगी, उसे सम्यक्त्व की घातक क्यों कहा? अगर यह सम्यक्त्व की ही घातक है तो फिर उसे दर्शन मोहनीय में ही गिनाना था।

उत्तर—अनन्तानुबन्धी के उदय से क्रोधादिरूप परिणाम उत्पन्न होते हैं, अतत्व श्रद्धान नहीं होता। इसलिये यह चारित्र को ही घातती है, सम्यक्त्व को नहीं। वास्तव में बात तो यही है,किन्तु अनन्तानुबन्धी के उदय से जिस तरह के क्रोधादिक भाव होते हैं उस तरह के क्रोधादिक परिणाम सम्यक्त्व के रहते हुए नहीं होते। इस तरह सम्यक्त्व और अनन्तानुबन्धी के अभाव के निमित्त और नैमित्तिक भाव है। जैसे त्रसपने की घातक तो स्थावर प्रकृति ही है किन्तु त्रस होते हुए एकेन्द्रिय जाति प्रकृति का उदय नहीं होता इसलिये उपचार से एकेन्द्रिय जाति प्रकृति को त्रसपने की घातक कह सकते हैं। वैसे ही यद्यपि सम्यक्त्व का घातक तो दर्शन मोहनीय है तो भी सम्यक्त्व के रहते हुए अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय नहीं होता। इसलिये उपचार से अनन्तानुबन्धी को भी सम्यक्त्व का घातक कह सकते हैं। अथवा अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व और चारित्र दोनो को घातने का स्वभाव रखती है। इसलिये सम्यक्त्व की उत्पत्ति मे उसका अनुदय भी उतना ही आवश्यक है जितना कि दर्शन मोहनीय की प्रकृतियो का।

प्रश्न—अगर ऐसा है तो उसे चारित्र मोहनीय की प्रकृतियो में क्यो गिनाया?

उत्तर—प्रधानतया यह क्रोधादिको को उत्पन्न करने वाली है। इसलिये जितनी उसमे चारित्र-घातकता रहती है उतनी दर्शन घातकता नहीं रहती।

प्रश्न—अगर ऐसा है तब तो उसका उदय न रहने पर कुछ चारित्र उत्पन्न होना चाहिये। किन्तु ऐसा तो नहीं होता, क्योंकि तीसरे और चौथे गुणस्थान मे उसका उदय न रहने पर भी चारित्र पैदा नहीं होता।

उत्तर—कषायों के अनन्तानुबन्धी आदि भेद तीव्रता मन्दता की अपेक्षा से नहीं है। अर्थात् यह बात नहीं है कि जो कषाय तीव्र हो उसे अनन्तानुबन्धी और मन्द मन्दतर, मन्दतम को अप्रत्याख्यानादि कहते हैं। क्योंकि मिथ्यादृष्टि के चाहे तीव्र कषाय हो चाहे मन्द कषाय हो-अनन्तानुबन्धी आदि चारों का उदय युगपत् माना जाता है। मिथ्यादृष्टि के चारो कषायों के उत्कृष्ट स्पर्द्धक समान है। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि अनन्तानुबन्धी कषाय के साथ जैसा तीव्र उदय अप्रत्याख्यानादि का होता है वैसा उसके न रहने पर नहीं होता। वैसे ही अप्रत्याख्यान के साथ प्रत्याख्यान और संज्वलन का जैसा उदय होता है वैसा अप्रत्याख्यान के चले जाने पर नहीं होता। इसी तरह प्रत्याख्यान के

साथ जैसा सज्वलन का उदय होता है वैसा केवल संज्वलन का नहीं होता। इसलिये अनन्तानुबन्धी के चले जाने पर यद्यपि कषायों की मंदता तो होती है, पर ऐसी मंदता नहीं होती जिसे चारित्र कहा जा सके। क्योंकि आचार्यों ने असंख्यात लोक प्रमाण कषायों के स्थानों के तीन भेद कर दिये हैं। जिनमें आदि के बहुत से स्थान तो असंयम रूप हैं। इसके बाद कुछ देश संयम रूप हैं और फिर कुछ सकल संयम रूप हैं। पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान तक जो कषायो के स्थान हैं वे सब असंयम रूप ही हैं। इसलिये कषायो की मंदता होते हुए भी वे चारित्र नहीं कहलाते। यद्यपि वास्तव मे कषाय घटना चारित्र का अंश है तथापि वह कषाय का घटना चारित्र कहलाता है जिससे यह जीव एक देश संयम या सकल संयम धारण कर सके। असंयम मे ऐसी कषाय घटती नहीं इसलिये अनन्तानुबन्धी के उदय का अभाव होने पर भी चारित्र नहीं कहला सकता।

प्रश्न—आपने ऊपर कहा है कि अनन्तानुबन्धी वास्तव मे सम्यक्त्व को नहीं घातती; क्योंकि वह चारित्र मोहनीय की प्रकृति है, तो फिर प्रश्न यह होता है कि इसके उदय होने पर जीव सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर सासादन गुणस्थान को कैसे प्राप्त हो जाता है?

उत्तर—अनन्तानुबन्धी के उदय से सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता, किन्तु उसके उदय होजाने के एक समय या अधिक से अधिक छह आवली के बाद सम्यक्त्व का नष्ट होना अवश्यंभावी है। इसी अपेक्षा से अनन्तानुबन्धी को सम्यक्त्व का विराधक कह दिया गया है। वास्तव में तो सम्यक्त्व का नाश तभी होगा जब मिथ्यात्व का उदय हो जायगा। सासादन गुणस्थान तो सम्यक्त्व ही का काल है। क्योंकि सम्यक्त्व के नष्ट होने में अधिक से अधिक छह आवली और कम से कम एक समय बाकी रहता है तभी सासादन गुणस्थान होता है। इसलिये जब तक मिथ्यात्व का उदय नहीं हो तब तक सम्यक्त्व का उदय ही मानना चाहिये। फिर भी—मनुष्य पर्याय के नाश का कारण भयङ्कर रोग उत्पन्न हो जाने पर जैसे हम किसी मनुष्य को मनुष्य पर्याय छोड़ने वाला कह देते हैं वैसे ही—सम्यक्त्व के नाश का कारण अनन्तानुबन्धी का उदय होने पर सासादन कह दिया जाता है। वस्तुतः तो सम्यक्त्व का नाश तभी होगा जब मिथ्यात्व का उदय हो जायगा। जैसे कि वास्तव मे तो मनुष्य पर्याय का नाश तभी माना जायगा जब उसे छोड़ कर दूसरी पर्याय को जीव प्राप्त हो जायगा। इस तरह अनन्तानुबन्धी को भविष्यत की अपेक्षा उपचार से सम्यक्त्व का घातक कहा गया है।

अब यह बताते हैं कि क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाने पर उसका क्या महत्व है :—

क्षायिक सम्यग्दर्शन की महत्ता

क्षायिक सम्यग्दर्शन होजाने पर जीव कभी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता, और न कभी तत्वो में संदेह को उत्पन्न करता है। इस सम्यक्त्व को धारण करने वाला जीव मिथ्यात्व से उत्पन्न होने वाले अतिशयो को देख कर भी आश्चर्य—चकित नहीं होता।

क्षायिक-सम्यग्दृष्टि-जीव के मिथ्यात्व कर्म के निषेकों का सर्वथा अभाव हो जाता है। इसलिये वापस मिथ्यात्व में लौटने का उसके कोई कारण नहीं है। और इसीलिये उसके प्रयोजनभूत जीवादि तत्वों में कभी संदेह नहीं होता, क्योंकि संदेह का कारण मिथ्यात्व कर्म तो नष्ट होगया। इस सम्यक्त्व का धारण करने वाला जीव देवी, देव, भूत, प्रेतादि की उपासना से अथवा मन्त्र, तन्त्र, यन्त्रादि के प्रयोजन से होने वाले अतिशय को देखकर भी कभी आश्चर्य नहीं करता। सच बात तो यह है कि यह जीव अतिशयों का महत्व बिलकुल नहीं मानता! क्योंकि अतिशय आत्मा की महत्ता के सूचक नहीं हैं। अधिकांश अतिशय तो झूँठे और पाखण्ड पूर्ण होते हैं। देवता की महत्ता भी इस बात से नहीं है कि वह अतिशय वाला है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने उनकी निःसारता प्रकट की है। उनने अपने 'देवागम स्तोत्र' में सर्व प्रथम लिखा है कि—

देवागमनभोयानचामरादि-विभूतयः । मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥ १ ॥
अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः । दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥ २ ॥

हे भगवन्! आपके लिये देवता आते हैं, आप आकाश में चलते हैं, आप पर चौसठ चमर दुरते हैं, देवता, पुष्प-वृष्टि करते हैं। लेकिन इन बातों से आप हमारे पूज्य नहीं हो सकते; क्योंकि ये सब बातें तो मायावियों-इन्द्रजालियों में भी देखी जाती हैं। यदि इन्हीं बातों से कोई पूज्य बन जाता है तब तो आप में और इन्द्रजालियों में कोई भेद न रह जायगा और इन्द्रजाली भी पूज्य बन जावेंगे।

तब भगवान कहते हैं कि तुम्हारा यह कहना तो ठीक है लेकिन कई अतिशय ऐसे हैं जो इन्द्र जालियों में नहीं होते। अतः उनके कारण तो मुझे महान-पूज्य मानलो। इस पर स्वामी समन्त-भद्र उत्तर देते हैं कि—नहीं। माना कि पसीना, मल-मूत्र आदि का कभी न आना आप के अन्तरङ्ग विभूति और गंधोदक की वर्षा होना वगैरह बहिरङ्ग विभूतियाँ सत्य हैं अर्थात् मायावियों के नहीं होतीं और दिव्य हैं अर्थात मनुष्य तथा चक्रवर्ती वगैरह के नहीं होतीं, लेकिन अक्षीण कषायवाले देवों के तो होती हैं और वे हैं रागादियुक्त। अतः आप इन की वजह से भी पूज्य नहीं हैं।

इस तरह समन्तभद्र स्वामी ने इस बात का खण्डन किया है कि 'कोई अतिशय विशिष्ट होने से ही पूज्य बन सकता है'। क्षायिक सम्यग्दृष्टि कभी अतिशयों को महत्व नहीं देता।

क्षायिक सम्यक्त्व की स्थिति

संसार की अपेक्षा से क्षायिक सम्यग्दर्शन की स्थिति कम से कम (जघन्य) अन्तर्मुहूर्त की और अधिक से अधिक (उत्कृष्ट) कुछ ज्यादह तेतीस सागर की है। और मुक्ति की अपेक्षा सादि अनन्त है। यह सम्यग्दर्शन हमेशा प्रकाशमान और अचल रहने वाला है।

संसार की अपेक्षा जो क्षायिक सम्यक्त्व की स्थिति उपर्युक्त प्रकार से बतलाई है उसका मतलब यह है कि यह सम्यक्त्व उत्पन्न
होने के बाद जीव एक अन्तर्मुहूर्त में भी मुक्ति को प्राप्त हो सकता है और अधिक से अधिक संसार में रहे तो तेतीस सागर से कुछ ज्यादा
अर्थात् सान्तर्मुहूर्त आठ वर्ष कम दो करोड़ पूर्व–सहित तेतीस सागर ठहर सकता है। इस से अधिक नहीं। यह स्थिति इस प्रकार समझनी
चाहिये कि किसी एक करोड़ पूर्व की आयु वाले मनुष्य के आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त के बाद क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ। इसके पश्चात् वह
सारी मनुष्य आयु पूर्ण कर तेतीस सागर आयु का धारक सर्वार्थ–सिद्धि नामक अनुत्तर विमान का देव होगया। फिर वहाँ से चय कर एक
करोड़ पूर्व की आयु का धारक मनुष्य होगया और फिर मुक्ति चला गया। इस तरह तेतीस सागर और अन्तर्मुहूर्त सहित आठ वर्ष कम दो
करोड़ पूर्व तक क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव संसार में रह सकता है।

प्रश्न—दो करोड़ पूर्व में आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम करने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—किसी भी मनुष्य के आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त की आयु के पहले सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता।

प्रश्न—जब मनुष्य की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य की है तो फिर यहाँ एक पूर्व की क्यो बतलाई?

उत्तर—यद्यपि मनुष्य की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य की है किन्तु भोगभूमि के मनुष्य के क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं हो सकता।
क्षायिक सम्यग्दर्शन तो कर्म भूमि के मनुष्य के ही होता है और कर्म भूमि के मनुष्य की उत्कृष्ट आयु एक करोड़ पूर्व की ही होती है।

प्रश्न—अगर क्षायिक सम्यग्दर्शन कर्म भूमि के मनुष्य के ही होता है तो भोग भूमि के मनुष्य के उसका सद्भाव कैसे पाया
जाता है।

उत्तर—क्षायिक सम्यक्त्व का सद्भाव तो चारों ही गतियों में पाया जा सकता है किन्तु होता कर्म भूमि के मनुष्य के ही है।

प्रश्न—भोग भूमि के मनुष्य के वह कैसे पाया जाता है?

उत्तर—क्षायिक सम्यक्त्व का सद्भाव तो चारों ही गतियों में पाया जा सकता है; किन्तु कर्म भूमि के मनुष्य के अतिरिक्त किसी
गति के जीव के भी उसकी उत्पत्ति नहीं होती। अन्यत्र तो वह पहले जन्म से आया हुआ ही विद्यमान रहता है। जिस जीव के मनुष्यायु का
बन्ध पहले हो जाता है और फिर क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है तो वह मरकर भोगभूमि का ही मनुष्य होता है, कर्मभूमि का नहीं।
इसलिये भोगभूमि के मनुष्य के पहले भव से आया हुआ क्षायिक सम्यक्त्व है, वहाँ पैदा नहीं होता। इसी तरह तिर्यञ्च गति में भी भोगभूमि
के तिर्यञ्च के भी उसका सद्भाव पाया जाता है क्योंकि तिर्यगायु के बन्ध करने के बाद अगर किसी मनुष्य के सम्यक्त्व हो जाय तो वह
भोगभूमि का ही तिर्यञ्च होगा।

किसी भी सम्यक्त्व के लिये साधारणतया यह नियम है कि अगर सम्यक्त्व की उत्पत्ति के बाद आयु का बन्ध होगा तो देव आयु का ही होगा और वह जीव कल्पवासी देव में ही उत्पन्न होगा। किन्तु सम्यक्त्व की उत्पत्ति के पहले अगर नरक आयु का बन्ध हुआ तो वह जीव प्रथम नरक से आगे न जायगा। मनुष्य आयु का बन्ध हुआ तो भोगभूमि का मनुष्य होगा। तिर्यंगायु का हुआ तो भोगभूमि का तिर्यञ्च होगा। और देवायु का बन्ध हुआ तो भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में उत्पन्न न होकर कल्पवासियों में ही पैदा होगा।

इस तरह संसार की अपेक्षा इस क्षायिक सम्यक्त्व की स्थिति बतलाई। मुक्ति की अपेक्षा तो इस की स्थिति सादि और अनन्त है। क्योंकि मुक्ति की आदि तो है पर उसका अन्त नहीं है।

यह सम्यग्दर्शन आत्मा मे सदा प्रकाशमान और अचल है अर्थात् एक बार उत्पन्न होने के पश्चात् कभी नष्ट न होनेवाला है। इसकी महिमा अपार है।

प्रश्न—क्या सम्यग्दृष्टि जिस समय सांसारिक विषयो में प्रवृत्त होता है उस समय भी क्षायिक सम्यग्दर्शन रहता है ?

उत्तर—हाँ! अवश्य रहता है।

प्रश्न—तब फिर उसकी क्या उपयोगिता है जब कि उसके रहते हुए भी विषय भोगों में प्रवृत्ति होती है ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन की यह उपयोगिता है कि उसके रहते संसार और शरीर की हेयता का श्रद्धान, आपापर का भेद-विज्ञान एवं जीवादि प्रयोजन-भूत तत्वों का श्रद्धान होजाता है।

प्रश्न—अगर ऐसा है तो यह जीव संसार को छोड़ क्यों नहीं देता ?

उत्तर—संसार की हेयता का श्रद्धान होने पर भी जब तक चारित्र मोहनीय कर्म का उदय रहता है तब तक यह जीव संसार अथवा विषय भोगों को छोड़ नहीं सकता। इच्छा न रहने पर भी उन्हें ग्रहण करना ही पड़ता है। जैसे रोग होजाने पर कटु औषधि लेने की इच्छा न रहते हुए भी उसे औषधि लेनी ही पड़ती है। वैसे ही क्षुधा, तृषा, काम आदि वेदनाओं के आधीन होकर भोजन पान, स्त्री पुरुष आदि पदार्थों को सम्यग्दृष्टि जीव ग्रहण करता है पर मिथ्यादृष्टि की तरह इन पदार्थों को आसक्ति से ग्रहण नहीं करता और अन्तरङ्ग में समुचित अवसर आते ही उन्हें छोड़ देने का विचार रखता है। पर मिथ्यादृष्टि ऐसा नहीं होता। उसे विषयों में बिलकुल घृणा नहीं होती। वह अत्यन्त आसक्ति के साथ उनका उपभोग करता है और उनके संयोग वियोग में आनन्द और शोक मानता है।

गुणस्थानों में क्षायिक सम्यक्त्व

अब आगे बताते हैं कि किस गुणस्थान से किस गुणस्थान तक क्षायिक सम्यक्त्व होता है :—

क्षायिक सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान से सिद्धों तक पाया जाता है। यह केवली अथवा श्रुत केवली की समीपता के बिना नहीं प्राप्त होता।

चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के ही यह क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होसकता है। ऐसा शास्त्र के पारगामी विद्वानों ने कहा है।

केवली अथवा श्रुत केवली के बिना आत्म-परिणामों में उतनी स्वच्छता नहीं आती। इसलिये क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति में इनकी समीपता अनिवार्य है। भावों की उत्पत्ति मे निमित्तों की कारणता सर्वाभिमत और निर्विवाद है। इस सम्यक्त्व की उत्पत्ति चौथे से सातवें गुणस्थान तक कहीं भी क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के ही हो सकती है और उसका क्रम इस प्रकार है—

पहले अधःकरण, अपूर्व करण और अनिवृत्ति करण इन तीन प्रकार के परिणामों द्वारा मिथ्यात्व के निपेकों को सम्यङ्-मिथ्यात्वरूप परिणमन करे अथवा सम्यक्प्रकृतिरूप परिणमावे या निर्जरा करे—इस प्रकार मिथ्यात्व की सत्ता का नाश करे। फिर सम्यङ्-मिथ्यात्व के निपेको को सम्यक्प्रकृतिरूप परिणमन करे अथवा उनकी निर्जरा करे—इस तरह सम्यङ्-मिथ्यात्व प्रकृति का भी नाश करे। तथा सम्यक्त्वप्रकृति के निपेक उदय आकर अपने आपही खिर जावें अथवा उनकी स्थिति ज्यादा हो तो स्थिति कांडादि द्वारा उसे घटावे। जब घटते घटते उसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र रह जाती है तब वह जीव कृतकृत्य वेदक-सम्यग्दृष्टि कहलाता है और क्रम से इसके निपेकों का नाश करता है। तथा अन्नतानुवन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ के निपेको का विसंयोजन कर उसकी सत्ता का नाश करता है तब क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है। अनन्तानुवन्धी का विसंयोजन यद्यपि द्वितीयोपशम एवं किसी २ क्षायोयशमिक सम्यग्दृष्टि के भी होता है किन्तु ये तो जब मिथ्यात्व में वापिस आते हैं तब फिर इनके अन्नतानुवन्धी की सत्ता का सद्भाव होजाता है; किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि कभी मिथ्यात्व में नहीं आता, इसलिये उसके इसकी सत्ता का कभी सद्भाव नहीं होता।

औपशमिक सम्यक्त्व का स्वरूप

पहले वताई गई सात प्रकृतियों अर्थात् अनन्तानुवन्धी चतुष्टय, मिथ्यात्व, सम्यङ्-मिथ्यात्व और सम्यक्त्व—के दवजाने से उपशम सम्यक्त्व होता है। जिस प्रकार कीचड़ के विलकुल दवजाने से (पैंदे में बैठ जाने से) पानी निर्मल होजाता है उसके रहते हुए भी पानी में कोई विकार नहीं होता उसी तरह उक्त सातों प्रकृतियों के दवजाने से आत्मा के सम्यग्दर्शन नामक शुद्धि उत्पन्न होजाती है। ये दवी

हुई प्रकृतियाँ सम्यक्त्व को रोकने में असमर्थ हैं।

क्षायिक और औपशमिक में भेद

आत्मविशुद्धि की अपेक्षा क्षायिक और औपशमिक सम्यक्त्व में कोई भेद नहीं होता। इन दोनों में अगर कोई भेद है तो यही है कि—एक (औपशमिक) क्षणस्थायी है और दूसरा (क्षायिक) अविनश्वर एवं नित्य है।

उपशम सम्यग्दृष्टि निमित्त मिलने से पुनः प्रथम गुणस्थान मिथ्यात्व को प्राप्त होजाता है अथवा सासादन नामक दूसरे गुणस्थान में चला जाता है या तीसरे मिश्र गुणस्थान में गिरजाता है नहीं तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी बन जाता है। यह सम्यक्त्व पतन शील है।

उपशम का समय पूरा होने पर अगर मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आजाता है तो यह जीव पहले गुणस्थान में चला जाता है। इस उपशम सम्यक्त्व के काल में कम से कम एक समय तथा ज्यादा से ज्यादा छह आवली बाकी रहने पर अनन्तानुबन्धी चतुष्टय में से किसी एक का उदय आजाने पर जीव के सासादन गुणस्थान होजाता है। और मिश्र मोहनीय प्रकृति का उदय यदि होजावे तो तीसरा गुणस्थान होजाता है। यदि सिर्फ सम्यक्प्रकृति उदय में आजावे तो वह क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि बन जाता है।

उपशम सम्यक्त्व के भेद

जैन सिद्धान्त में उपशम सम्यक्त्व के दो भेद कहे गये हैं। एक प्रथमोपशम सम्यक्त्व और दूसरा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। यहाँ संक्षेप से दोनों का ही स्वरूप बतलाया जाता है।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व

अनादि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व गुणस्थान में तीन करणों (अधः करण, अपूर्व करण और अनिवृत्ति करण) के द्वारा दर्शन मोह के उपशम करने से (अनन्तानुबन्धी चतुष्टय के अप्रशस्त और मिथ्यात्व के प्रशस्त उपशम करने से) जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहलाता है। इस प्रथमोपशम सम्यक्त्व में अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ का अप्रशस्त उपशम होता है।

प्रश्न—अप्रशस्त उपशम किसे कहते हैं ?

उत्तर—उपशम के दो भेद हैं—प्रशस्त और अप्रशस्त। करणों के द्वारा उपशम विधान से जो उपशम होता है वह प्रशस्त

उपश ाता है और उदय के अभाव को अप्रशस्त उपशम कहते हैं। अनन्तानुबन्धी का प्रशस्त उपशम नहीं होता, अप्रशस्त ही होता है। मोह की अन्य प्रकृतियों का प्रशस्त उपशम होता है।

अनादि मिथ्यादृष्टि के अनन्तानुबन्धी चतुष्टय और मिथ्यात्व के दबजाने से जो उपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति बतलाई–उसका मतलब यह है कि उसके सम्यक्त्व-रोधक इन पॉच प्रकृतियों की ही सत्ता है। लेकिन एक बार सम्यक्त्व होजाने के बाद पुनः मिथ्यात्व में आजाने पर जब फिर सम्यक्त्व होता है तब किसी के सात प्रकृतियों (अनन्तानुबन्धी चतुष्टय, मिथ्यात्व, सम्यङ्-मिथ्यात्व और सम्यक्) की सत्ता होने के कारण उसे सात प्रकृतियो को दबाना पड़ता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व के समय मिथ्यात्व के जो तीन टुकड़े (मिथ्यात्व, सम्यङ्-मिथ्यात्व और सम्यक्-प्रकृति) हुए थे उनकी जिनके उद्वेलना नहीं हुई–उनके सात प्रकृतियों की सत्ता बनी हुई है। इसलिये इन सात। के दबनेसे.ही उपशम सम्यक्त्व होगा। और जिनके उद्वेलना होकर तीनो प्रकृतियों की फिर एक प्रकृति होगई है उन सादि मिथ्यादृष्टियो के पॉच प्रकृतियों के उपशम से ही उपशम सम्यक्त्व होगा।

इस सब का साराश यह है कि अनादि मिथ्यादृष्टि के तो उक्त पाँच प्रकृतियों के दबने से ही उपशम सम्यक्त्व होता है और सादि मिथ्यात्वी के किसी के पॉच के दबने से और किसी के सात प्रकृतियों के दबने से यह सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

अब सादि मिथ्यादृष्टि–जिसके सात प्रकृतियों के दबने से उपशम सम्यक्त्व होता है–की अपेक्षा उपशम सम्यक्त्व का लक्षण तथा उपशम सम्यक्त्व की स्थिति आदि का वर्णन करते हैं—

मिथ्यात्व गुणस्थान मे करण त्रय (अधः करण, अपूर्वकरण और अनि वृत्तिकरण) से जो सात कर्मों के दबाने से (अनन्तानुबन्धी के अप्रशस्तोपशम और दर्शन मोहनीय के प्रशस्तोपशम से) जो सम्यक्त्व होता है वह प्रथमोपशम सम्यक्त्व है। यह प्रथमोपशम सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक रहता है। उपशम सम्यक्त्व की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र है।

द्वितीयोपशम सम्यक्त्व

सातवें अप्रमत्त गुणस्थान में जब जीव उपशम श्रेणी चढने के सन्मुख होता है तब क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से यह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व होता है। इस द्वितीयोपशम सम्यक्त्व में अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन (अप्रत्याख्यानादि कषाय रूप परिणमन करना) होता है। यहाँ भी करण त्रय द्वारा तीन ही प्रकृतियों (मिथ्यात्व, सम्यङ्-मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति) का उपशम किया जाता है, क्योकि यहाँ तीन ही प्रकृतियों की सत्ता पाई जाती है।

प्रश्न—उपशम किसे कहते हैं ?

उत्तर—अनिवृत्तिकरण में किये गये अन्तरकरण विधान से जो सम्यक्त्व के समय उदय आने योग्य निषेक थे उनको अन्य समय उदय आने योग्य बना देना और अनिवृत्तिकरण में ही किये गये उपशम विधान द्वारा जो उस समय आने योग्य नहीं थे वे उदीरणा रूप होकर उस समय उदय न आसकें—ऐसे बना देना ही उपशम कहलाता है। उपशम में सत्ता तो पाई जाती है पर उदय नहीं होता।

यह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व सातवें अप्रमत्तविरत गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें उपशांत मोह गुणस्थान तक पाया जाता है। और गिरते समय किसी जीव के छठे, पाँचवे, और चौथे गुणस्थान में भी होता है।

क्षयोपशम सम्यक्त्व का स्वरूप

उपशम सम्यक्त्व का काल समाप्त होने पर सम्यक्प्रकृति उदय आजाने से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। यह सम्यक्त्व सादि मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यात्व गुणस्थान से अथवा मिश्र गुणस्थान से भी हो सकता है। इस सम्यक्त्व का धारण करने वाला वेदक सम्यग्दृष्टि जीव वृद्ध पुरुष की लकड़ी के समान शिथिल श्रद्धानी होता है और इसी लिये खोटे हेतु और उदाहरणों के द्वारा शीघ्र ही इस जीव का सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है।

यह सम्यक्त्व चल, मल, और अगाढ दोषों सहित है। अरहंत देवादि में 'यह मेरा है', यह 'अन्य का है'—इस प्रकार समझना कहना चलपना है। शङ्कादि मलों का लगाना 'मलिन पना है'। शांतिनाथ शांति कर्ता हैं—इत्यादि भाव रखना 'अगाढ पना' है। किन्तु यह इन दोषों के उदाहरण मात्र हैं। वास्तव में इस सम्यक्त्व में जो दोष लगता है उसे केवली ही जानते हैं।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का लक्षण

अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ और मिथ्यात्व तथा सम्यक्-मिथ्यात्व के वर्तमान में उदय आने वाले सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदयाभावी क्षय (बिना फल दिये झड़ जाना) और आगामी उदय आने वाले इन्हीं स्पर्द्धकों का सदवस्थारूप उपशम तथा देश घाती सम्यक्प्रकृति के उदय से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। इस सम्यक्त्व के शास्त्रों में दो नाम मिलते हैं। एक वेदक और दूसरा क्षायोपशमिक। सम्यक्प्रकृति के उदय की प्रधानता से तो इसका नाम 'वेदक' है और अवशिष्ट छह प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम की प्रधानता से 'क्षायोपशमिक' सम्यक्त्व कहलाता है।

शास्त्रों में इसका नाम 'कृतकृत्य सम्यग्दृष्टि' भी मिलता है। क्षायिक-सम्यग्दर्शन होते समय जब स्थिति कांडादि द्वारा सम्यक्प्रकृति की स्थिति घटते २ अन्तर्मुहूर्त मात्र रह जाती है तब यह जीव 'कृतकृत्य सम्यग्दृष्टि' कहलाता है।

क्षयोपशम सम्यक्त्व की स्थिति और उसका गुणस्थान

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति कम से कम अन्तर्मुहूर्त और ज्यादा से ज्यादा छियासठ सागर की है। यह सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक पाया जाता है।

सम्यक्त्व के नौ भेद

सम्यक्त्व के नौ भेद भी होते हैं और वे इस प्रकार हैं—क्षायिक का एक भेद, उपशम का एक भेद, क्षायोपशमिक के तीन भेद और वेदक सम्यक्त्व के चार भेद। क्षायिक और औपशमिक सम्यक्त्व का वर्णन तो पहिले किया जा चुका है। अब क्षायोपशमिक के जो तीन भेद बतलाये हैं उनका वर्णन किया जाता है।

क्षयोपशम के तीन भेद

दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों के उपशम से तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ के क्षय से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का पहला भेद होता है। और अनन्तानुबन्धी चतुष्टय और मिथ्यात्व, इन पांचों के क्षय तथा मिश्र(सम्यङ्-मिथ्यात्व) और सम्यक्प्रकृति के उपशम से क्षायोपशमिक का दूसरा भेद होता है। अनन्तानुबन्धी चतुष्टय, मिथ्यात्व और मिश्र—इन छह के क्षय से और सम्यक्प्रकृति के उपशम से क्षायोपशमिक का तीसरा भेद बताया गया है।

वेदक सम्यक्त्व के चार भेद

अनन्तानुबन्धी चतुष्टय के क्षय से,मिथ्यात्व और सम्यक्-मिथ्यात्व के उपशम से तथा सम्यक्प्रकृति के उदय से वेदक सम्यक्त्व का पहला भेद होता है।

अनन्तानुबन्धी चतुष्टय और मिथ्यात्व के क्षय से,मिश्र मोहनीय (सम्यङ्-मिथ्यात्व) के उपशम से तथा सम्यक्प्रकृति के उदय से वेदक सम्यक्त्व का दूसरा भेद होता है।

छह प्रकृतियों के क्षय और सम्यक्प्रकृति के उदय से वेदक सम्यक्त्व का तीसरा भेद होता है।

छह् प्रकृतियों के उपशम से तथा सम्यक्प्रकृति के उदय से वेदक सम्यक्त्व का चौथा भेद होता है।

इस प्रकार सम्यक्त्व के नव भेद समझने चाहिये। अब आज्ञादि भेद से सम्यक्त्व के दश भेदों का वर्णन करते हैं:—

सम्यक्त्व के आज्ञादि दश भेद

आज्ञा, मार्ग, उपदेश, बीज, सूत्र, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ और परमावगाढ इस तरह सम्यक्त्व के दश भेद भी होते हैं। इनमें प्रारम्भ के आज्ञादि आठ भेद तो हेतु की अपेक्षा से और अन्त के दो भेद अवगाढ और परमावगाढ ज्ञान की अपेक्षा से हैं।

आज्ञा—सम्यक्त्व

वीतराग सर्वज्ञ कभी अन्यथावादी नहीं होते। उन्होंने जो कुछ कहा है वह ठीक है। ऐसे दृढ निश्चय से जो सम्यक्त्व होता है उसे 'आज्ञा सम्यक्त्व' कहते हैं।

जिनेन्द्र भगवान ने दो तरह के तत्वों का वर्णन किया है-प्रत्यक्ष और परोक्ष। ये दोनों भी प्रयोजन—भूत और अप्रयोजन—भूत के भेद से दो प्रकार के हैं। इन में जो जीवादि सातों तत्व प्रयोजन भूत हैं उनके सम्बन्ध में तो मनुष्य को परीक्षा प्रधानी ही होना चाहिये। क्योंकि परीक्षा प्रधानी हुए बिना श्रद्धा में दृढता नहीं आती। अप्रयोजन भूत तत्वों की परीक्षा न हो तो भी आत्मा की कोई हानि नहीं होती। इसलिये ऐसे प्रत्यक्ष व परोक्ष पदार्थों के सम्वन्नध में आज्ञा प्रधानी होना ही अधिक अच्छा है। भगवान के आगम में जो कुछ कहा है वह ठीक है—इस तरह उनकी आज्ञा को प्रमाण करने से जो श्रद्धा उत्पन्न होती है वह आज्ञा—सम्यक्त्व कहलाता है। पर आज्ञा सम्यक्त्व का मतलब भगवान की आज्ञा मानना ही नहीं है; किन्तु उस आज्ञा से जो तत्व प्रतीति होती है वह सम्यक्त्व है।

मार्ग-सम्यक्त्व

चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद, नपुंसकवेद, मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया और लोभ) और दश प्रकार के बहिरङ्ग (क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य, और भाण्ड) परिग्रहों से रहित महर्षियो को निर्ग्रन्थ कहते हैं। उनका आचरण ही निर्ग्रन्थ—मार्ग कहलाता है। वे पवित्रता की मूर्ति हैं। वे साक्षात् सम्यक्त्व हैं। उन्हें भक्ति पूर्वक अवलोकन करने से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह 'मार्ग—सम्यक्त्व' है।

अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनो ही तरह के परिग्रह आत्मा का पतन करने वाले हैं। इनके रहते हुए कोई आत्मा ऊँचा नहीं उठ सकता। इसलिये स्वपर के उत्थान में परिग्रही जीवों के जीवन से कोई मदद नहीं मिल सकती। किन्तु जिन्होंने इन दोनों परिग्रहों को छोड़ दिया है, उनके दर्शन मात्र से ही जीवों का कल्याण होना सम्भव है। इसी लिये निर्ग्रन्थ मार्ग के अवलोकन को सम्यक्त्व उत्पन्न होने का कारण बतलाया है।

उपदेश सम्यक्त्व

तीर्थंकर आदि महापुरुषो के पवित्र चरित्र सुनने से जो सम्यक्त्व होता है वह 'उपदेश दृष्टि' या उपदेश-सम्यक्त्व है।

महापुरुषों के जीवन चरित्रों का मनुष्य पर विलक्षण प्रभाव पड़ता है। वह पतन की ओर से हट कर उत्थान की ओर अग्रसर हो जाता है। वह अपने जीवन मे उनके जीवन को उतारना चाहता है। इसीलिये प्रथमानुयोग के पुराण चरित्र आदि ग्रन्थों के अध्ययन करने का आचार्यों ने उपदेश दिया है और उनके निर्माण का भी यही उद्देश्य है कि यह मनुष्य बुराइयों को छोड़ कर भलाइयों की ओर ऋजु हो। अमुक महापुरुष ने किस तरह आत्मत्व प्राप्त कर अपने जीवन को सफल बनाया यह जान कर कोई भी मुमुक्षु भेद विज्ञानी बन सकता है। इस तरह तीर्थंकरादि महापुरुषों के चरित्रोपदेश से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है—उसे 'उपदेश-सम्यक्त्व' कहते हैं।

सूत्र सम्यक्त्व

मुनियो के आचरण का सांगोपांग वर्णन करने वाले आचाराग सूत्र को अथवा मूलाचारादि आचार-प्रतिपादक ग्रन्थों को सुनने या अध्ययन करने से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है आचार्यों ने उसे 'सूत्र सम्यक्त्व' कहा है।

किस प्रकार चलना चाहिये? किस प्रकार खड़े रहना चाहिये? किस प्रकार बैठना चाहिये? किस प्रकार शयन करना चाहिये? किस प्रकार भोजन करना चाहिये? किस प्रकार भाषण करना चाहिये और किस प्रकार आचरण करने से पाप कर्म नहीं बन्धता है? ऐसे प्रश्न होने पर उनके अनुसार यह कहा जाय कि यत्न से चलना चाहिये, यत्न से खड़े रहना चाहिये, यत्न से बैठना चाहिये, यत्न से शयन करना चाहिये, यत्न से भोजन करना चाहिये, यत्न से भाषण करना चाहिये, इस प्रकार आचरण करने से पाप कर्म का बन्ध नहीं होता। इत्यादि रूप से आचाराग सूत्र में मुनियो के आचरण का वर्णन है। इसके सुनने से मुनि-जीवन की महत्ता हृदय पर अंकित होती है। मुनि भेद-विज्ञान के मूर्तिमान आकार हैं। अतःइनके महान जीवन-क्रम को सुनकर भेद विज्ञान हो जाना सम्भव है। यही आपा पर भेद विज्ञान 'सूत्र-सम्यक्त्व' है।

बीजज सम्यक्त्व

सम्पूर्ण सिद्धान्तो के विभिन्न सारांशो को 'बीज' कहते हैं। बीज सिद्धांत के सूचक होते हैं। जैसे मन्त्रों में बीजाक्षर होते हैं

और वे ही सम्पूर्ण मन्त्रें की सूचना कर देते हैं वैसे ही सिद्धान्त के भी विभिन्न सूचक होते हैं। उदाहरणार्थ जैन सिद्धान्त का सूचक 'स्याद्वाद' है, साख्य सिद्धान्त का सूचक 'सत्कार्यवाद' है। ये सूचक ही इन दो सिद्धान्तों के बीज हैं। इसीलिये 'पुरुपार्थ-सिद्धयुपाय' में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने स्याद्वाद को 'परमागम का बीज' कहा है। ऐसे बीज ज्ञान के निमित्त से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह 'बीजज-सम्यक्त्व' कहलाता है।

अथवा बीज का मतलब है गणितज्ञान का कारण। प्रखर गणित ज्ञान से जो मोहनीय कर्म का उपशमादि होता है उसे बीजज-सम्यक्त्व कहते हैं।

रेखा, अङ्क और बीज के भेद से तीन प्रकार का गणित है। यहाँ बीज शब्द उपलक्षण है। उससे तीनो ही प्रकार के गणित लेने चाहिये। गणित के अध्ययन से मन एकाग्र हो जाता है, मन मे एकस्थ होने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इसी लिये गणितज्ञ अच्छे विचारक होते हैं। मन को एकाग्र करने के जो साधन हैं वे ही सम्यक्त्व के साधन भी हो सकते हैं। जब गणित के द्वारा होने वाली मन की एकाग्रता से सम्यक्त्व उत्पन्न होजाय तब उसे 'बीजज सम्यक्त्व' कहते हैं।

जैनाचार्यों ने द्रव्यो को छोटा और बड़ापन, उनके गुणो की तीव्रता और मन्दता एवं काल द्रव्य के परिमाण वगैरह का वर्णन गणित के द्वारा ही किया है। पर यह गणित लौकिक गणित नहीं, किन्तु अलौकिक गणित है। गणित का ऐसा वर्णन संसार के किसी भी साहित्य मे नहीं मिलता। इस अलौकिक गणित का स्वरूप लौकिक-गणित से बहुत कुछ विलक्षण है। लौकिक गणित से स्थूल पदार्थों का नाप किया जाता है, पर अलौकिक-गणित से सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अनन्त पदार्थों की हीनाधिकता का ज्ञान होता है।

इस अलौकिक-गणित के मुख्य भेद दो हैं—सख्यामान और उपमानमान। संख्यामान के मुख्य भेद तीन हैं। सख्यात, असंख्यात और अनन्त। असख्यात के तीन भेद हैं—परीतासंख्यात, युक्तासख्यात और असंख्यातासंख्यात। अनन्त के भी इसी तरह तीन भेद हैं—परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त और संख्यात का एक भेद, इस तरह सब मिलाकर सात भेद हुए। इन सातो के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से २१ भेद सख्यामान के होते हैं।

उपमानमान आठ प्रकार का होता है—१ पल्य, २ सागर, ३ सूच्यंगुल, ४ प्रतरांगुल ५ घनांगुल ६ जगत् श्रेणी ७ जगत्प्रतर और ८ लोक।

हमने यहाँ केवल सूचनार्थ अलौकिक-गणित के भेदो के नाम मात्र गिनाये हैं। इनका स्वरूप गोमट्टसार की टीकाओ में पूर्ण विस्तार के साथ लिखा है, वहाँ से देखना चाहिये। ऐसा आश्चर्य कारक गणित का वर्णन केवल यहाँ ही मिलता है। इसके पठन पाठन विचार आदि से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह बीजज-सम्यक्त्व है।

संक्षेप–सम्यक्त्व

देवशास्त्रगुरु और पदार्थों के संक्षेप ज्ञान से जो श्रद्धान होता है उसे 'संक्षेप–सम्यक्त्व' कहते हैं।

पदार्थों का ज्ञान संक्षेप और विस्तार दोनों ही प्रकार से होता है। कई जीव संक्षेप–ज्ञान से ही उतना प्रयोजन निकाल लेते हैं जितना विस्तार–ज्ञान से निकलता है। ऐसी बात नहीं है कि केवल विस्तृत ज्ञान ही वास्तविक प्रयोजन को सिद्ध करता है। योग्य व्यक्ति संक्षेप–ज्ञान से भी अन्तिम निष्कर्ष निकाल लेता है। "तुसमासं घोसन्तो सिवभूदी केवली जादो"—अर्थात् जिस प्रकार उड़द अपने छिलके से अलग है उसी प्रकार शरीर आत्मा से भिन्न है, इस तरह विचार करता हुआ शिवभूति केवली होगया। द्वादशांग के विस्तृत ज्ञान का फल जो आत्म–विवेक है वह शिवभूति को कितने संक्षिप्त ज्ञान के द्वारा मिलगया। वास्तव में यथार्थ अर्थात् प्रयोजन भूत ज्ञान ही उपयोगी है फिर चाहे वह संक्षिप्त हो या विस्तृत। दोनों ज्ञानो का उपयोग तो एक है। अगर वास्तविक फल का साधक न हो तब तो विस्तृत ज्ञान भी व्यर्थ ही है।

विस्तार–सम्यक्त्व

द्वादशांग–चौदह पूर्व और प्रकीर्णकों के सुनने से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है उसे आचार्य 'विस्तार–सम्यग्दर्शन' कहते हैं।

प्रश्न—द्वादशांग के जानने वाले का सम्यक्त्व तो 'अवगाढ–सम्यक्त्व' कहलाता है। फिर यहाँ उसे विस्तार–सम्यक्त्व कैसे कहा?

उत्तर—जिसको द्वादशांग का ज्ञान है वह तो सम्यग्दृष्टि है ही। क्योंकि सम्यक्त्व के विना द्वादशांग का ज्ञान नहीं होता। इसलिये द्वादशांग के ज्ञाता का सम्यक्त्व विस्तार–सम्यक्त्व नहीं है क्योंकि उसे तो आगे अवगाढ सम्यक्त्व कहने वाले हैं। विस्तार सम्यक्त्व तो उसे कहते हैं जो द्वादशांग के ज्ञाता से द्वादशांग सुनने से होता है। द्वादशांग का सुनने वाला द्वादशांग का ज्ञाता हो, ऐसी बात नहीं।

अर्थ–सम्यक्त्व

आगम–वाक्य के विना किसी भी पदार्थ का निमित्त पाकर जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है उसे आचार्य 'अर्थ सम्यक्त्व' कहते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि शिवभूति मुनि 'तुषमाष' को घोखते हुए केवली हो गये। यद्यपि 'तुषमाष' कोई आगम–वाक्य नहीं है फिर भी इसके द्वारा उन्हें आत्म–ज्ञान होगया। उड़द की दाल एक प्रकार का पदार्थ है। उसे देख कर जो उन्हें जो आत्म–विवेक हुआ उसे 'अर्थ सम्यक्त्व' कह सकते हैं। बादल वगैरह क्षण भंगुर पदार्थों को देख कर भी आत्म–ज्ञान बहुतों को हुआ है। वास्तव में संसार का प्रत्येक

पदार्थ हमारे गहरे विचार का विषय बनकर सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण बन सकता है। इसका मतलब यह है कि सम्यक्त्व उत्पन्न होने के लिये आगम वाक्य ही अपेक्षित नहीं है। किसी भी पदार्थ के वास्तविक-ज्ञान से वह उत्पन्न हो सकता है। इसी लिये विद्वानों ने कहा है कि एक भी पदार्थ को जिसने पूरा जान लिया उसने सब कुछ जान लिया।

प्रश्न—अगर कोई भी पदार्थ सम्यक्त्व की उत्पत्ति मे कारण हो सकता है तब तो पत्थर वगैरह को भी उसकी उत्पत्ति का कारण मान लेना चाहिये।

उत्तर—अगर पत्थर का निमित्त पाकर किसी को भेद-विज्ञान, आत्म-विवेक होजाय तो उसे भी सम्यक्त्व का कारण माना जा सकता है। कहने का मतलब यह नहीं है कि प्रत्येक पदार्थ सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण होता ही है। अगर कोई पदार्थ कारण होसके तो वह सम्यक्त्व 'अर्थ-सम्यक्त्व' कहलावेगा।

अवगाढ और परमावगाढ सम्यक्त्व

श्रुतकेवलियो के जो सम्यक्त्व होता है उसे 'अवगाढ-सम्यक्त्व' और केवलियों के सम्यग्दर्शन को 'परमावगाढ-सम्यक्त्व' कहते हैं।

प्रश्न—क्या श्रुतकेवली और केवलियों के सम्यक्त्व मे कोई वास्तविक भेद है?

उत्तर—उनके सम्यक्त्व मे कोई भेद नहीं है। दोनों ही क्षायिक-सम्यग्दृष्टि हैं। क्षायिक-सम्यक्त्व मे कोई भेद नहीं होता। सम्यक्त्व की अपेक्षा से तो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती क्षायिक-सम्यग्दृष्टि और केवली समान ही हैं। और तो क्या संसारी और सिद्धों के क्षायिक-सम्यक्त्व मे भी कोई भेद नहीं है। अवगाढ और परमावगाढ का भेद तो केवल ज्ञान की अपेक्षा से है—यह पहले ही कहा जा चुका है।

सम्यग्दृष्टि के आठ गुण

संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, भक्ति, उपशम, वात्सल्य और जीव-दया ये सम्यक्त्व के आठ गुण हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टि-जीव मे ये गुण अवश्य होते हैं।

संसार अथवा संसार के कारण पाप से डरने को 'संवेग' कहते हैं। संसार देह और भोगो से विरक्त होना 'निर्वेद' कहलाता है। अपने पापों की अपने मनमे स्वयं ही निन्दा करना 'निन्दा' है। अपने पापों की प्रकटरूप से निन्दा करना 'गर्हा' है। कषायो के दबने को

'उपशम' कहते हैं। अरहंतादि पूज्य व्यक्तियों में अनुराग रखना 'भक्ति' है। धर्मात्माओं में निष्कपट प्रेम रखना 'वात्सल्य' है। प्राणीमात्र की दया पालन करना 'जीवदया' है।

प्रश्न—निःशङ्कित आदि सम्यक्त्व के आठ गुणों और इन गुणों में क्या भेद है?

उत्तर—वे सम्यक्त्व के गुण नहीं किन्तु अङ्ग हैं। सम्यक्त्व के उत्पन्न होजाने के बाद आत्मा में ये गुण प्रकट होजाते हैं और ये आत्मा को चारित्र की ओर लेजाने वाले हैं। इन गुणों का सम्यक्त्व के साथ वैसा अविनाभाव नहीं है जैसा अङ्गों का होता है।

प्रश्न—निन्दा और गर्हा मे श्रेष्ठ कौन है।

उत्तर—निन्दा की अपेक्षा गर्हा का दर्जा ऊँचा है; क्योंकि दूसरों के सामने अपने पापों को प्रकट करने में अधिक आत्मबल की आवश्यकता है।

पच्चीस मलदोष

पच्चीस मल दोष रहित सम्यक्त्व ही पूजा करने योग्य बतलाया गया है। क्योंकि जब तक इसमें एक भी दोष रहता है तब तक सम्यक्त्व मे पूरी निर्मलता नहीं आती। इसलिये इन दोषों को नष्ट करने की कोशिश करते रहना चाहिये। पच्चीस दोषों के नाम ये हैं—

कुल, जाति, रूप, ज्ञान, धन, बल, तप और प्रभुता ये आठ मद, शङ्कादि आठ मल, तीन मूढताएँ और कुगुरु, कुदेव, कुधर्म तथा इन तीनों के सेवक, इस तरह छह अनायतन—कुल मिलाकर ये सम्यक्त्व के पच्चीस दोष होते हैं।

किसी वस्तु का घमंड करना मद कहलाता है। जिस कुल में मनुष्य उत्पन्न हुआ है उस कुल (पितापक्ष) का गर्व करना कि मेरा कुल सबसे अच्छा है, मैं उच्च कुल मे पैदा हुआ हूँ, कोई मेरी बराबरी नहीं कर सकता आदि विचार 'कुल मद' के द्योतक हैं। इसी तरह जिस जाति (मातृपक्ष) में उत्पन्न हुआ हो उस जाति का गर्व करना, अपने को उच्च जाति का मान कर औरों को घृणित दृष्टि से देखना, 'जाति मद' कहलाता है। इसी तरह रूप, ज्ञान, धन, शक्ति, तपस्या, और प्रभुता का मद भी होता है। परन्तु सम्यग्दृष्टि के ये मद तनिक भी नजदीक नहीं फटकते। वह अपने कुल आदि का घमंड नहीं करता।

सम्यग्दर्शन के आठ अङ्गो जिनका आगे वर्णन (करेंगे) ठीक उलटे शङ्कादि आठ दोष समझने चाहिये। देव-मूढता, गुरु

मूढता और लोक मूढता इन तीनो मूढताओं का स्वरूप पहले वर्णन किया जा चुका है। कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र तथा इन तीनों के मानने वाले छह अनायतन कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टि न इनको मानता है और न इनकी प्रशंसा करता है।

इस तरह उक्त पच्चीस दोष सम्यग्दृष्टि के नहीं होते।

आत्मा में धर्म का अंकुर सम्यक्त्व से ही उगता है। इस कारण सम्यग्दर्शन सबसे अधिक महत्वशाली भाव है। सम्यक्त्व के बिना ज्ञान, चारित्र आत्मा का कल्याण नहीं कर पाते। इसी कारण आत्मा का सबसे अधिक हितकर सम्यग्दर्शन है और सबसे बड़ा शत्रु मिथ्यात्व है।

इस तरह यहां संक्षेप में सम्यक्त्व का वर्णन किया गया है। इसका स्वयं आचरण करना व दूसरे से आचरण करवाना ही सम्यग्दर्शनाचार कहलाता है। सम्यग्दर्शन का उक्त वर्णन भावना-विवेक नामक ग्रन्थ से लिया गया है। इसका विशेष विवेचन आगे सागार प्रकरण में किया जावेगा।

सम्यग्ज्ञानाचार

सम्यग्दर्शनाचार का वर्णन करने के बाद अब सम्यग्ज्ञानाचार का वर्णन करते हैं। सम्यग्दर्शन ही ज्ञान में सचाई लाता है इसलिए सम्यग्दर्शनाचार का वर्णन पहले किया गया है और अब इसके बाद में ही सम्यग्ज्ञानाचार का वर्णन करना उचित है।

प्रश्न—ज्ञान पहले होता है और श्रद्धान इसके बाद। इसलिए पहले ज्ञानाचार और फिर दर्शनाचार का वर्णन होना चाहिए; क्योंकि जाने बिना श्रद्धान कैसे हो सकेगा ?

उत्तर—यह ठीक है कि ज्ञान पहले होता है पर उसमें सचाई पहले नहीं आती-ज्ञान में सचाई तो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होजाने के कारण ही आती है। इसलिए पहले सम्यग्दर्शन का वर्णन करना ही न्याय-प्राप्त है।

सम्यग्ज्ञान की अपार महिमा है। ज्ञान के समान कोई पवित्र वस्तु जगत में नहीं है। ज्ञान ही कर्मों के नाश का कारण है। सम्यग्ज्ञान बिना सम्यक् चारित्र कभी नहीं हो सकता। इसलिए सम्यग्दर्शन की तरह सम्यग्ज्ञान भी आराधना करने योग्य है।

ज्ञान स्वयं ही अपना फल है। वह किसी और फल की अपेक्षा नहीं करता। जो मनुष्य ज्ञान की आराधना में अपना जीवन खपाता है वह धन्य है। यथार्थ ज्ञान की परीभाषा करते हुए मूलाचार में श्री वट्टकेर स्वामी ने कहा है :—

जेण तच्चं विबुज्झेज, जेण चित्तं णिरुज्झदि ।
जेण अत्ता विसुज्झेज तं णाणं जिणसासणे ॥ ७० ॥ मू० ॥ पंचा ॥

अर्थ—जिससे वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाना जा सके, जिससे मन विषयों में जाता हुआ रुक जाय, जिससे अपनी आत्मा-शुद्ध होजाय, जिन शासन मे वही ज्ञान माना गया है।

ज्ञान के भेद

ज्ञान के ५ भेद माने गये हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल। इनमें आदि के तीन ज्ञान मिथ्यात्व के निमित्त से मिथ्या ज्ञान होजाने के कारण कुज्ञान कहलाने लगते हैं। इस तरह इन पांचो ज्ञानों मे कुमति, कुश्रुत और कुअवधि इन तीन मिथ्याज्ञानों के मिला देने के कारण ज्ञान के आठ भेद भी होजाते हैं। अवशिष्ट दो ज्ञान मनःपर्यय और केवल मिथ्यात्वी के नहीं होसकते। इस लिए कुज्ञान तीन ही है।

प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से यह पांचों ज्ञान दो प्रकार के हैं। पदार्थ को स्पष्ट जानने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष और अस्पष्ट जाना वाले को परोक्ष कहते हैं। आदि के दो ज्ञान परोक्ष और शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं, विकल और सकल। जो मूर्त पदार्थों की कुछ पर्यायों को स्पष्ट जाने उसे विकल प्रत्यक्ष कहते हैं, और जो सम्पूर्ण पदार्थों की समस्त पर्यायों को एक साथ स्पष्ट जाने, उसे सकल प्रत्यक्ष कहते है। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान विकल प्रत्यक्ष और केवल ज्ञान सकल प्रत्यक्ष है।

सामान्य रूप से ज्ञान एक ही प्रकार का है, किन्तु उसके पर्याय की अपेक्षा ये भेद किये गये हैं। इनमें से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये चार क्षायोपशमिक ज्ञान हैं। क्योंकि ज्ञानावरण और वीर्यान्त राय कर्म के उदयागत सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदयाभाव क्षय, (बिना रस दिये ही खिर जाना) तथा आगामी उदय आने वाले सर्वघाती स्पर्द्धकों का सदवस्था रूप उपशम एवं देशघाती स्पर्द्धकों का उदय होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे क्षायोपशमिक ज्ञान कहते हैं। ये चारों ज्ञान उक्त प्रकार से सर्वघाती स्पर्द्धकों के क्षय तथा उपशम से होते हैं, अतः इन्हें क्षायोपशमिक ज्ञान कहते हैं।

इन चारों ज्ञानों में जिस ज्ञान के आवरण कर्म के सर्वघाती स्पर्द्धकों का क्षयोपशम होजाय, वही ज्ञान प्रकट होजाता है। अतः ये चारों ज्ञान क्षायोपशमिक हैं। और ज्ञानावरण कर्म का अत्यन्त क्षय होजाने पर केवल ज्ञान प्रकट होता है, इसलिये यह ज्ञान क्षायिक है।

मिथ्याज्ञानों का स्वरूप

अब मिथ्याज्ञान की उत्पत्ति, कारण, स्वरूप, स्वामी और भेदों का वर्णन करते हैं। जैसा कि पहले कह आये हैं मतिज्ञान,

श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान ये तीनों ज्ञान मिथ्याज्ञान हैं, क्योंकि ये मिथ्यात्व के उदय सहित होते हैं। जैसे कडुवी तूम्बी में भरा हुआ दूध भी कडुवा होजाता है, वैसे ही ये तीनों ज्ञान मिथ्यात्वोदय के सम्बन्ध से दूषित होजाते हैं। इसलिये कुज्ञान कहलाते हैं। इनका स्वरूप निम्न प्रकार है।

कुमति–ज्ञान

परके उपदेश बिना, तेल कर्पूर आदि के संयोग से जन्तु–मारण–शक्ति उत्पन्न करना अर्थात् विष बनाना, व्याघ्र सिंह आदि हिंसक जीवों को पकड़ने के लिये काठ का ऐसा यंत्र बनाना, जिसके भीतर बकरे आदि प्राणी बांध दिये जावें और उनको खाने के लिये सिंहादि के अन्दर घुसते ही किवाड़ लग जावें। इसी तरह मच्छ, कछुवा, चूहा इत्यादि को पकड़ने के लिये काठ आदि का कूट बनाना, तीतर, हिरण आदि को पकड़ने के लिये जाल पींजरा बनाना, ऊंट और हाथी को पकड़ने के लिये धोखे के खड्डे (कपट गर्त) बनाना, पक्षियों के पकड़ने के लिये बड़े बांसों का लहासा बनाना, एवं दूसरों को ठगने, पर द्रव्य तथा परस्त्री को हरने, पराये जीवों को मारने धन को चोरने, अन्य भोले जीवों की आजीविका,जमीन, मकान को लेने, अन्य का अपमान करने, न्यायालय में सत्यवादी को झूठा और झूठे को सच्चा करने, पर के दूषण लगाने, धर्मात्मा के चोरी लगाने, अन्याय से धर्मात्माओं को दूषण लगाने, कुदेव में देव–बुद्धि करने, पाखण्डियों को पुजवाने, स्वयं पापी पाखण्डी होकर स्वयं की प्रशंसा कराने,हिंसा,झूठ,चोरी,कुशील, परिग्रह बढ़ाने आदि पापों के लिये दुःप्रवृत्ति करना। कुमति ज्ञान है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति, तथा त्रस इन छह काय के जीवों का घात करना, नगर ग्राम आदि को दग्ध करना, देश, ग्राम, गृहवालों में विरोध या कलह करना या कराना,तथा शत्रु की सेना को विध्वंस करने के लिये शस्त्र,अग्नि,विष–फोटक गम गैस आदि पदार्थों का बनाना, पाखण्ड तथा मायाचारी करना आदि सभी कुमति ज्ञान हैं।

कुश्रुत ज्ञान

परके उपदेश से ऐसी कुबुद्धि उत्पन्न होना, जैसे चोरी, व्यभिचार में प्रवृत्ति कराने वाले, राग बढ़ाने वाले, विग्रह–कलह उत्पन्न करने वाले, संग्राम–चातुर्य–वर्द्धक, रस–राग–पोषक, पर जीवों की हिंसा में प्रवृत्ति कराने वाले शास्त्रों की रचना या इसी तरह यन्त्र शास्त्रों का निर्माण करना, मिथ्या दर्शन से दूषित एवं सर्वथा एकान्तवाद की पुष्टि करने वाले मनःकल्पित शास्त्रों की रचना करना, हिंसा–वर्द्धक व्याख्यान देना, हिंसामय तप की प्रशंसा करना आदि कुश्रुत ज्ञान हैं। भगवान की भुजा से क्षत्रिय, मुख से ब्राह्मण, हृदय से वैश्य, तथा जंघा से शूद्र की उत्पत्ति हुई है–इस प्रकार असंभव को संभव तथा संभव को असंभव बताने वाले ग्रन्थों का निर्माण करना भी कुश्रुत ज्ञान ही है।

कुअवधि ज्ञान

यह अवधि ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा को लिये

हुए रूपी द्रव्य को विषय करता है। मिथ्या दर्शन के उदय के साथ रहने के कारण यह ज्ञान कुअवधि कहलाता है। आप्त आगम और पदार्थ को विपरीत ग्रहण करने वाला यह कुअवधिज्ञान चारों गतियों मे पाया जाता है। मनुष्य और तिर्यञ्चगति में तीव्र काय क्लेश तप एवं द्रव्य संयम का पालन करने से उत्पन्न होता है। अतः इसे गुणप्रत्यय कहते हैं।

देव और नारकियों के जन्म के साथ उत्पन्न होता है इसलिये यह भवप्रत्यय होता है। जो जीव देव और नारकियों का भव धारण करेगा, उसके अवधिज्ञान अवश्य होगा। लेकिन मिथ्यादृष्टि जीव का अवधिज्ञान मिथ्यात्व के प्रभाव से कुअवधि कहलाता है। यह ज्ञान मिथ्यात्वादिक कर्मों के बन्ध का कारण है। सम्यग्दृष्टि के यही ज्ञान सम्यक् अवधिज्ञान कहलाता है। जब किसी जीव को नरकादि गति में पूर्व जन्म के पाप कर्म के फल से तीव्र दुःख की वेदना होती है तो उसके ऐसा विचार होता है कि मैंने पूर्व जन्म में हिंसादि पाप कर्मों का आचरण किया, तथा सप्त व्यसन का सेवन किया, उनके फल से नरक के दुख भोगने पड़े। इस प्रकार अपने पाप की आलोचना करने वाले जीव के सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान का सद्भाव समझना चाहिये।

मतिज्ञान के चार भेद और उनका स्वरूप

मतिज्ञान के मूल चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणा। पदार्थ और इन्द्रियों के ग्रहण करने योग्य स्थान पर अवस्थित होने के बाद जो पदार्थ की सत्तामात्र का प्रतिभास होता है, उसे दर्शन कहते हैं। इसमें पदार्थ का संस्थान (आकार) वर्ण आदि प्रतिभास नहीं होता; इसलिए इसे निर्विकल्प उपयोग कहते हैं। यह चक्षु से होता है तब इसे चक्षुदर्शन कहते हैं, और जब स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रोत्र और मन से होता है तब इसे अचक्षुदर्शन कहते हैं।

दर्शन के अनन्तर ही वस्तु के संस्थान (आकार) वर्ण आदि का जो विशेष ज्ञान होता है, उसे अवग्रह कहते हैं। जैसे—यह श्वेत है, यह मनुष्य है, यह वृक्ष है इत्यादि।

अवग्रह से जाने हुए पदार्थ को विशेष जानने की इच्छा को ईहा ज्ञान कहते हैं। जैसे—श्वेत पदार्थ ध्वजा होना चाहिए, बक पंक्ति होना चाहिए, यह मनुष्य दक्षिण देश का होना चाहिए, यह वृक्ष बड़ होना चाहिए, इस प्रकार निश्चय की ओर झुकता हुआ ज्ञान ईहा ज्ञान कहलाता है।

शङ्का—ईहा ज्ञान में पदार्थ का निश्चय नहीं होता, अतः यह ज्ञान संशयात्मक होने से मिथ्याज्ञान है; क्योंकि संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय ये तीनो मिथ्याज्ञान माने गये हैं।

समाधान—ईहा ज्ञान-संशयात्मक नहीं है; क्योंकि यह अनेक पक्षों का अनिश्चयात्मक ज्ञान नहीं है। जो अनेक पक्षों का स्पर्श करने वाला ज्ञान है वह संशयज्ञान है; जैसे यह मनुष्य है या पेड़ है इत्यादि। ईहा ज्ञान एक ही पदार्थ को विषय करता है और निश्चय की ओर झुकता हुआ है। यह ज्ञान संशय को दूर करने वाला है, और जिसका आगे पूर्ण निश्चय होने वाला है, उसी को विषय करता है। जैसे श्वेत पदार्थ यदि ध्वजा है तो उसे ध्वजा होना चाहिए, और यदि बक पंक्ति है तो उसे बक पंक्ति होना चाहिए-इस प्रकार विषय करता है। अनेक पक्षों में झूलता हुआ ज्ञान न होने से यह संशय नहीं है।

ईहा से जाने हुए पदार्थ का निश्चय रूप जो ज्ञान होता है, उसे अवाय कहते हैं। जैसे यह ध्वजा ही है। यह बक पंक्ति ही है। यह दाक्षिणात्य ही है। यह बड़ का वृक्ष ही है इत्यादि। यह निर्णयात्मक ज्ञान होता है।

अवाय से जाने हुए पदार्थ को कालान्तर मे नहीं भूलने की जो योग्यता उत्पन्न होती है, उसे धारणा कहते हैं। इसके न होने पर और पूर्व के तीनों अवग्रह ईहा अवाय ज्ञान के होने पर भी वस्तु का स्मरण नहीं होता है। इसके होने पर आत्मा में ऐसा संस्कार जम जाता है; जिससे स्मरण ज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिए यह स्मृति ज्ञान का कारण है।

इसका खुलासा यह है कि जब विषय और इन्द्रिय ये दोनों ठीक २ स्थान पर होते हैं, तब सत्तामात्र का निर्विकल्प प्रतिभास होता है, इसे दर्शन कहते हैं और इसके बाद ही पहले पहल जो वस्तु का विशेष ज्ञान होता है, वह अवग्रह ज्ञान है। अवग्रह से जाने हुए पदार्थ में विशेष जानने की जो इच्छा होती है, वह संशय को दूर करते हुए निश्चय की ओर झुकती हुई होती है, उसे ईहा ज्ञान कहते हैं। अवग्रह से वृक्ष का ज्ञान हुआ था और ईहा ने उसे यह वृक्ष बड़ का होना चाहिए, ऐसा जानकर संशय को दूर करते हुए निर्णय के सम्मुख किया है। अवाय ने उसके पत्ते आदि को देख कर 'यह बड़ ही है' ऐसा निश्चय रूप दिया तथा धारणा ने आत्मा में ऐसा संस्कार उत्पन्न किया जिससे आत्मा भविष्य में उस (बड़) का स्मरण कर सके। उक्त चारों ज्ञानों के बारह २ भेद हैं, वे निम्न प्रकार हैं—

अवग्रहादि ज्ञानों के भेद

बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम्। तत्त्वार्थ सूत्र ।१। १६ ॥

बहु, अल्प या एक-दो, बहुविध, एकविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, अनिःसृत, निःसृत, अनुक्त, उक्त, ध्रुव और अध्रुव-इस प्रकार पदार्थ के बारह भेद होते हैं। इनका अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ज्ञान होता है।

बहु—बहुत पदार्थों का अवग्रहादि होना। जैसे बहुत सी गायों में कोई काली, कोई पीली, कोई खंडी, कोई मुंडी, कोई सांवली आदि सब का ज्ञान होना।

अल्प या एक दो—थोड़ेसे चांवलादि, अथवा एक गाय या दो गाय आदि का ज्ञान होना।

बहु विध—कई प्रकार के पदार्थों का ज्ञान होना। जैसे–सेना से–हाथी घोड़े ऊंट रथ आदि अनेक जाति के पदार्थों का ज्ञान होता है।

एक विध—एक प्रकार के पदार्थों का ज्ञान होना। जैसे–घोड़े या हाथी आदि एक जाति के पदार्थों का ज्ञान।

क्षिप्र—शीघ्र गामी पदार्थ का ज्ञान होना। जैसे–जल प्रपात, दौड़ती हुई रेल गाड़ी, मोटर, वायुयान, आदि शीघ्रगति वाले पदार्थों का अवग्रहादि ज्ञान।

अक्षिप्र—मन्दगति वाले पदार्थों का ज्ञान होना। जैसे बैलगाड़ी आदि का ज्ञान।

अनिःसृत—पूर्ण पदार्थ के प्रकट न होने पर भी उसके एक देश (अवयव) को देख कर पूरे पदार्थ का ज्ञान करना। जैसे जल में डूबे हुए हाथी की बाहर निकली हुई सूंड को देख कर हाथी का ज्ञान करना।

निःसृत—पूर्ण निकले हुए पदार्थ का अर्थात् प्रकट पदार्थ का ज्ञान करना। जल से बाहर निकले हुए हाथी को देख कर हाथी का ज्ञान होना।

अनुक्त—बिना वचन सुने अभिप्राय से पदार्थ को जान लेना। आकार आदि देख कर अभिप्राय को ताड़ लेना।

उक्त—वचन द्वारा कहे हुए पदार्थ का बोध होना।

ध्रुव—स्थिर पदार्थ का ज्ञान होना–जैसे पर्वत आदि।

अध्रुव—अस्थिर पदाथ का ज्ञान होना–जैसे बिजली आदि।

परोक्ष ज्ञान और उसके भेद

जो ज्ञान दूसरे की सहायता से पदार्थ को जानता है, उसे परोक्ष कहते हैं। इसके पांच भेद हैं–स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।

स्मृति

स्मृति—धारणा ज्ञान से उत्पन्न हुए संस्कार के जागृत होने पर 'वह' इस आकार से उत्पन्न होने वाला जो ज्ञान है, उसे स्मृति कहते हैं। अर्थात् पहले अनुभव किये हुए पदार्थ की याद हो जाना स्मृति ज्ञान है। जैसे हमने अमुक दिन मुनि-दर्शन किया था, इत्यादि।

प्रत्यभिज्ञान

प्रत्यभिज्ञान—प्रत्यक्ष और स्मरण के विषय भूत पदार्थों में जो जोड़ रूप ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे यह वही मुनीश्वर है, जिनका दर्शन अमुक दिन किया था। इसके अनेक भेद हैं–एकत्वप्रत्यभिज्ञान, सादृश्यप्रत्यभिज्ञान, वैसादृश्य और तत्प्रतियोगी आदि।

एकत्व प्रत्यभिज्ञान-प्रत्यक्ष और स्मरण के विषय भूत पदार्थों में एकपना दर्शाते हुए जो जोड़ रूप ज्ञान होता है, उसे एकत्वप्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे-ये वे ही मुनीश्वर हैं, जिनका कल दर्शन किया था।

सादृश्यप्रत्यभिज्ञान—प्रत्यक्ष और स्मरण के विषय भूत पदार्थों में सादृश्य दिखाते हुए जो जोड़ रूप ज्ञान होता है, उसे सादृश्य प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे-यह गवय (रोझ) गाय के समान है।

वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान—प्रत्यक्ष और स्मरण के विषय भूत पदार्थों में विलक्षणता दर्शाते हुए जो जोड़ रूप ज्ञान होता है, उसे वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे-यह भैंस गाय से विलक्षण है।

तत्प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान—प्रत्यक्ष और स्मरण के विषय भूत पदार्थों में विशेषता दिखाते हुए जो जोड़ रूप ज्ञान होता है, उसे तत्प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे-यह स्थान उससे दूर है इत्यादि।

तर्क

तर्क—व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं।

व्याप्ति—अविनाभाव सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं।

अविनाभाव सम्बन्ध—जहाँ जहाँ साधन (हेतु) होता है, वहाँ वहाँ साध्य होता है और जहाँ जहाँ साध्य नहीं होता है, वहाँ वहाँ साधन भी नहीं होता है, इस प्रकार के सम्बन्ध को अविनाभाव सम्बन्ध कहते हैं। जैसे—जहाँ जहाँ धुआँ होता है, वहाँ वहाँ अग्नि होती है और जहाँ जहाँ अग्नि नहीं होती है, वहाँ वहाँ धुआँ भी नहीं होता है।

अनुमान

अनुमान—साधन से जो साध्य का ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहते हैं। जैसे-धुएँ को देख कर अग्नि का ज्ञान करना।

साधन—साध्य के विना जो न हो सके, उसे साधन कहते हैं। जैसे-धुआँ अग्नि के विना नहीं हो सकता, इसलिए अग्नि का साधन (हेतु) धुआँ है।

साध्य—इष्ट, अवाधित और असिद्ध को साध्य कहते हैं।

इष्ट—वादी जिसको सिद्ध करना चाहे, उसको इष्ट कहते हैं।

अवाधित—जो दूसरे प्रमाणों से वाधित न हो उसे अवाधित कहते हैं। [illegible] अग्नि-की शीतलता (ठंढापन) प्रत्यक्ष प्रमाण से वाधित है; क्योंकि अग्नि छूने से उष्ण मालूम होती है; इसलिए अग्नि की शीतलता साध्य [illegible] हो सकती।

असिद्ध—जो दूसरे प्रमाण से सिद्ध न हो, उसे असिद्ध कहते हैं। अथवा जिसका निश्चय न हो, उसे असिद्ध कहते हैं।

उक्त अनुमान ज्ञान साधन (हेतु) से होता है और साधनाभास से (हेत्वाभास से) जो ज्ञान होता है, उसे अनुमानाभास कहते हैं।

हेत्वाभास

हेत्वाभास—जो हेतु के समान मालूम देता हो; किन्तु उसमें हेतु के गुण न हो, अर्थात् दोष विशिष्ट हेतु को हेत्वाभास कहते हैं। यह चार प्रकार का होता है। असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक (व्यभिचारी) और अकिंचित्कर।

जिस हेतु की सत्ता (मौजूदगी) का निश्चय न हो; किन्तु उसके असत्त्व (अभाव) का निश्चय हो, अथवा उसके सद्भाव (अस्तित्व-मौजूदगी) में सन्देह हो, उसे असिद्ध कहते हैं। जैसे-शब्द नित्य है; क्योंकि वह चक्षु इन्द्रिय का विषय है। यहां जो चक्षु इन्द्रिय का विषय, यह हेतु दिया है, वह असिद्ध है; कारण कि शब्द श्रोत्र इन्द्रिय का विषय है। इसलिए उक्त हेतु असिद्ध हेत्वाभास है।

विरुद्ध हेत्वाभास-जिस हेतु की अपने साध्य से विपरीत के साथ व्याप्ति हो, उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं। जैसे-शब्द नित्य है; क्योंकि वह परिणामी है। यहां पर जो परिणामी हेतु है, वह नित्य साध्य से विपरीत अनित्य के साथ व्याप्त है; इसलिए यह विरुद्ध हेत्वाभास माना जाता है।

अनैकान्तिक (व्यभिचारी) हेत्वाभास-जिस हेतु की पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनों के साथ व्याप्ति हो, उसे अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं। जैसे-इस रसोई घर में धुआं है, क्योंकि इसमें अग्नि है। यहां पर अग्नि हेतु पक्ष (रसोई घर) सपक्ष-धुंआ वाला दूसरा घर तथा विपक्ष धुएँ रहित जलते हुए कोयले वाली अँगीठी में भी पाया जाता है; इसलिए यह 'धुंआ' हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास कहा जाता है।

प्रश्न—यहाँ पर पक्ष सपक्ष आदि का नाम उचारण किया है। उनका लक्षण-स्वरूप क्या है ?

उत्तर—जहां साध्य के रहने का सन्देह हो, उसे पक्ष कहते हैं। जैसे यह पर्वत अग्निवाला है (पक्ष)। क्योंकि यहां पर धुआं है (साधन)। जहां जहां धुआँ होता है, वहां वहां अग्नि होती है, जैसे रसोई घर (अन्वयदृष्टान्त)। जहां २ अग्नि नहीं होती है, वहां २ धुआं भी नहीं होता है; जैसे तालाब (व्यतिरेक दृष्टान्त)। वैसा ही धुएं वाला यह पर्वत है; (उपनय)। इसलिए यह अग्नि वाला है (निगमन) यह पञ्चावयव वाक्य है। इस वाक्य में पर्वत पक्ष है; क्योंकि यहां की अग्नि सिद्ध की जा रही है। जब तक यह अग्नि सिद्ध नहीं हो जाती, तब तक उसका निश्चय नहीं हुआ है; किन्तु उसमें सन्देह है।

सपक्ष—जहां साध्य के रहने का निश्चय हो, उसे सपक्ष कहते हैं। जैसे ऊपर के पञ्चावयव वाक्य में 'रसोई घर' सपक्ष है; क्योंकि वहां पर अग्नि के रहने का निश्चय है।

विपक्ष—जहां साध्य के अभाव का (न रहने का) निश्चय हो। जैसे-ऊपर के वाक्य में तालाब विपक्ष कहा गया है; क्योंकि वहां अग्नि का अभाव निश्चित है।

प्रश्न—चौथा अकिंचित्कर हेत्वाभास किसे कहते हैं ?

उत्तर—अकिंचित्कर हेत्वाभास उसे कहते हैं–जो हेतु अपने साध्य की किंचिन्मात्र भी सिद्धि न कर सके। इसके दो भेद हैं–सिद्धसाधन और बाधितविषय।

सिद्धसाधन हेत्वाभास–जिस हेतु का साध्य सिद्ध न हो उसे सिद्ध साधन कहते हैं। जैसे–अग्नि उष्ण है; क्योंकि वह छूने से गर्म मालूम होती है। यहां पर अग्नि का उष्णपना प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है। हेतु ने अपना कार्य कुछ भी नहीं किया; इसलिए यह अकिंचित्कर माना जाता है।

बाधित विषय हेत्वाभास–जिस हेतु का साध्य प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित हो, उसे बाधित विषय कहते हैं। इसके अनेक भेद हैं–प्रत्यक्ष–बाधित, अनुमान–बाधित, आगम–बाधित और स्ववचन–बाधित आदि।

प्रत्यक्ष बाधित–जिस हेतु का साध्य प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित हो। जैसे–अग्नि ठंडी है; क्योकि यह द्रव्य है। यहां पर जो द्रव्य हेतु दिया गया है, उसका साध्य अग्नि का ठंडापन है, वह प्रत्यक्ष से बाधित है, क्योंकि प्रत्यक्ष से अग्नि गर्म सिद्ध है।

अनुमान बाधित—जिस हेतु के साध्य में अनुमान से बाधा आवे, उसे अनुमान बाधित कहते हैं। जैसे—'पर्वत नदी घास आदि कर्त्ता के बनाये हुए हैं; क्योकि ये कार्य हैं।' किन्तु इस 'कार्य' हेतु में इस अनुमान से बाधा आती है—पर्वत नदी घास आदि किसी ईश्वरादि की बनाई हुई नहीं हैं; क्योंकि इनका बनाने वाला शरीरधारी नहीं है। जो २ शरीर धारी की बनाई हुई नहीं हैं, वे वे वस्तुए किसी ईश्वरादि कर्त्ता की बनाई हुई नहीं हैं, जैसे आकाश। आकाश किसी शरीरधारी का बनाया हुआ नहीं है, इसलिए वह किसी ईश्वरादि कर्त्ता का बनाया हुआ भी नहीं है। वैसे ही पर्वतादि को भी समझना चाहिए।

आगमबाधित—जिस हेतु का साध्य शास्त्र से बाधित हो, उसे आगम बाधित कहते हैं। जैसे—पाप सुख का देने वाला है, क्योंकि वह कर्म है। जो जो कर्म होता है, वह २ सुख का देने वाला होता है, जैसे पुण्य कर्म। इस में आगम प्रमाण से बाधा आती है; क्योंकि शास्त्रों में पापकर्म को दुःख देने वाला बताया है।

स्ववचनबाधित—जिस हेतु के साध्य में अपने वचन से ही बाधा आवे। जैसे—कोई कहे कि मेरी माता वन्ध्या है; क्योंकि पुरुष का संयोग होने पर भी उसके गर्भ नहीं रहता है। इस अनुमान में वन्ध्यापन स्ववचन से बाधित है।

अनुमान के अंग

अनुमान के पांच अंग होते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन।

प्रतिज्ञा—पक्ष के कहने को प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे—"यह पर्वत अग्निवाला है।"

हेतु—साधन के कहने को हेतु कहते हैं। जैसे—क्योंकि "यह धुएं वाला है"।

उदाहरण—व्याप्ति दिखाते हुए दृष्टान्त के कहने को उदाहरण कहते हैं। जैसे—जहां जहां धुआं होता है, वहां २ अग्नि होती है, जैसे—रसोईघर। और जहां २ अग्नि नहीं होती है, वहां २ धुआं भी नहीं होता है। जैसे—तालाब।

दृष्टान्त—जहां पर साध्य और साधन का सद्भाव अथवा अभाव दिखाया जावे उसे दृष्टान्त कहते हैं, जैसे—रसोई का घर अथवा तालाब।

दृष्टान्त के दो भेद हैं—अन्वय दृष्टान्त और व्यतिरेक दृष्टान्त।

अन्वय—जहाँ पर साधन के सद्भाव में साध्य का सद्भाव दिखाया जावे। जैसे—रसोई के घर में धुएं का सद्भाव होने पर अग्नि का सद्भाव दिखाया गया है।

व्यतिरेक दृष्टान्त—जहां साध्य के अभाव में साधन का भी अभाव दिखाया जावे, उसे व्यतिरेक दृष्टान्त कहते हैं। जैसे—सरोवर में अग्नि के अभाव में धुएं का अभाव दिखाया गया है।

उपनय—पक्ष में दृष्टान्त की सदृशता दिखाते हुए हेतु के दोहराने को उपनय कहते हैं। जैसे—यह पर्वत भी वैसा ही धुएं वाला है। पहले पंचावयव वाक्य, पक्ष के स्वरूप मे कह आये हैं; वहां देखलें।

निगमन—नतीजा निकालकर प्रतिज्ञा के दोहराने को निगमन कहते हैं। जैसे—इसलिए यह पर्वत भी अग्निवाला है।

हेतु के भेद

हेतु के तीन भेद हैं—केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वय व्यतिरेकी।

केवलान्वयी— जिस हेतु में केवल अन्वय दृष्टान्त हो। जैसे—जीव अनेकान्त स्वरूप होता है; क्योंकि वह सत्स्वरूप है। जो २ सत्स्वरूप होता है, वह वह अनेकान्तस्वरूप होता है। जैसे पुद्गलादि।

केवलव्यतिरेकी—जिस हेतु में केवल व्यतिरेक दृष्टान्त हो। जैसे—जीवित शरीर मे आत्मा है; क्योंकि

है। जहां २ आत्मा नहीं होता है, वहां २ श्वासोच्छ्वास भी नहीं होता है। जैसे—ईंट, चौकी इत्यादि।

अन्वय व्यतिरेकी—जिस हेतु में अन्वय दृष्टान्त और व्यतिरेक दृष्टान्त दोनों ही पाये जावें, उसे अन्वय व्यतिरेकी हेतु कहते हैं। जैसे—यह पर्वत अग्निवाला है; क्योंकि यह धुएं वाला है। जहां २ धुआं होता है, वहां २ अग्नि होती है। जैसे—रसोईघर। जहां जहां अग्नि नहीं होती है, वहां २ धुआं भी नहीं होता है। जैसे—सरोवर।

आगम

आगम—आप्त के वचन, संकेत आदि से जो पदार्थ का ज्ञान होता है, उसे आगम कहते हैं।

आप्त—सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशक को आप्त कहते हैं।

इस प्रकार मतिज्ञान का संक्षेप से वर्णन किया गया। विशेष ग्रन्थान्तर से जानना चाहिए।

श्रुतज्ञान

मतिज्ञान से निश्चय किये गये पदार्थ का अवलम्बन लेकर उससे सम्बन्ध रखने वाले अन्य पदार्थ को जानने वाला जो ज्ञान है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। अर्थात् प्रथम मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से मतिज्ञान उत्पन्न होता है, तत्पश्चात् मतिज्ञान से निर्णीत अर्थ को लेकर उस अर्थ के बल से अर्थान्तर (भिन्न भिन्न पदार्थों) को श्रुत ज्ञान जानता है। मतिज्ञान की प्रवृत्ति न होने पर श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति का भी अभाव होता है। इसका आशय यह है कि प्रथमतः मतिज्ञान अवश्य होना चाहिए, मतिज्ञान की प्रवृत्ति होने के बाद श्रुतज्ञान होता है।

यहां पर यह शंका होती है कि घट शब्द को सुनकर उत्पन्न हुआ जो 'घट' इस शब्द का श्रावण-प्रत्यक्ष ज्ञान, अथवा घट को देखकर उत्पन्न हुआ जो कम्बुग्रीवादिमान् घट पदार्थ का चक्षुजन्य ज्ञान, अथवा पहले पहल मन द्वारा उत्पन्न हुआ घट पदार्थ का ज्ञान—ये तीनों मतिज्ञान हैं। इसके पश्चात् 'यह घट जल भरने के काम में आता है' यह पहला श्रुतज्ञान हुआ, इसके बाद "इसमें जल ठंढा रहता है" यह द्वितीय श्रुतज्ञान, इसके अनन्तर 'यह अमुक २ उपायों से बनाया जाता है'—तीसरा श्रुतज्ञान, आदि उत्तरोत्तर जितने ज्ञान होते हैं वे द्वितीय तृतीयादि सब श्रुतज्ञान, श्रुतज्ञान पूर्वक हुए हैं।

शंका—प्रथम श्रुतज्ञान ही मतिज्ञान पूर्वक हुआ तो फिर सब श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होते हैं, यह कैसे सिद्ध हुआ ?

समाधान—मतिपूर्वक श्रुतज्ञान होता है, इसका आशय यह है कि पहले पहल मतिज्ञान का सद्भाव होने पर ही श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। मतिज्ञान के अभाव में श्रुतज्ञान नहीं होता। और जो द्वितीयादि श्रुतज्ञान श्रुतपूर्वक हुए वे भी प्रथम श्रुतज्ञान पूर्वक हुए हैं और उस के पहले मतिज्ञान अवश्य है, इसलिए उपचार से उन द्वितीयादि श्रुतज्ञान को भी मतिपूर्वक ही माना गया है। क्योंकि प्रथमतः यदि मतिज्ञान नहीं उत्पन्न होता, तो पहला श्रुतज्ञान नहीं होता और पहले श्रुतज्ञान के न होने पर द्वितीयादि श्रुतज्ञान भी उत्पन्न नहीं होते। अतः सिद्ध हुआ कि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक ही उत्पन्न होता है।

श्रुतज्ञान के दो भेद

श्रुत के २ भेद हैं—१ अक्षर रूप २ अनक्षर रूप अथवा १ शब्द जन्य २ लिङ्गजन्य। वर्ण, पद, वाक्य को सुनकर उत्पन्न हुआ पदार्थ-ज्ञान अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। और लिंग-हेतु जन्य ज्ञान अनक्षर श्रुतज्ञान है। अकारादि सत्ताईस स्वर, ककारादि तेतीस व्यंजन और ४ योगवाह (अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय उपध्मानीय)ये सब मिलकर ६४ वर्ण हैं। विभक्त्यंत पद होता है। परस्पर अपेक्षा सहित निरपेक्ष समुदाय वाक्य कहलाता है। वर्ण पद–वाक्य जन्य ज्ञान को अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं। अक्षरात्मक श्रुतज्ञान मुख्य-प्रधान है; क्योंकि इसीसे देना, लेना, शास्त्र-अध्ययन, शिक्षाग्रहण आदि सब व्यवहार होते हैं। यद्यपि अनक्षर रूप श्रुतज्ञान एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के होता है, तथापि यह व्यवहार में उपयोगी न होने से अप्रधान माना जाता है। जैसे 'जीव विद्यमान है' ऐसा शब्द ज्ञान तो मतिज्ञान है; क्योंकि यह कर्णेन्द्रिय से होता है। इस कर्णेन्द्रिय–जन्य मतिज्ञान के पश्चात् 'जीव विद्यमान है' इस शब्द से वाच्य (कहा गया) जो आत्मा का अस्तित्व उसका ज्ञान होता है। वह श्रुतज्ञान है; क्योंकि यह वाच्य वाचक सम्बन्ध के संकेत ज्ञान पूर्वक होता है। जीव शब्द वाचक और जीव पदार्थ वाच्य है। इस प्रकार के सम्बन्ध का संकेत हो जाने के बाद जीव शब्द का उच्चारण करने पर जीव पदार्थ का ज्ञान होता है। इसलिए यह अक्षरात्मक श्रुत ज्ञान माना गया है। इस ज्ञान मे अक्षर (शब्द) कारण हैं और पदार्थ ज्ञान कार्य है; अतः कारण में कार्य का उपचार करके अक्षर को ही ज्ञान कह दिया है।

शरीर के साथ वायु का स्पर्श होने पर वायु का शीत स्पर्श अनुभव किया गया; यह स्पर्शनेन्द्रिय मतिज्ञान है। इसके पश्चात् पवन का शीतस्पर्श वात प्रकृति वाले को "यह अमनोज्ञ है" "यह विकारी है" ऐसा जो प्रतीत होता है यह अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। अतः श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक दो भेद कहे गये हैं। आगे श्रुतज्ञान के २० भेद कहेंगे, उनमें से पर्याय ज्ञान और पर्यायसमास ज्ञान अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान हैं। इनके असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं, और वे असंख्यात लोकमात्र वार षट्स्थान वृद्धि से वर्धित हैं।

अक्षरात्मक श्रुतज्ञान एक घाट एकट्टी प्रमाण अपुनरुक्त अक्षरों की अपेक्षा से संख्यात भेद रूप हैं। एक घाट एकट्टी प्रमाण अक्षरों की संख्या १८ ४४ ६७ ४४० ७३७० ९५५१६ १५ है।

श्रुतज्ञान के बीस भेद

१ पर्याय २ पर्यायसमास, ३ अक्षर, ४ अक्षरसमास, ५ पद, ६ पदसमास, ७ संघात, ८ संघातसमास, ९ प्रतिपत्तिक, १० प्रतिपत्तिकसमास, ११ अनुयोग, १२ अनुयोगसमास, १३ प्राभृत प्राभृत, १४ प्राभृत प्राभृत समास, १५ प्राभृत, १६ प्राभृतसमास, १७ वस्तु, १८ वस्तु समास १९ पूर्व, २० पूर्वसमास। ये श्रुतज्ञान के बीस भेद हैं।

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के जन्म होने के प्रथम समय में सब से जघन्य शक्तिरूप पर्याय नामक ज्ञान होता है। यह ज्ञान निरावरण है, इसे ढकने वाला कोई कर्म नहीं हैं; इसलिए इसे निरोद्घाट कहा है। अर्थात् इतना सदा उघड़ा रहता है, यदि यह सबसे लघुज्ञान भी ढक जाय तो आत्मा ज्ञान-शून्य होने से जड़ हो जायगा; अतः आत्मा का सद्भाव भी न रहेगा। इसलिए जो पर्याय ज्ञानावरण कर्म है वह ज्ञान के दूसरे भेद-पर्याय समास को आवृत करता है, पहले भेद पर्याय ज्ञान को नहीं।

इस सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के जन्म के पहले समय में होने वाले स्पर्शनेन्द्रियजनित मतिज्ञान पूर्वक इस सर्व जघन्य शक्तिरूप पर्याय ज्ञान को लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान कहते हैं। लब्धि नाम श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम का है। अथवा अर्थग्रहण करने की शक्ति को लब्धि कहते हैं। अक्षर का निरुक्ति अर्थ 'नक्षरति इति अक्षरः' अर्थात् अविनश्वर है। इतने ज्ञान (अक्षर ज्ञान) का क्षयोपशम जीव के सर्वदा रहता है। सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के पर्याय नामक ज्ञान होता है, उस ज्ञान में पदार्थ को जानने की शक्ति रूप अविभाग प्रतिच्छेद कितने हैं, वही कहते हैं।

द्विरूप वर्ग धारा २ का वर्ग ४ यह वर्ग का पहला स्थान, दूसरा वर्गस्थान, १६, तीसरा वर्ग स्थान २५६, चौथा वर्ग स्थान पणट्ठी ६५५३६, पांचवाँ वर्गस्थान बादाल ४२९४९६७२९६, छठा वर्गस्थान एकट्ठी १८४४६७४४०७३७०९५५१६१६। ऐसे परस्पर गुणनरूप अनन्तानन्त वर्ग स्थान गये जीवराशि का प्रमाण उत्पन्न होता है। उसके ऊपर अनन्तानन्त वर्ग स्थान गये काल के समय की राशि उत्पन्न होती है। उसके ऊपर अनन्तानन्त वर्ग स्थान गये आकाश के प्रदेशों की श्रेणी का प्रमाण उत्पन्न होता है। उसके ऊपर अनन्तानन्त वर्गस्थान गये धर्म अधर्म द्रव्य के अगुरुलघुनामक गुण के अविभागी प्रतिच्छेद उत्पन्न होते हैं। उसके ऊपर अनन्तानन्त वर्ग स्थान गये एक जीव सम्बन्धी अगुरुलघुगुण के अविभागी प्रतिच्छेद उत्पन्न होते हैं। उसके ऊपर अनन्तानन्त वर्ग स्थान गये सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक का जघन्य ज्ञान जो पर्याय ज्ञान उसके अविभागी प्रतिच्छेद उत्पन्न होते हैं। इसलिए सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के सब से जघन्य ज्ञान के जानने की शक्तिरूप अविभागी प्रतिच्छेद अनन्तानन्त हैं। उसके ऊपर का द्वितीयादि स्थान भेद षड्गुणी वृद्धि से वर्धित है। षड्वृद्धियाँ ये हैं-१ अनन्तभागवृद्धि, २ असंख्यात भाग वृद्धि, ३ संख्यात भाग वृद्धि, ४ संख्यात गुण वृद्धि, ५ असंख्यात गुण वृद्धि, ६ अनन्त गुण वृद्धि। ऐसे असंख्यात लोक प्रमाण षट्स्थान वृद्धि

रूप सख्यात लोक प्रमाण पर्याय समास ज्ञान के भेद होते हैं।

अनन्तानन्त वर्ग स्थान जाने पर सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के पर्याय ज्ञान के जानने की शक्ति के अंशरूप जो अविभागी प्रतिच्छेद अनन्तानन्त कहे गये हैं उनमें जीवराशि प्रमाण अनन्त का भाग देने से जो लब्ध आवे, उसको पर्याय ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद में मिला देने पर जितने अविभाग प्रतिच्छेद हुए वह पर्याय समास ज्ञान के प्रथम भेद के अविभाग प्रतिच्छेद का प्रमाण होता है। इसी प्रकार इसमें फिर जीवराशि प्रमाण अनन्त का भाग देकर लब्ध को पूर्व पूर्व ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद मे मिलाते जाना चाहिए। ऐसा करने से उत्तरोत्तर ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं। इस तरह पर्याय समास ज्ञान का दूसरा तीसरा आदि भेद निकलता है।

जो अनन्त का भाग देकर उसे बढाया जावे वह अनन्त भाग वृद्धि है, ऐसी अनन्त भाग वृद्धियाँ सूच्यंगुल के असंख्यात भाग प्रमाण हो जाने पर एक बार असंख्यात भाग वृद्धि होती है। फिर सूच्यंगुल के असंख्यात भाग प्रमाण अनन्तभाग वृद्धियाँ हो जाती हैं, तब एक बार असंख्यात भाग वृद्धि होती है, ऐसे ही सूच्यंगुल के असंख्यात भाग बार अनन्त भाग वृद्धियाँ होने पर फिर एक बार असंख्यात भाग वृद्धि होने पर एक बार असंख्यात भाग वृद्धि होती है। इस क्रम से असंख्यात भाग वृद्धि भी सूच्यंगुल के असख्यात भाग बार होजाने पर एक बार सख्यात भाग वृद्धि होती है। ऐसे करते करते सूच्यगुल के असंख्यातवें भाग बार संख्यातभागवृद्धि होजावे तब फिर सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग बार अनन्त भाग वृद्धि होजावे, तब तो एक बार असंख्यात भाग वृद्धि होती है और ऐसे सूच्यंगुल के असख्यातवें भाग बार असंख्यात भाग वृद्धि होजाने पर एक बार सख्यात भाग वृद्धि होती है। ऐसे ही सूच्यगुल के असंख्यातवें भाग बार सख्यात भाग वृद्धि होजाने पर एक बार संख्यात गुण वृद्धि होती है। उक्त प्रकार जितने पलटे लगकर एक बार संख्यात गुण वृद्धि हुई है, वैसे ही सूच्यगुल के असंख्यातवें भाग बार सख्यात गुण वृद्धि होजाने पर पिछले सब पलटे लगकर एक बार असंख्यात गुण वृद्धि होती है। ऐसे सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण असख्यात गुण वृद्धि होजाने पर पिछले सब पलटे लगकर एक बार अनन्त गुण वृद्धि होती है। जो यह अनन्त गुण वृद्धि रूप स्थान है उसे षटस्थान में दूसरा स्थान जानना चाहिए।

इसी प्रकार इसके ऊपर सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग बार अनन्त भाग वृद्धि होजाने पर एक बार असंख्यात भाग वृद्धि होती है। इस तरह असख्यात लोक मात्र षट्स्थान वृद्धि होती है। ये सब भेद अनन्तरात्मक पर्याय समास ज्ञान के हैं।

अक्षररूप श्रुत ज्ञान—असंख्यात लोक प्रमाण षट्स्थानों में से अन्त के षट्स्थान में जितने अविभागी प्रतिच्छेद हैं, उतने पर्याय समास ज्ञान के सर्वोत्कृष्ट भेद हैं और पर्याय समास ज्ञान से अनन्त गुणा अर्थाक्षर ज्ञान है।

अक्षर तीन प्रकार के होते हैं। १. लब्ध्यक्षर २. निर्वृत्त्यक्षर और ३. स्थापनाक्षर। उनमें पर्याय ज्ञानावरण से लेकर श्रुत

केवल ज्ञानावरण पर्यन्त क्षयोपशम से उत्पन्न हुई जो आत्मा की अर्थ ग्रहण करने की शक्ति है, वह लब्धि है, उसे ही भावेन्द्रिय कहते हैं। लब्धिरूप जो अक्षर वह लब्ध्यक्षर है। इसलिए लब्ध्यक्षर को अक्षर ज्ञान की उत्पत्ति में हेतुपना है। कण्ठ, ओष्ठ ताल्वादिक स्थान और स्पर्शनादिक कारण रूप प्रयत्नो से निर्वृत्तिमान (उत्पन्न) हुए अकारादि स्वर तथा ककारादि व्यंजन मूलवर्ण हैं और मूलवर्णों के संयोग से उत्पन्न हुए पदादि शब्द निर्वृत्यक्षर है। पुस्तको मे अनेक देशों की अनुकूलता को लक्ष्य में रखकर लिखे गये आकार को स्थापना अक्षर कहते हैं। ऐसे शब्द अक्षर के श्रवण करने से उत्पन्न होने वाले अर्थ ज्ञान को एकाक्षर श्रुतज्ञान कहते हैं।

पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं।
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंत भागो दु सुदणिबद्धो ॥ ३३४ ॥ गो० जी०।

अर्थ—अनभिलप्य (वचनागोचर), केवलज्ञान के गोचर जो जीवादि पदार्थ हैं, वे प्रज्ञापनीय हैं-तीर्थंकरों की सातिशय दिव्यध्वनि से कहे जाते हैं। इनके अनन्तवें भाग मात्र द्वादशांग श्रुत में व्याख्यान किये गये हैं। इसका आशय यह है कि जो पदार्थ केवल केवलज्ञान द्वारा जाने जाते हैं; किन्तु जिनका वचन द्वारा निरूपण नहीं कर सकते, ऐसे पदार्थ अनन्तानन्त हैं। ऐसे पदार्थों के अनन्तवें भाग प्रमाण वे पदार्थ हैं, जिनका वचन के द्वारा निरूपण कर सकते हैं, उन्हें प्रज्ञापनीय कहते हैं। जितने प्रज्ञापनीय पदार्थ हैं, उनके भी अनन्तवें भाग प्रमाण पदार्थ-श्रुत मे निरूपण किया गया है।

अक्षर समास

एयक्खरादु उवरिं एगेगेणक्खरेण वड्ढंतो।
संखेज्जे खलु उड्ढे पदणाम होदि सुदणाणं ॥ ३३५ ॥ गो० जी०

अर्थ—अक्षर ज्ञान के ऊपर क्रम से एक २ अक्षर की वृद्धि होते २ जब संख्यात अक्षरों की वृद्धि होजाती है, तब पदनामक श्रुत ज्ञान होता है। एक अक्षर के ऊपर और एक अक्षर कम पद ज्ञान पर्यन्त जितने ज्ञान के विकल्प हैं वे सब अक्षर समास नामक श्रुतज्ञान के विकल्प हैं। वे सब अक्षर समास ज्ञान के भेद हैं।

पद तीन प्रकार का होता है-१. अर्थपद, २. प्रमाणपद, ३. मध्यमपद। इनका खुलासा निम्न प्रकार है।

१.—अर्थपद-जितने अक्षर समूह से विवक्षित अर्थ जाना जाता है, उसे अर्थपद कहते हैं। जैसे किसी ने कहा कि-"गामभ्याज शुक्लां दण्डेन" सफेद गाय को लकड़ी से घेरो। तथा 'अग्निं आनय' अग्नि लाओ। इत्यादि अर्थ के लिए एक दो आदि पदों का जो प्रयोग

किया जाता है, उनको अर्थपद कहते हैं।

२—प्रमाणपद—श्लोक के चौथे भाग को एक पद कहते हैं। जैसे "नमः श्रीवर्धमानाय"।—यह प्रमाण पद है।

३—मध्यमपद-अक्षर समूह को मध्यम पद कहते हैं। अर्थपद और प्रमाणपद तो हीनाधिक अक्षर वाले लोक व्यवहार से ग्रहण किये जाते हैं; किन्तु मध्यमपद का उक्त प्रमाण निश्चित है। और यहां लोकोत्तर परमागम में इसी का ग्रहण किया गया है।

संघात श्रुतज्ञान

एय पदादो उवरिं एगेगेणक्खरेण वड्ढंतो।
संखेज्जसहस्स पदे उड्ढे संघादणाम सुदं॥ ३३७॥ गो० जी०

अर्थ—एक पद के ऊपर क्रमसे एक एक अक्षर बढ़ते २ उक्त प्रमाण अक्षर समूह बढ़ते जाने पर पदज्ञान दूना हो जाता है। इसी प्रकार बढते २ जब सख्यात हजार पद बढ़ जाते हैं, तब संघात नामक श्रुतज्ञान का भेद होता है। पदज्ञान पर एक अक्षर अधिक से लेकर इस (सघातज्ञान) से एक अक्षर कम तक जितने बीच के भेद होते हैं, वे सब पद समास ज्ञान के भेद हैं।

प्रतिपत्तिक श्रुतज्ञान

एक्कदरगदिणिरूवय संघादसुदादु उवरि पुव्वंवा।
वण्णे संखेज्जे संघाते उड्ढम्हि पडिवत्ती॥ ३३८॥ गो० जी०

अर्थ—चार गतियों में से एक गति के स्वरूप का निरूपण करने वाला जो संघात श्रुतज्ञान है; उसके ऊपर क्रम से पूर्व की भांति वर्ण की वृद्धि होते २ जब सख्यात हजार संघात की वृद्धि हो जाती है, तब प्रतिपत्ति नामक श्रुतज्ञान होता है। संघात और प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान के मध्य के जितने ज्ञान के विकल्प हैं उतने ही संघात समास श्रुतज्ञान के भेद हैं। इस पर एक अक्षर बढ़ा देने पर प्रतिपत्ति ज्ञान होता है यह ज्ञान नरकादि चारों गतियों का विस्तृत स्वरूप जानने वाला है।

अनुयोग श्रुतज्ञान

चउगइ सरूवरूवय पडिवत्तीदो दु उवरि पुव्वं वा।

वण्णे संखिज्जे पडिवत्ती उड्ढम्हि अणियोगं ॥ ३३९ ॥ गो० जी०

अर्थ—चारों गति के स्वरूप का निरूपण करने वाले प्रतिपत्ति ज्ञान के ऊपर पूर्व की तरह क्रम से एक एक अक्षर बढ़ते २ जब सख्यात हजार प्रतिपत्ति बढ़ जावें तब एक अनुयोग श्रुतज्ञान होता है। प्रतिपत्ति के ऊपर एक अक्षर वृद्धि से लेकर एक अक्षर कम अनुयोग ज्ञान के पूर्व जितने विकल्प होते हैं, उतने सब प्रतिपत्ति समास ज्ञान के भेद हैं। इसमे एक अक्षर जोड़ने पर अनुयोग ज्ञान होता है। इस ज्ञान के द्वारा चौदह मार्गणाओं का विस्तृत स्वरूप जाना जाता है।

प्राभृतप्राभृतश्रुतज्ञान

चोद्दसमग्गणसंजुद अणियोगादुवरि वड्ढिदे वण्णे।
चउरादी अणियोगे दुगवारं पाहुडं होदि ॥ ३४० ॥ गो० जी०

अर्थ—चौदह मार्गणाओं का निरूपण करने वाले अनुयोग ज्ञान के ऊपर पूर्वोक्त क्रम के अनुसार एक एक अक्षर की वृद्धि होते होते जब चार आदि अनुयोगों की वृद्धि हो जाती है, तब प्राभृत प्राभृत श्रुतज्ञान होता है। अनुयोग ज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि से लेकर एक अक्षर हीन प्राभृत प्राभृत ज्ञान तक मध्य के जितने विकल्प होते हैं उतने सब अनुयोगसमास, समास ज्ञान के भेद हैं।

आगे वस्तु नामक श्रुतज्ञान का भेद कहेंगे, उसका जो एक अधिकार है, उसे प्राभृत कहते हैं, और प्राभृत के एक अधिकार को प्राभृतप्राभृत कहते हैं।

प्राभृत श्रुतज्ञान

दुगवारपाहुडादो उवरिं वण्णे कमेण चउवीसे।
दुगवारपाहुडे संउड्ढे खलु होदि पाहुडयं ॥ ३४२ ॥ गो० जी०

अर्थ—प्राभृतप्राभृत ज्ञान के ऊपर पूर्व की भांति क्रम से एक २ वर्ण बढ़ते २ जब चौबीस प्राभृतप्राभृत बढ़ जावें, तब एक प्राभृत नामक श्रुतज्ञान होता है। प्राभृतप्राभृत के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि से लेकर एक अक्षर हीन प्राभृत तक जितने विकल्प होते हैं, उतने सब प्राभृतप्राभृतसमास ज्ञान के भेद हैं। इस पर एक अक्षर बढ़ने पर प्राभृत ज्ञान होता है।

वस्तु श्रुतज्ञान

वीसं वीसं पाहुडअहियारे एक्कवत्थुअहियारो ।
एक्केक्कवण्णउड्ढी कमेण सव्वत्थ णायव्वा ॥३४३॥ गो० जी०

अर्थ—उस प्राभृतक ज्ञान के ऊपर पूर्व की भांति क्रम से एक २ अक्षर की वृद्धि होते २ जब बीस प्राभृत की वृद्धि होजावे तब एक वस्तु नामक श्रुतज्ञान होता है। प्राभृतक ज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि से लेकर एक अक्षर हीन वस्तु ज्ञान तक जितने विकल्प होते हैं, उतने सब प्राभृत समास ज्ञान के भेद हैं। इस पर एक अक्षर बढ़ा देने पर वस्तु नामा अधिकार श्रुतज्ञान होता है।

पूर्व श्रुतज्ञान

दस चोदसट्ठ अट्ठारसयं बारं च बार सोलं च ।
वीसं तीसं पण्णारसं च दस चदुसु वत्थूणं ॥ ३४४ ॥ गो० जी०

अर्थ—पूर्व ज्ञान के चौदह भेद हैं। उनमें क्रम से दश, चौदह, आठ, अठारह, बारह, बारह, सोलह, बीस, तीस, पन्द्रह, दश, दश, दश, दश वस्तु नामक अधिकार हैं।

चौदह पूर्व

उप्पायपुव्वगाणियविरियपवादत्थिणत्थियपवादे ।
णाणासच्चपवादे आदाकम्मप्पवादे य ॥ ३४५ ॥
पच्चक्खाणे विज्जाणुवादकल्लाणपाणवादे य ।
किरियाविसालपुव्वे कमसोथ तिलोयविंदुसारे य ॥ ३४६ ॥ गो० जी०

अर्थ—१. उत्पादपूर्व, २. आग्रायणीयपूर्व, ३. वीर्यप्रवाद, ४. अस्तिनास्तिप्रवाद, ५. ज्ञानप्रवाद, ६. सत्यप्रवाद ७. आत्मप्रवाद, ८. कर्मप्रवाद, ९. प्रत्याख्यान, १०. वीर्यानुवाद, ११. कल्याणवाद, १२. प्राणवाद, १३. क्रियाविशाल १४. त्रिलोकबिंदुसार। इस प्रकार ये क्रम से पूर्वज्ञान के चौदह भेद हैं। इनके लक्षण आगे कहेंगे।

तात्पर्य—वस्तुज्ञान के ऊपर क्रम से एक एक अक्षर की वृद्धि लिए पदादि की वृद्धि होते २ दश वस्तु श्रुतज्ञान के ऊपर बढने पर उत्पादपूर्व नामक श्रुतज्ञान होता है। वस्तु नामक श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि से लेकर एक अक्षर हीन उत्पादपूर्व तक जितने विकल्प होते हैं, उतने वस्तु समास ज्ञान के भेद हैं। इसमें एक अक्षर मिलाने पर उत्पादपूर्व नामक श्रुतज्ञान का भेद होता है। इसके ऊपर क्रम से एक एक अक्षर की वृद्धि होकर पदादि की वृद्धि होते २ जब चौदह वस्तु की वृद्धि होजावे, तब आग्रायणीय पूर्वज्ञान उत्पन्न होता है। उत्पादपूर्व के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि से लेकर एक अक्षर हीन आग्रायणीय पूर्व तक मध्य के सब विकल्प उत्पादपूर्व समास के भेद होते हैं। इसके ऊपर एक अक्षर बढ़ा देने पर आग्रायणीय पूर्व नामा ज्ञान होता है। इसी क्रम से आगे २ आठ आदि वस्तु की वृद्धि होते २ वीर्यप्रवाद आदि पूर्व नामक ज्ञान होते हैं। और उनमे एक एक अक्षर हीन पर्यन्त पहले के ज्ञान का समास नामक ज्ञान होता है। अन्तिम त्रिलोक विन्दुसार नामा पूर्व के आगे उसके समास ज्ञान का भेद नहीं होता है।

अब चौदह पूर्वों में वस्तु नामक अधिकार की तथा प्राभृत नामा अधिकार की संख्या बताते हैं।

पणणउदिसया वत्थू पाहुडया तियसहस्सणवयसया।
एदेसु चोद्दसेसु वि पुव्वेसु हवंति मिलिदाणि॥ ३४७ ॥ गो. जी.

अर्थ—उत्पादपूर्व आदि चौदह पूर्वों मे जो वस्तु नामक अधिकार मिलाये गये, उनकी संख्या एकसौ पिच्यानवे १९५ है। तथा एक एक वस्तु में बीस बीस जो प्राभृत कहे गये हैं उन कुल प्राभृतक अधिकारों की कुल संख्या तीन हजार नौ सौ ३९०० है।

अब पूर्वोक्त श्रुतज्ञान के बीस भेदों का उपसंहार करते हैं—

अत्थक्खरं च पदसंघातं पडिवत्तियाणिजोगं च।
दुगवारपाहुडं च य पाहुडयं वस्तु पुव्वं च ॥ ३४८ ॥
कमवण्णुत्तरवड्ढिय ताण समासा य अक्खरगदाणि।
णाणवियप्पे वीसं गंथे वारस य चोद्दसयं ॥ ३४९ ॥ गो० जी०

अर्थ—अर्थाक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्तिक, अनुयोग, प्राभृतप्राभृत, प्राभृत, वस्तु, पूर्व ये नौ भेद तथा क्रम से एक २ अक्षर की वृद्धि के द्वारा उत्पन्न होने वाले अक्षर समास, पद समास आदि नौ भेद, इस प्रकार अठारह भेद अक्षरात्मक द्रव्य श्रुत के होते हैं। इन द्रव्यश्रुत

के सुनने से उत्पन्न हुए ज्ञान के भी अठारह भेद हो जाते हैं। अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान के पर्याय और पर्याय समास ये दो भेद मिला देने पर सब श्रुतज्ञान के बीस भेद होजाते हैं। यदि ग्रन्थ (शास्त्र) रूप श्रुत की विवक्षा की जाय तो आचारांग आदि बारह अङ्ग और उत्पाद पूर्व आदि चौदह पूर्व और सामायिक आदि चौदह प्रकीर्णक रूप द्रव्य श्रुत ज्ञान होता है। और उनके सुनने से जो ज्ञान होता है उसे भाव श्रुतज्ञान समझना चाहिए। पुद्गलद्रव्यस्वरूप अक्षर पदादि मय तो द्रव्यश्रुत है, और उसके सुनने से जो श्रुतज्ञान की पर्यायरूप ज्ञान होता है, वह भाव श्रुत है।

इस प्रकार पूर्व चौदह,वस्तु एकसौ पिचानवे १९५,प्राभृतक तीन हजार नौसौ ३९००,प्राभृतक प्राभृतक ९३६००,अनुयोग ३७४४००, प्रतिपत्तिक, सङ्घात और पद ये क्रम से संख्यात गुणे हैं। और एक पद के अक्षर सोलह से चोंतीस करोड़, तियासी लाख,सात हजार, आठ सौ अठयासी हैं तथा समस्त श्रुत के अक्षर एक कम एकट्ठी प्रमाण हैं, इसमें पद के अक्षरों का भाग देने पर जो लब्ध आवे, वह द्वादशांग के पदों का प्रमाण है। और भाग देने पर जो शेष अक्षर रहें, वे अङ्गबाह्यश्रुत के अक्षर हैं।

द्वादशांग के पदों की संख्या

बारुतरसयकोडी तेसीदी तह य होंति लक्खाणं।
अट्ठावण्णसहस्सा पंचेव पदाणि अङ्गाणं ॥ ३५० ॥ गो० जी०

अर्थ—११२, ८३, ५८,००५ एकसौ बारह करोड़ तिरासी लाख अठावन हजार पांच पद सम्पूर्ण द्वादशांग के होते हैं। अंग्यते अर्थात् मध्य पदों से जो जाने जावें उन्हें अङ्ग कहते हैं। अथवा सम्पूर्ण श्रुत का आचारांगादि एक एक अङ्ग अर्थात् अवयव है, अतः वे अङ्ग कहे जाते हैं।

अङ्ग बाह्य के अक्षरों की संख्या

अडकोडिएयलक्खा अट्ठसहस्सा य एयसदिगं च।
पण्णत्तरि वण्णाओ पइण्णयाणं पमाणं तु ॥ ३५१ ॥ (गो० जी०)

अर्थ—सामायिक आदि प्रकीर्णक (अंगबाह्य) श्रुत के आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर (८०१०८१७५) अक्षर होते हैं। चार गाथाओं से इस अर्थ को समझने की प्रक्रिया बताते हैं—

तेत्तीसवेंजणाइं सत्तावीसा सरा तहा भणिया ।
चत्तारि य जोगवहा चउसट्ठी मूलवण्णाओ ॥ ३५२ ॥ गो० जी०

अर्थ—तेतीस व्यंजन, सत्ताईस स्वर, चार योगवाह इस प्रकार कुल चौंसठ मूल वर्ण होते हैं।

जिनका स्वर के विना उच्चारण न हो सके, ऐसे अर्धमात्रिक वर्णों को व्यंजन कहते हैं। जैसे—क् ख् ग् घ् ङ् च् छ् ज् झ् ञ् ट् ठ् ड् ढ् ण् त् थ् द् ध् न् प् फ् ब् भ् म् य् र् ल् व् श् ष् स् ह् ये तेतीस हैं। अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ ये नौ स्वर हैं। इन के ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत की अपेक्षा सत्ताईस भेद होते हैं। अनुस्वार अं, विसर्ग अः, जिह्वामूलीय क और उपध्मानीय प ये चार योगवाह हैं। सब मिलकर ६४ अनादिनिधन मूल वर्ण हैं। यद्यपि लृ वर्ण संस्कृत भाषा मे दीर्घ नहीं होता है, तथापि अनुकरण में तथा अन्य देश भाषा में यह दीर्घ भी होता है। अतः वर्णों में इनका भी पाठ है। ए ऐ ओ औ ये चारो संस्कृत में ह्रस्व नहीं माने गये हैं, तथापि प्राकृत भाषा में तथा अन्य देश भाषा मे ह्रस्व भी माने गये हैं।

चउसट्ठिपदं विरलिय दुगं च दाऊण संगुणं किच्चा ।
रूऊणं च कए पुण सुदणाणस्सक्खरा होंति ॥ ३५३ ॥ गो० जी०

अर्थ—पूर्वोक्त मूल अक्षर प्रमाण चौसठ स्थानों का विरलन करके बराबर पंक्तिरूप एक एक अंक अलग २ चौसठ जगह लिखकर प्रत्येक के ऊपर दो दो का अंक देकर उन सम्पूर्ण दो के अंकों का परस्पर गुणा करने से जो एकट्ठी प्रमाण आवे, उसमें से एक घटाने पर सर्व द्रव्यश्रुत के अक्षरों का प्रमाण आता है।

वे अक्षर कितने हैं, उनका प्रमाण बताते हैं :—

एकट्ठ च च य छस्सत्तयं च च य सुण्णसत्ततियसत्ता ।
सुण्णं णव पण पंच य एक्कं छक्केक्कगो य पणगं च ॥ ३५४ ॥ गो० जी०

अर्थ—उक्त दो २ के अंको का परस्पर गुणा करने से उत्पन्न हुए अक्षरों का प्रमाण यह है-एक आठ चार चार छह सात चार चार शून्य सात तीन सात शून्य नव पांच पांच एक छह एक पांच १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ इतने अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य सम्पूर्ण श्रुत के अपुनरुक्त अक्षर हैं। यह संख्या एक अक्षर-एकसंयोगी, द्विसंयोगी, त्रिसंयोगी आदि चौंसठ संयोगी पर्तन्त अक्षरों की जाननी चाहिए। इनकी

उत्पत्ति का क्रम गोम्मटसारजी की बड़ी टीका से जानना चाहिए।

इन अक्षरों में से अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य श्रुत के अक्षरों का विभाग इस प्रकार जानना चाहिए।

मज्झिमपदक्खरवहिदवण्णा ते अंगपुव्वगपदाणि ।
सेसक्खरसंखा ओ पइण्णयाणं पमाणं तु ॥ ३५४ ॥ गो० जी०

अर्थ—एक कम एकट्ठी प्रमाण जो सम्पूर्ण श्रुत के अक्षर हैं, उनमें परमागम में प्रसिद्ध मध्यमपद के अक्षरों के प्रमाण का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतना अंग और पूर्व सम्बन्धी मध्यम पदों का प्रमाण निकलता है।

तात्पर्य—सोलह सौ चौतीस करोड़, तिरासी लाख, सात हजार, आठ सौ अठासी अक्षरों का एक मध्यम पद होता है, तब एक कम एकट्ठी प्रमाण सम्पूर्ण श्रुत के अक्षरों के कितने पद होते हैं? इस प्रकार त्रैराशिक करने से अर्थात् सम्पूर्ण अक्षरों में मध्यमपद के अक्षरों का भाग देने पर जो लब्ध राशि आवे उसे समस्त मध्यम पदों का प्रमाण समझना चाहिए। इन समस्त मध्यम पदों के जितने अक्षर हैं, वे अङ्गप्रविष्ट श्रुत के अक्षर हैं, और जो शेष अक्षर रहते हैं वे अंगबाह्य श्रुत के अक्षर हैं।

अंगों और पूर्वों के पदों की संख्या आदि दिखाते हैं—

आयारे सद्दयडे ठाणे समवायणामगे अंगे ।
तत्तो विक्खापण्णत्तीए णाहस्स धम्मकहा ॥ ३५५ ॥
तोवासयअज्झयणे अंतयडे णुत्तरोववाददसे ।
पण्हाणं वायरणे विवाहसुत्ते य पदसंखा ॥ ३५६ ॥ गो० जी०

अर्थ—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, धर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तःकृत, अनुत्तरौपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण और विपाक सूत्र ये ११ अङ्ग हैं।

द्वादश अङ्गों में प्रथम आचारांग को कहा है, कारण कि वह मोक्ष के कारण भूत संवर निर्जरा के कारण पंचाचार आदि समस्त चारित्र का प्रतिपादक है। मुमुक्षु (मोक्षाभिलाषी) इसका आदर करते हैं; इसलिए इसे सबके प्रथम कहना युक्ति संगत है।

चार ज्ञान सम्पन्न सप्तऋद्धि के धारक गणधर देवों ने तीर्थंकरो के मुख-कमल से उत्पन्न सर्व भाषामय दिव्यध्वनि को सुनकर और समस्त पदार्थों का अवधारण करके शिष्यो प्रशिष्यों के अनुग्रहार्थ द्वादशांग वाणी की रचना की,उसमे सब से प्रथम आचारांग का निर्माण किया है। आचरन्ति अर्थात् जिससे मोक्ष मार्ग का आचारण करते हैं-आराधन करते हैं, उसे आचारांग कहते हैं।

१-आचाराङ्ग—साधु कैसे चले? कैसे खड़ा रहे? कैसे बैठे? कैसे सोवे? कैसे बोले? कैसे खावे? कैसे पाप न बंधे? इत्यादि गणधर के प्रश्न करने पर आचारांग मे उत्तर दिया गया है कि यत्न से चले, यत्न पूर्वक खड़ा रहे, यत्न से बैठे, यत्न से सोवे,यत्न से बोले, यत्न से खावे, इत्यादि यत्न पूर्वक क्रिया करने से पाप कर्म का बन्ध नहीं होता है। इस प्रकार मुनीश्वरो के सम्पूर्ण आचरण का इस आचारांग में निरूपण किया गया है।

२-सूत्रकृताङ्ग—सूत्रयति अर्थात् संक्षेप से अर्थ सूचक जो परमागम-वह सूत्र है। उस परमागम के लिए कारण भूत विनयादि निर्विघ्न क्रिया-विशेष जिसमे वर्णित हैं अथवा व्यवहार-धर्म-क्रिया का तथा स्वमत परमत का वर्णन जिसमे किया गया है, वह सूत्रकृत नामा दूसरा अंग है।

३-स्थानाङ्ग—एक एक बढ़ता हुआ स्थान जिस में पाया जाता है, वह स्थान नामा तीसरा अंग है। उसमे ऐसा वर्णन है कि संग्रह नय से आत्मा एक है।व्यवहार नय से संसारी और मुक्त ऐसे दो भेद संयुक्त है।उत्पाद,व्यय और ध्रुव रूप से आत्मा तीन प्रकार का है। कर्म के निमित्त से जीव चारों गति में भ्रमण करता है; इसलिए आत्मा चार प्रकार का भी है। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक भेद से आत्मा पाच प्रकार का है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधः, इस प्रकार छह दिशा मे गमन करता है;अतः छह का भी है। संसारी जीव आकाश प्रदेशकी पंक्ति के अनुसार दिशा मे ही गमन करता है। विदिशा आदि में नहीं करता। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य, स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य। इस प्रकार जीव सात प्रकार का है। आठ कर्मों के आस्रव से युक्त है; इसलिए आठ प्रकार का भी है। जीव,अजीव,आस्रव, बध, संवर, निर्जरा, मोक्ष,पुण्य, पाप इन नौ पदार्थों को जीव विषय करता है; जानता है; इसलिए नौ प्रकार का भी है। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, प्रत्येक वनस्पति, साधारण वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इस तरह दश प्रकार का है।इत्यादि भेद द्वारा जीव का प्ररूपण स्थानाङ्ग मे किया गया है। पुनश्च पुद्गल सामान्य रूप से एक प्रकार, विशेष अपेक्षा से अणु व स्कन्ध के भेद से दो प्रकार, इस तरह कई भेदों से पुद्गल का वर्णन किया गया है। इस प्रकार एक से आदि लेकर एक एक बढ़ता हुआ स्थान इस अंग में वर्णित है।

४-समवायाङ्ग—जिससे जीवादि तत्त्वो का ज्ञान होता है, वह चौथा समवायांग है। इसमें द्रव्य, क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा

समानता वर्णन की गई है। द्रव्य की अपेक्षा धर्मास्तिकाय से अधर्मास्तिकाय समान है। संसारी जीवों से संसारी जीव समान हैं। मुक्त जीवों से मुक्त जीव समान हैं। इत्यादि द्रव्य की अपेक्षा समवाय है। क्षेत्र की अपेक्षा प्रथम नरक पृथ्वी के प्रथम प्रस्तार का सीमन्त नामक इन्द्रबिल, ढाई द्वीप (मनुष्यक्षेत्र) और प्रथम स्वर्ग का प्रथम पटल का ऋजुनामा इन्द्रक विमान, सिद्धशिला, सिद्धक्षेत्र, ये सब समान हैं। तथा सातवीं नरक का अवधिस्थान नामा इन्द्रक बिल, जम्बूद्वीप, सर्वार्थसिद्धि विमान ये सब समान हैं। इत्यादि क्षेत्र समवाय हैं। काल की अपेक्षा एक समय से एक समय समान है। आवली से आवली समान है। प्रथम पृथ्वी के नारकी, भवनवासी देव, और व्यन्तर देवों की आयु समान है। सातवीं पृथ्वी के नारकी और सर्वार्थसिद्धि के देवों की उत्कृष्ट आयु समान है, इत्यादि काल की अपेक्षा समवाय है। भाव की अपेक्षा केवलज्ञान और केवलदर्शन समान हैं इत्यादि भाव समवाय है। इस अंग में समानता दिखलाई गई है।

५—व्याख्याप्रज्ञप्ति—विविध प्रकार के आख्याओं गणधर देव कृत प्रश्नों की प्रज्ञप्ति-विवेचन जिसमें किया गया है, उसे व्याख्याप्रज्ञप्ति कहते हैं। अर्थात् इस अंग में भगवान तीर्थंकर के समीप गणधर देव कृत साठ हजार प्रश्नों के उत्तर का निरूपण किया गया है।

६—नाथ धर्मकथा (ज्ञातृधर्म कथा)—तीन लोक के स्वामी तीर्थंकर, परम भट्टारक के धर्म की कथा का जिसमें वर्णन किया गया है, वह नाथ धर्म कथा नामक छठा अंग है। इसमें जीवादि पदार्थों का स्वभाव वर्णन किया गया है। घातिया कर्म के नाश के अनन्तर केवलज्ञान के साथ उत्पन्न तीर्थंकर नामक पुण्य-प्रकृति के उदय से जिनके महिमा प्रकट हुई है ऐसे तीर्थंकर के—

"पुव्वण्हे मज्झण्हे अवरण्हे मज्झिमाए रत्तीए।
छच्छग्घडियाणिग्गय दिव्वज्झुणी कहइ सुत्तत्थे ॥१॥"

पूर्वाह्न, मध्याह्न अपराह्न और अर्धरात्रि—इन चारों काल में छह छह घड़ी पर्यन्त बारह सभा के मध्य स्वाभाविक दिव्यध्वनि होती है। इनके सिवा दूसरे समय में भी गणधर देव, देवेन्द्र और चक्रवर्ती के प्रश्न के अनन्तर दिव्यध्वनि होती है। और समस्त श्रोताओं को उद्देश करके उत्तम क्षमादि दश प्रकार तथा रत्नत्रय रूप धर्म को कहती है।

अथवा इस छठें अंग का नाम ज्ञातृ धर्म कथा है। इसका अर्थ यह है कि जिज्ञासा पूर्वक गणधर देव के द्वारा किये गये प्रश्नों के अनुसार उत्तर स्वरूप धर्म कथा का वर्णन इस में किया गया है। जो अस्ति नास्ति इत्यादि रूप प्रश्न गणधर देव ने किये हैं उनका उत्तर इस अंग में वर्णित है। अथवा ज्ञाता जो तीर्थंकर, गणधर, इन्द्र, चक्रवर्ती इत्यादि उनकी धर्म सम्बन्धी कथाएँ इसमें पायी जाती हैं; इसलिए इसे ज्ञातृधर्मकथा नाम का अङ्ग कहा है।

७—उपासकाध्ययन—आहारादि दान देकर तथा नित्यपूजनादि द्वारा सङ्घ की आराधना-सेवना करने वाले श्रावक को उपासक कहते हैं। उनका अध्ययन-कथन इसमें किया गया है; इसलिए इसे उपासकाध्ययन कहते हैं। इसमें दार्शनिक, व्रतिक, सामायिक, पोषधोपवास सचित्तविरति, रात्रिभुक्तिविरति, ब्रह्मचर्य, आरम्भनिवृत्ति, परिग्रहनिवृत्ति, अनुमतिविरति, उद्दिष्टविरति, इन गृहस्थ की ग्यारह प्रतिमाओं का अथवा व्रत, शील, आचार, क्रिया, मन्त्रादि का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है।

८—अन्तकृद्दशांग—एक एक तीर्थंकर के तीर्थंकाल में मनुष्यकृत, देवकृत, अचेतन तथा पशुकृत-चार प्रकार के घोर उपसर्ग सहकर इन्द्रादि कृत पूजा-प्रातिहार्य आदि प्रभावना को प्राप्त होकर पाप कर्म का क्षय कर संसार का जो अन्त करते हैं, उन्हें अन्तकृत् कहते हैं, उनका कथन जिस अङ्ग मे किया गया है, उसे अन्तकृद्दशांग कहते हैं। उसमें भट्टारक वर्धमान स्वामी के तीर्थ में नमि, मतङ्ग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यम वाल्मीक, वलीक, निष्कंबिल, पालंवष्ठपुत्र ये दश अन्तकृत केवली हुए हैं। ऐसे ही वृषभादिक प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ में दश दश अंतकृत् केवली होते हैं, उनका वर्णन इस अङ्ग मे किया गया है।

९—अनुत्तरौपपादिकदशांग—उपपाद है प्रयोजन जिनका, उनको औपपादिक कहते हैं। प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ में दश दश महामुनीश्वर दारुण महा उपसर्ग को सहकर प्रातिहार्य (पूजा) प्राप्त करके समाधिपूर्वक प्राण छोड़कर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन अनुत्तर विमानों में उत्पन्न हुए हैं, उनका वर्णन इस अङ्ग में किया गया है; इसलिए इसे अनुत्तरौपपादिक दशांग कहते हैं। परम भट्टारक श्री वर्धमान स्वामी के तीर्थ में ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिक, नन्द, नन्दन, शालिभद्र, अभय, वारिषेण और चिलातपुत्र ये दश महामुनीश्वर घोर उपसर्गों को सहकर इन्द्रादि द्वारा पूजा प्राप्त कर अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार श्री परम भट्टारक वृषभादिक तीर्थंकरों के तीर्थ में दश दश महामुनीश्वरों ने भयङ्कर उपसर्ग सहकर अनुत्तर विमानों में जन्म धारण किया है, उनका परिचय अन्य आगम से जानना चाहिए।

१०—प्रश्न व्याकरण—पूछने वाले पुरुष के प्रश्न का व्याकरण अर्थात् शुभाशुभादि फल रूप व्याख्यान-जिसमें किया गया है; उसे प्रश्न व्याकरण अङ्ग कहते हैं। जिस अङ्ग में प्रश्न कर्त्ता के द्वारा पूछी गई वस्तु, मुट्ठी में रखी वस्तु, धन, धान्य, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, जीवन, मरण, जय, पराजय इत्यादि के विषय में, अतीत अनागत वर्त्तमान सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर का उपायरूप व्याख्यान किया गया है, उसे प्रश्न व्याकरण नाम का दशवां अङ्ग कहते हैं।

अथवा शिष्य के प्रश्नानुसार १. आक्षेपिणी, २. विक्षेपिणी, ३. संवेजनी, ४. निर्वेजनी ये चार कथाएँ भी इस प्रश्न

व्याकरण अङ्ग में प्रकट की गई हैं। तीर्थंकरादि का चरित्र वर्णन करने वाला प्रथमानुयोग, लोक का स्वरूप प्रतिपादक करणानुयोग, श्रावक-मुनि धर्म का वर्णन करने वाला चरणानुयोग तथा पञ्चास्तिकाय आदि तत्त्वों का निरूपण करने वाला द्रव्यानुयोग इन चारों अनुयोगों का कथन और परमत की शङ्का का निराकरण आक्षेपिणी कथा है। प्रमाण और नय रूप युक्ति के बल से सर्वथा एकान्तवादी परमतावलम्बियों से प्रतिपादित अर्थ का खंडन करना विक्षेपिणी कथा है। रत्नत्रय धर्म के अनुष्ठान के फलस्वरूप तीर्थंकरादि का ऐश्वर्य, प्रभाव, तेज, वीर्य, ज्ञान सुखादि का प्रतिपादन करने वाली संवेजनी कथा है। तथा संसार देह भोग राग से उत्पन्न हुए दुष्कर्मों के फल नरकादि के दुःख, दुष्कुल में उत्पत्ति, दरिद्रता, अपमानादि के दुःखादि के वर्णन द्वारा वैराग्य उत्पादक कथा को निर्वेजनी कथा कहते हैं। इस प्रकार की कथाओं का व्याख्यान जिसमें किया गया है, उसे प्रश्न व्याकरण नामा अङ्ग कहते हैं।

११—विपाकसूत्र—कर्म के उदय रूप विपाक के सूत्रण—वर्णन करने वाले अङ्ग को विपाकसूत्र अङ्ग कहते हैं। इसमें द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के निमित्त से शुभाशुभ कर्मों के तीव्र मध्यम जघन्य अनुभाग का फलदानरूप परिणमन जो उदय है, उसका वर्णन किया गया है। इसलिए इसका नाम विपाक सूत्र कहा है।

अब इन ग्यारह अङ्गों में से प्रत्येक अङ्ग में जितने मध्यम पद हैं, उनकी संख्या बताते हैं :—

> अठ्ठारस छत्तीसं बादालं अडकडी अडबिं छप्पएणं।
> सत्तरि अठ्ठावीसं चोद्दालं सोलससहस्सा ॥ ३५७ ॥
> इगिदुगपंचेयारं तिवीसदुतिणउदिलक्ख तुरियादी।
> चुलसीदिलक्खमेया कोडी य विवागसुत्तम्हि ॥ ३५८ ॥ गो० जी०

अर्थ—पहले आचारांग में १८००० पद हैं। दूसरे सूत्रकृतांग मे ३६००० हजार, तीसरे स्थानांग मे ४२०००, चौथे समवायांग में १६४०००, पांचवें व्याख्याप्रज्ञप्ति में २२८०००, छठे ज्ञातृ धर्म कथा में ५५६०००, ७वें उपासकाध्ययनांग में ११७००००, ८वें अंतकृद्दशांग में २३२८०००, ९वें अनुत्तरौपपादिक में ९२४४०००, १०वें प्रश्न व्याकरण मे ९३१६०००, ११वें विपाकसूत्र मे १८४००००० इस प्रकार ग्यारह अङ्गों में पदों की संख्या जाननी चाहिए।

ग्यारह अंगों के सम्पूर्ण पदों का जोड़

वापणनरनोनाणं एयारंगे जुदी हु वादम्हि ।
कनजतजमताननमं जनकनजयसीम बाहिर वण्णा ॥ ३५६ ॥ गो० जी०

अर्थ—इस गाथा में तथा आगे भी अक्षरों की संज्ञा से अङ्गों के पदों की संख्या कही गई है।

"कटपय पुरस्थवर्णैर्नवनवपंचाष्टाक्षरैः क्रमशः।
स्वरञन शून्यं संख्या मात्रोपरिमाक्षरं त्याज्यम् ॥ १ ॥

अर्थात्—इस सूत्र द्वारा ककार से लेकर झकार तक नौ अक्षरों की क्रम से एक दो तीन आदि नव पर्यन्त संख्या होती है। जैसे—ककार का १ अङ्क, खकार का २ अङ्क, गकार का ३ अङ्क, घकार का ४ अङ्क, ङकार का ५ अङ्क, चकार का ६ अङ्क, छकार का ७ अङ्क, जकार का ८ अङ्क, और झकार का ६ अङ्क लेना चाहिए। इसी प्रकार टकार से लेकर धकार तक नौ अक्षरों की क्रम से एक दो तीन आदि नौ तक अङ्क संख्या ली जाती है। तथा पकार से लेकर मकार पर्यन्त पांच अक्षरों से क्रमशः एक दो आदि पांच पर्यन्त अङ्कों की संख्या ग्रहण की जाती है। और यकार से हकार पर्यन्त आठ अक्षरों से क्रमशः एक दो आदि लेकर आठ पर्यन्त अङ्कों की संख्या मानी जाती है। एवं स्वर, ञ वर्ण नवर्ण की शून्य (विन्दु) संख्या ली जाती है। और मात्रा तथा संयुक्ताक्षर में ऊपर का अक्षर छोड़ दिया जाता है, अर्थात् इनका कुछ भी अङ्क नहीं लिया जाता है। अतः यहां पर "वापणनरनोनानं" इन अक्षरों से चार, एक, पांच, शून्य दो, शून्य, शून्य, शून्य ये अङ्क होते हैं। इनके चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार ४१५०२००० पद ग्यारह अङ्गों के जोड़ देने पर होते हैं।

१२—दृष्टिवाद—नाम बारहवें अङ्ग में "कनजत जमताननमं" एक, शून्य, आठ, छह, आठ, पांच, छह, शून्य, शून्य, पांच इन अङ्कों से एक सौ आठ करोड़, अड़ सठ लाख, छप्पन हजार, १०८,६८,५६,००५ पद हैं। दृष्टि नाम ३६३ मिथ्यादर्शनों का वाद—अनुवाद और निराकरण जिस अङ्ग में किया गया है, उसको दृष्टिवाद नामा अङ्ग कहते हैं। तीनसौ तिरेसठ मिथ्यादृष्टियों मे एकसौ अस्सी क्रियावादी, चौरासी अक्रियावादी, सरसठ अज्ञान मिथ्यादृष्टि और बत्तीस वैनयिक दृष्टि हैं। इन में क्रिया कांड को मोक्ष का साधन मानने वाले कौत्कल, काठे-विद्धि, कौशिक, हरिश्मश्रु, मांधयिक, रोमश, हारीत, मुड, आश्वलायन आदि १८० क्रियावादी कुदृष्टि है। मरीचि, कपिल, उलूक, गार्ग्य व्याघ्रभूति, वाड्वलि, माठर, मौद्गलायन आदि ज्ञान को मोक्ष का प्रधान अङ्ग मानने वाले ८४ अक्रियावादी हैं। शाकल्य, वाल्कलि, कुथुमि, सात्यमुग्री, नारायण, कंठ, माध्यंदिन, मौद, पैप्पलाद, बादरायण, स्विष्टिक्य, दैत्यकायन, वसु, जैमिनि आदि अज्ञानमिथ्यादृष्टि के ६७ भेद हैं। वशिष्ठ,

पाराशर, जतुष्कर्ण, वाल्मीकि, रोमहर्षि, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, उपमन्यु, ऐन्द्रदत्त, अगस्ति, इत्यादि विनय को ही मुख्य धर्म मानने वाले विनयवादियो के ३२ भेद हैं। सब मिलकर ३६३ कुवादी मिथ्यादृष्टियों के भेद होते हैं।

अङ्गबाह्य जो सामायिकादि शास्त्र हैं, उनमें "जनकनजयसीम" आठ, शून्य, एक, शून्य, आठ, एक, सात, पांच, ये अङ्क हैं, उनके आठ करोड़, एक लाख, आठ हजार, एक सौ पिचहत्तर सख्याप्रमाण अक्षर जानना चाहिए।

बारहवें अङ्ग के भेद

चंदरविजंबूदवीयदीवसमुद्दयविवाहपण्णत्ती।
परियम्मं पंचविहं सुत्तं पढमाणिजोगमदो ॥ ३६० ॥
पुव्वं जलथलमाया आगासयरूवगयमिमा पंच।
भेदा हु चूलियाए तेसु पमाणं इणं कमसो ॥ ३६१ ॥ गो० जी०

अर्थ—दृष्टिवाद नामक बारहवें अङ्ग में पांच अधिकार हैं। १. परिकर्म, २. सूत्र, ३. प्रथमानुयोग, ४. पूर्वगत, और ५. चूलिका। जिसमें जोड़ बाकी गुणाकार, भागाकारादि गणित के करणसूत्रों का प्रतिपादन किया गया है, उसे परिकर्म सूत्र कहते हैं। परिकर्म पांच प्रकार का है। १. चन्द्रप्रज्ञप्ति, २. सूर्यप्रज्ञप्ति, ३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ४. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति।

चन्द्रप्रज्ञप्ति में चन्द्रमा के विमान, आयु, परिवार, ऋद्धि, गमन हीन, वृद्धि, सकलग्रहण, अर्धग्रहण, चतुर्थांशग्रहण इत्यादि का निरूपण किया गया है।

सूर्य प्रज्ञप्ति मे सूर्य की आयु, मण्डल, परिवार, ऋद्धि, गमनप्रमाण ग्रहण आदि का वर्णन है।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में जम्बू द्वीप सम्बन्धी मेरुपर्वत कुलाचल, ह्रद, क्षेत्र, वेदिका, वनखंड व्यन्तरो के आवासस्थान, महानदी आदि का निरूपण है।

द्वीपसागर प्रज्ञप्ति में असंख्यात द्वीप समुद्रों का स्वरूप और वहाँ रहने वाले ज्योतिषी देव, व्यन्तर और भवनवासी देवों के

आवासस्थान, और वहां पर जो अकृत्रिम जिनमन्दिर हैं; उनका निरूपण है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति में रूपी, अरूपी, जीव, अजीव आदि पदार्थों का तथा भव्य, अभव्य के भेद तथा प्रमाण के लक्षण आदि का तथा अनन्तर सिद्ध, परम्परासिद्धों का और अन्य वस्तुओं का वर्णन है। इस प्रकार परिकर्म के पांच भेद कहे गये हैं।

सूत्र—सूत्रयति अर्थात् मिथ्यादृष्टियों के भेदों को सूचित करने वाले आगम को सूत्र कहते हैं। इसमें जीव अबन्धक है, अकर्ता है, निर्गुण है, अभोक्ता है, स्व और परपदार्थ का प्रकाश करने वाला है, जीव अस्ति रूप ही है, नास्तिरूप ही है इत्यादि का तथा क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद, विनयवाद, कुदृष्टियों का और तीन सौ तिरेसठ मिथ्यादृष्टियों का पूर्व पक्ष लेकर निरूपण किया गया है।

प्रथमानुयोग—प्रथम अर्थात् मिथ्यादृष्टि अव्रती अथवा अव्युत्पन्न (ज्ञानरहित) को उपदेश देने के निमित्त प्रवृत्ति करने वाले अनुयोग अधिकार को प्रथमानुयोग कहते हैं। इसमें चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण इन तिरेसठ शलाका के पुरुषों का पुराण वर्णन किया है।

पूर्वगत के चौदह भेद आगे विस्तार पूर्वक कहेंगे।

चूलिका के पांच भेद—१. जलगता, २. स्थलगता, ३. मायागता, ४. रूपगता, और ५. आकाशगता।

१ जलगता चूलिका में जल का स्तंभन करना, जल में गमन करना, अग्नि का स्तंभन करना, अग्नि का भक्षण करना, अग्नि में प्रवेश करना इत्यादि क्रियाओं के कारण भूत मन्त्र तन्त्र तपश्चरणादि का वर्णन किया गया है।

२ स्थलगता चूलिका में मेरुपर्वत, भूमि आदि में प्रवेश करना, शीघ्र गमन करना, इत्यादि क्रिया के कारण भूत मन्त्र तन्त्र तपश्चरणादि का विवेचन किया गया है।

३ मायागता चूलिका में मायामयी इन्द्रजाल, विक्रिया के कारण भूत मन्त्र तन्त्र तपश्चरणादि का प्रतिपादन किया गया है।

४ रूपगता चूलिका में सिंह, हाथी, घोड़ा वृषभ, हरिण, मनुष्य, व्याघ्र इत्यादि नाना प्रकार के रूप परिवर्तन कर अनेक रूप धारण करने के कारण भूत मन्त्र तन्त्र तपश्चरण आदि का निरूपण किया गया है। अथवा चित्र, काठ, लेप्यादि का लक्षण, अथवा धातु रसायन खनिज पदार्थों आदि का स्वरूप निरूपण किया गया है।

५ आकाशगता चूलिका में आकाश में गमन करने के कारण भूत मन्त्र तन्त्र तपश्चरणादि का वर्णन किया गया है।

अब इनके पदों का प्रमाण दिखाते हैं।

गतनम मनगं गोरम मरगत जवगातनोननं जजलक्खा।
मननन धममननोननमं रनधजधराननजलादी ॥ ३६३ ॥
याजकनामेनाननमेदाणि पदाणि होंति परिकम्मे।
कानवधिवाचनाननमेसो पुण चूलियाजोगो ॥ ३६४ ॥ गो० जी०

अर्थ—पूर्वोक्त विधान से अक्षर संज्ञा द्वारा अङ्क कहे गये हैं, इसलिए एक एक अक्षर से एक एक अङ्क पूर्व की भांति समझ लेना चाहिए। चन्द्रप्रज्ञप्ति मे 'गतनमनोनन' छत्तीस लाख पांच हजार ३६०५००० पद हैं। सूर्य प्रज्ञप्ति में 'मनगंनोननं' पांच लाख तीन हजार ५०३००० पद हैं। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे 'गोरमनोननं' तीन लाख पचीस हजार ३२५००० पद हैं। द्वीपसागर प्रज्ञप्ति मे 'मरगतनोननं' बावन लाख छत्तीस हजार ५२३६००० पद हैं। व्याख्याप्रज्ञप्ति मे 'जवगातनोननं' चोरासी लाख छत्तीस हजार ८४३६००० पद हैं। सूत्र मे 'जजलक्खा' अठ्यासी लाख ८८००,००० पद हैं। प्रथमानुयोग मे 'मननन' पाच हजार ५००० पद हैं। सम्पूर्ण चौदह पूर्वों मे 'धममननोननमं' पिच्यानवे करोड, पचास लाख, पाच ९५५०००००५ पद हैं। जलगतादि पाचो चूलिकाओं मे प्रत्येक के 'रनधजधरानन' दो करोड़, नौ लाख, नवासी हजार, दो सौ २०९८९२०० पद हैं। चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि पाच प्रकार के परिकर्म के पदों का जोड़ 'याजकनामेनान' एक करोड़ इक्यासी लाख पांच हजार १८१०५००० पद हैं। पाचो चूलिकाओ का जोड 'कानवधिवाचनाननं' दस करोड़, उनचास लाख, छियालीस हजार १०४९४६००० पद हैं।

चोदह पूर्वों में प्रत्येक पूर्व के पदो की संख्या बताते हैं—

एयारह दाल पणतीस तीस पएणास पएण तरसदं।
णउदी दुदाल पुव्वे पणवएणा तेरससयाइं ॥ ३६५ ॥
छस्सय पएणासाइं चउसयपएणास छसयपणुवीसा।
बिहि लक्खेहि दु गुणिया पंचम रूऊण छज्जुदा छट्ठे ॥ ३६६ ॥ गो० जी०

१ उत्पादपूर्व द्रव्य के उत्पाद व्यय ध्रौव्य आदि धर्मों का पूरक उत्पाद पूर्व है, उसमें जीवादि द्रव्यों के नाना नयों की अपेक्षा क्रम और युगपत होने वाले उत्पाद व्यय व ध्रौव्य ये तीन धर्म त्रिकाल सम्बन्धी नौ धर्म होते हैं। उन धर्मों से युक्त द्रव्य भी नौ प्रकार का होता है।

१. उत्पन्न हुआ, २. उत्पन्न हो रहा है, ३. उत्पन्न होगा, ४. नष्ट हुआ, ५. नष्ट हो रहा है, ६. नष्ट होगा, ७. स्थिर हुआ, ८. स्थिर है, ९. स्थिर रहेगा। इस प्रकार द्रव्य नौ प्रकार का है। इन उत्पन्न आदि में से प्रत्येक धर्म के नौ नौ भेद होते हैं, इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य के इक्यासी भेद होते हैं। इनका वर्णन करने वाला उत्पाद पूर्व है, इसमें एक करोड़ पद होते हैं।

२ आग्रायणीयपूर्व—द्वादशांग में अग्र प्रधान भूत वस्तु का अयन–ज्ञान है प्रयोजन जिसका, उसको आग्रायणीय पूर्व कहते हैं। उसमें सात सौ नय और दुर्नय, पञ्चास्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ आदि का वर्णन है। इसमें ९६००००० पद हैं।

३ वीर्यानुवादपूर्व—जिसमें जीवादिकों के वीर्य (सामर्थ्य) का वर्णन है, उसे वीर्यानुवाद पूर्व कहते हैं। उसमें आत्मा का वीर्य, पर का वीर्य, उभय का वीर्य, क्षेत्र का वीर्य, काल का वीर्य, भाव का वीर्य, तप का वीर्य, इत्यादि समस्त द्रव्य गुण और पर्याय के सामर्थ्य का वर्णन है। इसमें सत्तर लाख पद हैं।

४ अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व—जिसमें अस्ति नास्ति आदि धर्मों की प्ररूपणा की गई है, उसे अस्तिनास्तिप्रवाद कहते हैं। इसमें जीवादि वस्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा स्यात् अस्तिरूप है, तथा परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा स्यात् नास्तिरूप है। स्व–द्रव्य क्षेत्र काल भाव और पर–द्रव्य क्षेत्र काल भाव दोनों की क्रम से विवक्षा करने पर जीवादि वस्तु स्यात् अस्ति और नास्ति रूप है। स्व–द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव की तथा एक साथ स्वद्रव्यादि और परद्रव्यादि चतुष्टय की विवक्षा करने पर जीवादि वस्तु स्यात् अस्ति और अवक्तव्य है। परद्रव्यादि चतुष्टय की तथा एक साथ स्वद्रव्यादि चतुष्टय व परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से जीवादि वस्तु स्यात् नास्ति और अवक्तव्य है। तथा स्वद्रव्यादि चतुष्टय और परद्रव्यादि चतुष्टय इन दोनों की क्रमशः विवक्षा से जीवादि वस्तु स्यात् अस्ति नास्ति रूप तथा स्वद्रव्यादि चतुष्टय और पर–द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से अवक्तव्य होने से वस्तु स्यात् अस्तिनास्ति और अवक्तव्य रूप होती है। जैसे अस्ति नास्ति धर्म की अपेक्षा सात भेद कहे गये हैं, वैसे ही एकानेक धर्म की अपेक्षा भी सात भङ्ग होते हैं। अभेद विवक्षा से जीवादि वस्तु एक है, और भेद विवक्षा से वही वस्तु अनेक रूप होती है। क्रमशः भेद अभेद की विवक्षा से वस्तु एकानेक रूप है। युगपत् भेद अभेद की विवक्षा से वस्तु कही नहीं जाती; इसलिए अवक्तव्य है। अभेद की विवक्षा तथा युगपत् भेदाभेद की विवक्षा से एक अवक्तव्य रूप है। भेद विवक्षा तथा युगपत् भेदाभेद की विवक्षा से वस्तु अनेक अवक्तव्य रूप है। क्रमशः भेदाभेद की विवक्षा तथा युगपत् भेदाभेद की विवक्षा से वस्तु एकानेक

अवक्तव्य रूप है। इसी प्रकार नित्यानित्यादि अनन्त धर्मों के सात सात भङ्ग होते हैं। इन सप्त भङ्गों में एक एक धर्म के तीन तीन भङ्ग—अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य हैं। द्विसंयोगी तीन भङ्ग—अस्तिनास्ति, अस्तिअवक्तव्य और नास्तिअवक्तव्य हैं। त्रिसंयोगी अस्तिनास्तिअवक्तव्य यह एक भङ्ग है। इन सप्त भङ्गों के समुदाय को सप्त भङ्गी कहते हैं।

प्रश्न के वश एक ही वस्तु में प्रयोजन के अनुसार अविरोध से सम्भव होने वाले नाना प्रकार के नय की मुख्यता और गौणता से वस्तु का निरूपण किया जाता है। स्याद् पद का अर्थ कथंचित् है, यह सर्वथा नियमरूप एकान्त का निषेध करके अनेकान्त धर्म का प्रकट करने वाला है। इस अस्तिनास्तिप्रवाद नामक अङ्ग में साठ लाख ६०००००० पद हैं।

५—ज्ञानप्रवादपूर्व—इसमें ज्ञान का निरूपण किया गया है। मति श्रुत अवधि मनःपर्यय और केवल इन पांच सम्यग्ज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत व विभग (कुवधि) इन तीन मिथ्या ज्ञान के स्वरूप, संख्या, विषय और फल की अपेक्षा से ज्ञान की प्रमाणता (सत्यता) और अप्रमाणता (असत्यता) का भिन्न २ वर्णन किया गया है। इसके एक कम एक करोड़ ९९९९९९९ पद हैं।

६—सत्यप्रवाद—इसमें सत्य का निरूपण किया गया है। वचनगुप्ति, वचन संस्कार के कारण, वचन के प्रयोग, बारह प्रकार की भाषा, वक्ताओं के भेद, अनेक प्रकार के मृषा (मिथ्या) वचन और दश प्रकार के सत्यवचन का वर्णन है।

वचनगुप्ति—असत्य न बोलना अथवा मौनधारण करना वचनगुप्ति है।

वचन संकार के कारण—वचन की उत्पत्ति के कारण दो हैं। स्थान और प्रयत्न। जिन मुख के अवयवों से शब्दों का उच्चारण होता है, उसे स्थान कहते हैं। वे आठ हैं—उर (हृदय) कंठ, मूर्धा, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, तालु और ओष्ठ। जैसे—अकार, कवर्ग, हकार और विसर्ग का स्थान कण्ठ है, इत्यादि अन्य स्थान भी व्याकरण शास्त्र से जानना चाहिए। जिन क्रियाओं से शब्द उच्चारण होता है, उन्हें प्रयत्न कहते हैं, वे पांच हैं—स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, ईषद्विवृत, विवृत और संवृत। जैसे—ककार से लेकर मकार पर्यन्त २५ वर्णों का स्पृष्ट प्रयत्न है। य र ल व इन चार वर्णों का प्रयत्न ईषत्स्पृष्ट है। श ष स ह इन वर्णों का ईषद्विवृत प्रयत्न है। स्वरों का विवृत प्रयत्न है। ह्रस्व अकार का प्रयोग करते समय संवृत प्रयत्न माना गया है। उच्चारण करते समय मुख के अवयवों का दूसरे मुख के अवयवों के साथ स्पर्श होना स्पृष्ट प्रयत्न है। थोड़ा स्पर्श न होना ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न। मुख के भागों का थोड़ा खुलना ईषद्विवृत प्रयत्न है। मुख के अवयवों का खुलना विवृत प्रयत्न है और इन का नहीं खुलना अर्थात् मुख के अवयवों का संवरण होना संवृत प्रयत्न है।

वचन प्रयोग—शिष्ट वचन (उत्तम वचनें) और दुष्ट वचन (बुरावचन) इस तरह वचन प्रयोग दो प्रकार का है। अथवा संस्कृत प्राकृतादि का व्याकरण शास्त्र, वचन प्रयोग है। वचन के बारह भेद निम्न प्रकार हैं।

१—अभ्याख्यान—इसने ऐसा किया, इस प्रकार अनिष्ट कथन करना अभ्याख्यान है।

२—कलह वचन—आपस मे विरोध उत्पन्न करने वाले वचन को कलह वचन कहते हैं।

३—पैशुन्य—पर के दोष प्रकट करने को (चुगली खाने को) पैशुन्य वचन कहते हैं।

४—अबद्ध-प्रलापवचन—धर्म, अर्थ काम और मोक्ष से सम्बन्ध न रखने वाले वचन को अबद्धप्रलाप वचन कहते हैं।

५—रतिवचन—इन्द्रिय के विषयों में प्रेम उत्पन्न करने वाले वचन को रतिवचन कहते हैं।

६—अरतिवचन—विषयो में अरति उत्पन्न करने वाले वचन को अरतिवचन कहते हैं।

७—उपधिवचन—परिग्रह के उपार्जन और संरक्षण में आसक्ति उत्पन्न करने वाले वचन को उपधि वचन कहते हैं।

८—निकृतिवचन—व्यवहार मे ठगने के वचन को निकृतिवचन कहते हैं।

९—अप्रणतिवचन—तप ज्ञानादि में अविनय उत्पन्न करने वाले वचन को अप्रणतिवचन कहते हैं।

१०—मोषवचन—चोरी के कारण रूप वचन को मोष वचन कहते हैं।

११—सम्यग्दर्शनवचन—सत्यमार्ग का उपदेश करने वाले वचन को सम्यग्दर्शन वचन कहते हैं।

१२—मिथ्यादर्शन वचन—मिथ्या मार्ग का उपदेश करने वाले वचन को मिथ्यादर्शन वचन कहते हैं।

उक्त प्रकार की १२-भाषाओ के बोलने वाले द्वीन्द्रिय से लेकर सञ्ज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीव हैं। अर्थात् इन बारह प्रकार की भाषाओं को व्यक्त रूप या अव्यक्त रूप से बोलने के कारण उनके वक्ता भी बारह प्रकार के हैं।

असत्यवचन द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा अनेक प्रकार का है। जनपद सत्य, स्थापना सत्य, आदि दश प्रकार के सत्य का विवेचन

"क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्" ।तत्वार्थ सूत्र १।२२

अर्थ—क्षयोपशम के निमित्त से होने वाला अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यंचों के होता है। वह छह प्रकार का है। १ अनुगामी, २ अननुगामी, ३ अवस्थित, ४ अनवस्थित, ५ वर्द्धमान और ६ हीयमान।

१—अनुगामी—जो अवधिज्ञान अपने उत्पन्न करने वाले स्वामी जीव के साथ गमन करे, उसे अनुगामी अवधिज्ञान कहते हैं। इसके तीन भेद हैं। १ क्षेत्रानुगामी, २ भवानुगामी और ३ उभयानुगामी।

१-क्षेत्रानुगामी—जो ज्ञान भरतादि क्षेत्र मे उत्पन्न हुआ और विदेहादि अन्य क्षेत्र में विहार करने वाले जीव के साथ गमन करता है, परन्तु मर कर अन्य भव मे जाने वाले जीव के साथ नहीं जाता है, उसे क्षेत्रानुगामी अवधिज्ञान कहते हैं।

२-भवानुगामी—जो ज्ञान जिस भव मे उत्पन्न हुआ उससे अन्य भव में गमन करने वाले अपने स्वामी जीव के साथ गमन करता है, उसे भवानुगामी अवधिज्ञान कहते हैं।

३-उभयानुगामी—जो ज्ञान जिस भव और जिस क्षेत्र में उत्पन्न हुआ,उससे अन्य देवादि भव और विदेहादि क्षेत्र में गमन करने वाले अपने स्वामी जीव के साथ गमन करता है, वह उभयानुगामी अवधिज्ञान कहलाता है।

२—अननुगामी—जो अवधिज्ञान अपने उत्पन्न करने वाले स्वामी जीव के साथ नहीं जाता है, उसे अननुगामी अवधिज्ञान कहते हैं। उसके भी तीन भेद हैं। १ क्षेत्राननुगामी, २ भवाननुगामी, ३ उभयाननुगामी।

१-क्षेत्राननुगामी—जो अवधिज्ञान जिस क्षेत्र मे उत्पन्न हुआ, उसी क्षेत्र में नष्ट हो जाता है, दूसरे क्षेत्र में विहार करने वाले अपने स्वामी जीव के साथ नहीं जाता है। अन्य में जावे या न जावे, उसे क्षेत्राननुगामी कहते हैं।

२-भवाननुगामी—जो अवधिज्ञान अन्य भव में साथ नहीं जाता है। जिस भव में उत्पन्न हुआ, उसी भव में विनष्ट हो जाता है। अन्य भव मे जावे या न जावे, उसे भवाननुगामी अवधिज्ञान कहते हैं।

३-उभयाननुगामी—जो अवधिज्ञान अन्य क्षेत्र में और अन्य भव में साथ नहीं जाता, वहीं रह जाता है। उसे उभयाननुगामी अवधिज्ञान कहते हैं।

से सिद्ध हुए प्रत्यक्ष व परोक्ष के लक्षण के भेद से इन दोनों मे भेद है।

श्रीमत्समन्तभद्रस्वामी ने भी कहा है—

स्याद्वादकेवलज्ञानेसर्वतत्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥ देवागम०॥

अर्थ—स्याद्वाद (श्रुतज्ञान) और केवल ज्ञान ये दोनो सर्वतत्व के प्रकाशक हैं। परन्तु प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से इन में भेद प्रतीत होता है। इन दोनो प्रमाणो मे से किसी एक को ही मानने से अवस्तुपना प्राप्त होता है। अर्थात् दोनो में से किसी एक का अभाव मानने पर दोनो का अभाव सिद्ध होता है।

अवधिज्ञान का स्वरूप और उसके भेदः

द्रव्य क्षेत्र काल भाव की मर्यादा लिये हुए पुद्गल द्रव्य को प्रत्यक्ष जानने वाले ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान मति, श्रुत और केवलज्ञान की तरह अपरिमित विषय वाला नहीं है, किन्तु परिमित पदार्थ को विषय करने वाला है। इस के दो भेद हैं। भव प्रत्यय और गुण प्रत्यय। (१) जो ज्ञान भव (देवादि पर्याय) के निमित्त से उत्पन्न होता है, उसे भव प्रत्यय कहते हैं। (२) जो सम्यग्दर्शनादि गुण से उत्पन्न होता है उसे गुण प्रत्यय कहते हैं।

भवप्रत्यय अवधि—यह देव नारकी और किन्हीं तीर्थंकरों के होता है। जो देव और नारक भव धारण करता है उस के भव धारण के साथ २ अवधि ज्ञान होता है। तथा जिन तीर्थंकरो के अवधिज्ञान पूर्वभव से साथ आता है; उन तीर्थंकरों के अवधिज्ञान को भी भवप्रत्यय अवधि कहते हैं। भवप्रत्यय अवधि ज्ञान में दर्शन विशुद्धि आदि गुण का सद्भाव होने पर भी भव की ही मुख्यता होने के कारण भव प्रत्यय ही माना गया है। यह सर्वांग से उत्पन्न होता है। क्योंकि सम्पूर्ण आत्मा के प्रदेशों पर स्थित अवधि ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है; अतः सर्वांग में क्षयोपशम होने से यह सर्वांग से उत्पन्न होता है।

गुणप्रत्यय अवधि—सम्यग्दर्शनादिगुण तथा तपश्चरणादि निमित्त से जो अवधि ज्ञान उत्पन्न होता है, वह गुण प्रत्यय अवधि ज्ञान है। इसका क्षयोपशम नाभि के ऊपर शंख, पद्म, स्वस्तिक, मत्स्य, कलशादि शुभ चिह्न युक्त आत्मा के प्रदेश में रहने वाले अवधिज्ञान और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। यह पर्याप्त मनुष्यों तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंचों के होता है।

११–महाकल्प्यं प्रकीर्णक—महापुरुषों के योग्य आचरण का वर्णन जिसमें किया गया है, उसे महाकल्य कहते हैं। इसमें जिन–कल्पी महामुनीश्वरो के उत्कृष्ट सहननादि के योग्य द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव में होने वाले प्रतिमायोग वा आतपनयोग, अभ्रावकाशयोग, वृक्षतलरूप त्रिकालयोग इत्यादिक आचरण का प्ररूपण किया गया है। तथा स्थविरकल्पी साधुओ की दीक्षा, शिक्षा, संघ का पोषण, यथा योग्य शरीर समाधान रूप आत्म संस्कार, सल्लेखना, उत्तमार्थ स्थान को प्राप्त उत्कृष्ट आराधना, आदि का विशेष निरूपण किया गया है।

१२–पुण्डरीक प्रकीर्णक—इसमें भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष, कल्पवासी विमानो में उत्पत्ति के कारण, दान, पूजा, तपश्चरण अकामनिर्जरा, सम्यक्त्व, सयमादि के विधान का तथा वहा के उत्पाद, स्थान, वैभवादि का वर्णन किया गया है।

१३–महापुण्डरीक प्रकीर्णक—इसमें महर्द्धिक इन्द्र, प्रतीन्द्रादि मे उत्पत्ति के कारण, तपविशेषादि का आचरण निरूपण किया गया है।

१४–निषिद्धिका प्रकीर्णक—प्रमाद जन्य दोषों का निराकरण निषिद्धिका है। यह प्रायश्चित्त शास्त्र है। इसमें प्रमाद जन्य दोषों की शुद्धि के लिए अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त का वर्णन है। इस प्रकार चौदह प्रकार के अंगवाह्य श्रुत ज्ञान का निरूपण किया है।

श्रुतज्ञान की महिमा

सुदकेवलं च णाणं दोण्णिवि सरिसाणि होंति बोहादो।
सुदणाणं तु परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं ॥ ३६६ ॥ गो० जी०

अर्थ—श्रुतज्ञान और केवल ज्ञान दोनो समस्त वस्तु के द्रव्य, गुण और पर्यायों को जानने के कारण समान हैं। अन्तर यह है कि श्रुतज्ञान परोक्ष है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है।

भावार्थ—परम उत्कृष्टता को प्राप्त हुआ भी श्रुतज्ञान अमूर्त्त पदार्थों मे, अर्थ पर्यायों मे तथा अन्य सूक्ष्म अंशो में स्पष्टरूप से प्रवृत्ति नहीं करता है, अर्थात् उन्हें स्पष्ट नहीं जानता है। तथा मूर्त्त पदार्थों को, व्यञ्जन पर्यायों को तथा स्थूल अंशो को, जो कि इस ज्ञान का विषय है, उनको अवधिज्ञानादि की तरह प्रत्यक्ष नहीं जानता है। समस्त आवरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न हुआ केवलज्ञान मूर्त्त अमूर्त द्रव्यो को, अर्थ व्यञ्जन पर्यायो को तथा सूक्ष्म स्थूल सब अंशो को विषय करता है और प्रत्यक्ष (स्पष्ट) जानता है। आत्मा के ही द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं और जो इन्द्रियादि परपदार्थ की सहायता से उत्पन्न होता है, उसे परोक्ष कहते हैं। इस निरुक्ति

वाला शास्त्र वन्दना प्रकीर्णक है।

४—प्रतिक्रमण प्रकीर्णक—दिन रात आदि मे प्रमाद से किये गये दोषो का जिससे निराकरण किया जाता है, उसे प्रतिक्रमण कहते हैं। वह प्रतिक्रमण सात प्रकार का है। १ दैवसिक, २ रात्रिक, ३ पाक्षिक, ४ चातुर्मासिक, ५ सांवत्सरिक, ६ ऐर्यापथिक, ७ औत्तमार्थिक। इनका स्वरूप प्रथम किरण (पृ० नं. १४०) में कह आये हैं।

भरतादि क्षेत्र, दुःषमादिकाल, छह संहननो से युक्त स्थिर व अस्थिर आदि पुरुषों के भेदो का आश्रय लेकर उस प्रतिक्रमण के निरूपण करने वाले शास्त्र को प्रतिक्रमण नामा प्रकीर्णक कहते हैं।

५—वैनयिक प्रकीर्णक—इस मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और उपचार इन पांच विनयो का प्रतिपादन किया गया है।

६—कृतिकर्म प्रकीर्णक—कृति (क्रिया) के कर्म (विधान) का जिस मे वर्णन किया जाता है, उसे कृतिकर्म कहते हैं। इस में अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, बहुश्रुत (उपाध्याय), साधु, जिनधर्म, जिनमन्दिर, जिनप्रतिमा और जिनवाणी इन नव देवताओं की वन्दना के निमित्त आधीन होना आत्माधीनता है। तथा गृह्य भ्रमण रूप तीन प्रदक्षिणा, भूमि पर अंग लगाकर तीन नमस्कार और सिर झुकाकर चार नमस्कार करना तथा हाथ जोड़ अंजलि को चारों ओर घुमाना रूप बारह आवर्त्तन आदि क्रियाओं के विधान का निरूपण किया गया है।

७—दशवैकालीक प्रकीर्णक—विशिष्ट काल में होने वाली क्रियाओं को वैकाल कहते हैं, और दश वैकाल का जिसमें वर्णन है उसे दश वैकालिक कहते हैं। इस मे मुनियों का आचार और आहार की शुद्धि और उस के स्वरूप का वर्णन किया गया है।

८—उत्तराध्ययन प्रकीर्णक—इस में चार प्रकार के उपसर्गों का,बाईस परीषहों को सहने की विधि का तथा उस से जन्य फल का और इस प्रश्न का ऐसा उत्तर होता है इस प्रकार उत्तर का विधान वर्णन किया गया है।

९—कल्प्य व्यवहारप्रकीर्णक—कल्प्य (योग्य) व्यवहार (अनुष्ठान-आचरण) का जिस में वर्णन है, उसे कल्प्य व्यवहार कहते हैं। इस में साधुओं के योग्य आचरण का विधान है, तथा अयोग्य आचरण होने पर प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

१०—कल्प्याकल्प्यप्रकीर्णक—कल्प्य (योग्य) और अकल्प्य (अयोग्य) का जिस मे वर्णन है उसे कल्प्याकल्प्य कहते हैं। इस में द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा मुनीश्वरो के लिए यह योग्य और यह अयोग्य है इस का विभाग किया गया है।

स्वरूप और उसमें गमन का कारण भूत क्रियाओं का और मोक्ष सुख के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया, है इसमें बारह करोड़ पचास लाख १२५०००००८ पद हैं।

अङ्ग बाह्य श्रुत के भेद

सामाइयचउवीसत्थयं तदो वंदना पडिक्कमणं।
वेणइयं किदिकम्मं दसवेयालं च उत्तरज्झयणं ॥ ३६७ ॥
कप्पववहारकप्पाकप्पियमहकप्पियं च पुंडरियं।
महपुंडरीयणिसिहियमिदि चोद्दसमंगबाहिरयं ॥ ३६८ ॥ गो० जी०

अर्थ—१ सामायिक, २ चतुर्विंशतिस्तव, ३ वन्दना, ४ प्रतिक्रमण, ५ वैनयिक, ६ कृतिकर्म, ७ दशवैकालिक, ८ उत्तराध्ययन, ९ कल्पव्यवहार, १० कल्पाकल्प्य, ११ महाकल्प, १२ पुंडरीक, १३ महा पुंडरीक, १४ निषिद्धिका इस प्रकार ये १४ भेद अंगवाह्य श्रुत (प्रकीर्णक) के हैं। इनका पृथक् पृथक् विवेचन करते हैं।

१—सामायिक—पर द्रव्य से निवृत्त होकर आत्मा में उपयोग की प्रवृत्ति करना सामायिक है। जैसे—मैं ज्ञाता द्रष्टा हूं अन्य सब मुझ से सर्वथा भिन्न हैं। इस प्रकार आत्मा में उपयोग रखना चाहिए। क्योंकि एक ही आत्मा जानने योग्य—ज्ञान का विषय होने से ज्ञेय है और जानने वाला है, इसलिए ज्ञाता है। अतः अपने आपको ही ज्ञाता और द्रष्टा अनुभव करता है। अथवा रागद्वेषरहित मध्यस्थ आत्मा को सम कहते हैं, उसमें उपयोग की प्रवृत्ति करने को आय कहते हैं, उस समाय (सम+आय) प्रयोजन वाली क्रिया को सामायिक कहते हैं। नित्य नैमित्तिक क्रिया-विशेष के अनुष्ठान (आचरण) को और उस सामायिक को प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को भी सामायिक कहते हैं। वह सामायिक नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र काल व भाव के भेद से छह प्रकार का है। इनका स्वरूप पूर्वार्द्ध की प्रथम किरण में (पृष्ठ नं० १२७) कह आये हैं।

२—चतुर्विंशति स्तव—जिस काल में जिन २ तीर्थंकरो का प्रवर्त्तन हो उस काल में उन २ चौवीस तीर्थंकरों का नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का आश्रय कर पंच महाकल्याणक, चौतीस अतिशय, अष्ट प्रातिहार्य, परम औदारिक दिव्य शरीर, समवसरण सभा, धर्मोपदेशनादि, तीर्थंकरों की महिमा का स्तवन करना चतुर्विंशतिस्तव है। उनका प्रतिपादक शास्त्र चतुर्विंशतिस्तवनामा प्रकीर्णक है।

३—वन्दना प्रकीर्णक—एक तीर्थंकर का आलम्बन लेकर चैत्य चैत्यालय की स्तुति करना वन्दना है। उसका प्रतिपादन करने

(८) **कर्मप्रवादपूर्व**—इसमें कर्म का वर्णन किया गया है। मूलप्रकृति, उत्तरप्रकृति और उत्तरोत्तर प्रकृति के अनेक भेद युक्त बन्ध,उदय, उदीरणा, सत्ता रूप अवस्था को धारण करने वाले ज्ञानावरणादिक कर्मों के स्वरूप का तथा समवधान, ईर्यापथ,तपस्या अधाकर्मादि का वर्णन किया गया है। इसमें एक करोड़ अस्सी लाख १८०००००० पद है।

(९) **प्रत्याख्यानपूर्व**—इसमें सावद्य कर्म का निषेध किया गया है। नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा जीवों का संहनन बल इत्यादि के अनुसार काल की मर्यादा रखकर अथवा जीवन पर्यन्त सावद्य (पापजनक) वस्तु का त्याग, उपवास की विधि, उसकी भावना, पञ्च समिति तीन गुप्ति आदि का प्रतिपादन किया गया है। इसके चौरासी लाख ८४००००० पद हैं।

(१०) **विद्यानुवादपूर्व**—इसमें विद्याओं का वर्णन है। अंगुष्ठ प्रसेनादि सात सौ लघुविद्या, रोहिणी आदि पांच सौ महाविद्या का तथा उनके स्वरूप, सामर्थ्य, साधन मन्त्र, तंत्र, पूजा, विधान और विद्याओंके सिद्ध होने पर उनके फल विशेष का और अन्तरीक्ष, भौम अङ्ग,स्वर,स्वप्न,लक्षण,व्यंजन, छिन्न नामक अष्टमहा निमित्त ज्ञान का वर्णन किया गया है। इसके एक करोड दश लाख११०००००पद हैं।

(११) **कल्याणवाद पूर्व**—इसमे तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण, प्रति-नारायण आदि के गर्भ जन्मादि कल्याण महोत्सवों और उनके कारणभूत तीर्थंकरादि पुण्य प्रकृति और उनके हेतुभूत षोडश भावना तपश्चरण विशेषादि का तथा सूर्य,चन्द्रमा ग्रह नक्षत्र का गमन, ग्रहण, शकुनादि के फल वगैरह का वर्णन किया गया है। इसके छब्बीस करोड़ २६०००००००० पद हैं।

(१२) **प्राणवादपूर्व**—शरीर चिकित्सा आदि वैद्यक के अष्टांगों का, भूतपिशाचादि व्याधि दूर करने के कारण मन्त्रादि का, विष दूर करने वाले जांगलिक कर्म का, इला, पिंगला, सुषुम्ना इत्यादि स्वरोदय तथा बहुविध श्वासोच्छ्वास के भेदो का एवं दश प्राणों के उपकारक और अनुपकारक वस्तुओ का गत्यादि के अनुसार वर्णन किया गया है। इसके तेरह करोड़ १३०००००००० पद हैं।

(१३) **क्रियाविशालपूर्व** —यह नृत्यादि क्रियाओं से विशाल-विस्तीर्ण अथवा शोभमान है इसमें सङ्गीतशास्त्र,छन्द,अलङ्कारादि पुरुष की बहत्तर कलाओं तथा स्त्रियों के चौसठ गुणो का, शिल्पादि के विज्ञान का गर्भाधानादि चौरासी क्रियाओं का, सम्यग्दर्शनादि एक सौ आठ, देववन्दनादि पच्चीस तथा नित्य नैमित्तिक क्रियाओ का निरुपण किया गया है। इसमें नौ करोड़ ९००००००० पद हैं।

(१४) **त्रिलोकविन्दुसारपूर्व**—जिसमें तीन लोक के विन्दुओ (अवयवों) का और साररूप वस्तु का वर्णन किया गया है, उसे त्रिलोक विन्दुसार पूर्व कहते हैं। इसमे तीन लोक का स्वरूप, छब्बीस परिकर्म, आठ व्यवहार, चार बीज इत्यादि गणित का तथा मोक्ष के

स्वयंभू—व्यवहार नय से जीव कर्मवश भव (पर्याय) मे परिणमता है, तथापि निश्चय नय से स्वयं अपनी आत्मा में ही ज्ञान दर्शन रूप परिणमता है, इसलिए स्वयभू है।

शरीरी—व्यवहार नय से आत्मा औदारिकादि शरीर वाला है और निश्चय से अशरीरी है, शरीर रहित है।

मानव—व्यवहार नय से मानवादि पर्याय रूप मे परिणत होता है, और निश्चय नय से मनु (ज्ञान) मे परिणत होता है,इसलिए यह मानव है।

सक्ता—व्यवहार नय से स्वजन मित्रादि परिग्रह में आसक्त रहता है; इसलिए आत्मा सक्ता है। निश्चय से अनासक्त होने से (असक्त) है।

जन्तु—व्यवहार नय से चतुर्गति सम्बन्धी नाना योनियों में जन्म लेता है, इसलिए जन्तु है। निश्चय से अजन्तु है।

मानी—व्यवहार नय से कर्म के वश से मान (अहंकार) करने वाला है; इसलिए मानी है, निश्चय से अमानी है।

मायी—व्यवहार नय से कर्म के वशी भूत हुआ आत्मा माया (छल-कपट) करने वाला है और निश्चय से अमायी है। छलकपट रहित हैं।

योगी—व्यवहार नय से मन वचन काय की क्रिया से आत्मा के प्रदेशो में किंचित् कम्पन होता है; इसलिए इसे योगी कहते हैं। निश्चयनय से योग रहित होने से अयोगी है।

संकुट—व्यवहार नय से सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना से आत्म प्रदेशों का सङ्कोच होता है; इसलिए आत्मा संकुट है। समुद्घात मे सम्पूर्ण लोक को व्याप्त करता है; इसलिए असकुट है। निश्चयनय से प्रदेशो का सङ्कोच विस्तार का अभाव होने से अनुभय रूप है, किंचित् ऊन चरम शरीर प्रमाण है; इसलिए सकुट और असकुट दोनो से रहित है।

क्षेत्रज्ञ—दोनो नय से आत्मा लोकालोक को तथा अपने स्वरूप को जानता है; इसलिए क्षेत्रज्ञ है।

अन्तरात्मा—व्यवहार नय से अष्ट कर्मों के अभ्यन्तर प्रवृत्ति करता है और निश्चय नय से चैतन्य के अभ्यन्तर प्रवृत्ति करता है, इसलिए अन्तरात्मा है।

उक्त गाथा मे दो च शब्द दिये गये हैं, उनसे उक्त और अनुक्त आत्म-धर्मों का समुच्चय (ग्रहण) होता है, अतः आत्मा व्यवहारनय से कर्म नो कर्म पुद्गल-द्रव्यादि के सम्बन्ध से मूर्त्त है। निश्चयनय की अपेक्षा अमूर्त्त है। इत्यादि आत्मा के अन्य धर्मों का ग्रहण होता है। इसमे छब्बीस करोड़ २६००००००० पद हैं।

पहले कर दिया गया है, इसलिए यहां नहीं किया गया है। इस सत्य प्रवाद पूर्व के एक करोड़ छह १००००००६ पद हैं।

७—आत्म-प्रवाद पूर्व—जिस में आत्मा का निरूपण किया गया है, उसे आत्मप्रवाद कहते हैं।

"जीवो य कत्ता य वत्ता य पाणी भोत्ता य पुग्गलो।
वेदो विण्हू सयंभू य सरीरी तह माणवो ॥ १ ॥
सत्ता जंतू य माणी य माणी जोगी य संकुडो।
असंकुडो य खेत्तण्हू अन्तरप्पा तहेव य ॥ २ ॥"

जीव—व्यवहार नय से इन्द्रिय आदि दश बाह्य प्राणों का तथा निश्चय नय से केवल दर्शन, केवल ज्ञान, सम्यक्त्वरूप चेतना प्राणो का वर्त्तमान मे धारण करने वाला है, भविष्य मे प्राणों को धारण करेगा, तथा पहले भी प्राणों को धारण किया है,उसे जीव कहते हैं।

कर्त्ता—व्यवहार नय से शुभाशुभ कर्म का करने वाला है और निश्चय नय से चैतन्य पर्याय का करने वाला है; इसलिए आत्मा कर्त्ता है।

वक्ता—व्यवहार नय से सत्य व असत्यवचन बोलता है; इसलिए आत्मा वक्ता है। निश्चय नय से अवक्ता है।

प्राणी—व्यवहार नय से इन्द्रियादि दश प्राण और निश्चय नय से ज्ञान-दर्शन-सम्यक्त्व-रूप चेतना-प्राण आत्मा के पाये जाते हैं; इसलिए यह प्राणी है।

भोक्ता—व्यवहार नय से शुभ अशुभ कर्म-फल का भोगने वाला और निश्चय नय से अपने स्वरूप का भोगने वाला है; अतः यह भोक्ता है।

पुद्गल—व्यवहार नय से कर्मों (आठ कर्मों) और शरीरादि नो कर्मों का पूरण व गालन करने वाला है। अर्थात् कर्म नो कर्म पुद्गलों को ग्रहण करता है और छोड़ता है; इसलिए पुद्गल है। निश्चय नय से अपुद्गल है।

वेद—व्यवहार व निश्चय नय से लोक अलोक सम्बन्धी त्रिकाल गोचर सब पदार्थों का वेत्ता (ज्ञाता) है, इसलिए यह वेद है।

विष्णु—व्यवहार नय से आत्मा नाम कर्म के उदय से प्राप्त हुए शरीर में व्याप्त होकर रहता है और समुद्घात करते समय सम्पूर्ण लोक को तथा निश्चय से ज्ञान द्वारा सब लोक को व्याप्त करता है; इसलिए यह विष्णु है।

३—अवस्थित—जो अवधिज्ञान सूर्य मंडल की भांति हानि वृद्धि से रहित होता है-एकसा बना रहता है, उसे अवस्थित अवधिज्ञान कहते हैं।

(४) अनवस्थित—जो अवधिज्ञान किसी समय बढ़ जाता है, किसी समय घट जाता है और किसी समय उतना ही बना रहता है, उसे अनवस्थित कहते हैं।

(५) वर्द्धमान—जो अवधिज्ञान शुक्लपक्ष के चन्द्र-मण्डल के समान अपनी उत्कृष्टता पर्यन्त बढ़ता जाता है, उसे वर्द्धमान अवधिज्ञान कहते हैं।

(६) हीयमान—जो अवधिज्ञान कृष्ण पक्ष के मण्डल की तरह घटता हुआ अपने अन्तिम स्थान तक घटता चला जाता है, उसे हीयमान अवधिज्ञान कहते हैं।

अवधिज्ञान के सामान्य रूप से तीन भेद हैं। १ देशावधि, २ परमावधि ३ सर्वावधि।

इनमें पहले कहा गया जो भवप्रत्यय अवधिज्ञान वह नियम से देशावधि ही होता है। क्योंकि देव व नारकियों के तथा गृहस्थ व तीर्थंकरों के परमावधि और सर्वावधि सम्भव नहीं है। परमावधि और सर्वावधि नियम से गुण प्रत्यय ही होता है। तथा महाव्रती, चरम शरीरी, तद्भव मोक्षगामी, वज्र वृषभनाराच संहनन के धारक मनुष्यों के ही परमावधि व सर्वावधिज्ञान होता है। देशावधिज्ञान देव, नारकी, मनुष्य, तिर्यंच तथा संयमी वा असंयमी चारों गति के जीवों के होता है। परन्तु देशावधि का उत्कृष्ट भेद महाव्रती मनुष्य के ही होता है। अन्य तीन गतियों के जीवों के तथा असंयमी मनुष्यों के नहीं होता है। प्रतिपाती अप्रतिपाती ये दो भेद देशावधि के ही होते हैं। परमावधि और सर्वावधि कभी नहीं छूटता, इसका धारक नियम से तद्भव निर्वाण पद प्राप्त करता है; इसलिए ये अप्रतिपाती ही हैं।

देशावधि और परमावधि में अपने २ जघन्य द्रव्य क्षेत्र काल भाव से लेकर अपने २ उत्कृष्ट पर्यन्त असंख्यात लोक प्रमाण विकल्प हैं। ये दोनों ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा से रूपी पुद्गल-द्रव्य तथा पुद्गल-कर्म सहित संसारी जीव-द्रव्य को प्रत्यक्ष जानते हैं।

देशावधि के द्रव्यादि की अपेक्षा जघन्य उत्कृष्ट विषय को दिखाते हैं। पहले सब से जघन्य द्रव्य का प्रमाण दिखाते हैं।

णोकम्मुरालसंचं मज्झिमजोगज्जियं सविस्सचयं।
लोयविभत्तं जाणादि अवरोही दव्वदो णियमा ॥ ३७६ ॥ गो० जी०

अर्थ—मध्यम योग के द्वारा सचित विस्रसोपचयसहित नो कर्म औदारिक वर्गणा संचय में लोक के असंख्यात प्रदेशों का भाग देने से जितना द्रव्य लब्ध आता है, उतने द्रव्य को जघन्य अवधिज्ञान नियम से जानता है।

देशावधि-जघन्यज्ञान के विषयभूत जघन्य क्षेत्र का प्रमाण कहते हैं।

सुहुमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयम्हि।
अवरोग्गाहणमाणं जहण्णयं ओहिखेत्तं तु ॥ ३७८ गो० जी०

अर्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक की उत्पन्न होने से तीसरे समय में जघन्य अवगाहना होती है, उसका जितना प्रमाण है, उतना ही अवधिज्ञान के जघन्य क्षेत्र का प्रमाण है।

भावार्थ—सूक्ष्म निगोदिया जीव की जन्म के प्रथम समय में आयताकार (लम्बाई अधिक व चौड़ाई कमवाली) अवगाहना होती है। जन्म के दूसरे समय मे समचतुर्भुज (समान लम्बी चौड़ी) अवगाहना होती है। तथा जन्म के तीसरे समय में वृत्ताकार (गोल) अवगाहना होती है। यह तीसरे समय की अवगाहना उक्त दोनों समय की अवगाहना से जघन्य होती है। उस अवगाहना प्रमाण क्षेत्र में जितना उक्त जघन्य द्रव्य होगा, उसको जघन्य देशावधिज्ञान जानता है। इससे बाहर के द्रव्य को नहीं जानता है। उस द्रव्य की अवगाहना उत्सेधांगुल के असख्यातवें भाग के घनप्रतररूप होती है।

देशावधि जघन्य ज्ञान के विषयभूत जघन्य काल और भाव का प्रमाण कहते हैं।

आवलिअसंखभागं तीदभविस्सं च कालदो अवरं।
ओही जाणदि भावे कालअसंखेज्जभागं तु ॥ ३८३ ॥ गो० जी०

अर्थ—काल की अपेक्षा से जघन्य अवधिज्ञान आवली के असंख्यातव भाग प्रमाण द्रव्य की पर्यायों को जानता है। तथा काल की अपपेक्षा से जितनी पर्यायो को जानता है, उसके असख्यातवे भाग प्रमाण वर्तमान काल की पर्यायो को भाव की अपेक्षा से जानता है।

देशावधिज्ञान के उत्कृष्ट द्रव्य और क्षेत्र का प्रमाण कहते हैं।

कम्मइयवग्गणं धुवहारेणिगिवारभाजिदे दव्वं।
उक्कस्सं खेत्तं पुण लोगो संपुण्णओ होदि ॥ ४१० ॥ गो० जी०

अर्थ—कार्माण वर्गणा मे एक बार ध्रुवहार का भाग देने से जो लब्ध आता है, उतना देशावधि का विषयभूत उत्कृष्ट द्रव्य है। तथा सम्पूर्ण लोक उत्कृष्ट क्षेत्र का प्रमाण है।

देशावधि के उत्कृष्ट काल और भाव को दिखाते हैं।

पल्लसमऊन काले भावेण असंखलोगमेत्ता हु।
दव्वस्स य पज्जाया वरदेसोहिस्स विसया हु ॥ ४११ । गो० जी०

अर्थ—देशावधिज्ञान का विषयभूत उत्कृष्ट काल एक समय कम एक पल्य प्रमाण है। तथा संख्यात लोक प्रमाण द्रव्य की पर्यायें उत्कृष्ट भाव का प्रमाण है।

परमावधिज्ञान के विषयभूत द्रव्य को कहते हैं।

देसावहि वरदव्वं धुवहारेणवहिदे हवे णियमा।
परमावहिस्स अवरं दव्वपमाणं तु जिनदिट्ठम् ॥ ४१३ ॥ गो० जी०

अर्थ—देशावधि के उत्कृष्ट द्रव्य मे सिद्धो के अनन्तवें भाग प्रमाणरूप ध्रुवहार का भाग देने पर जो लब्ध आता है, वह परमावधि के विषयभूत जघन्य द्रव्य का प्रमाण निकलता है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

परमावधिज्ञान के विषयभूत उत्कृष्ट द्रव्य बताते हैं।

परमावहिस्स भेदा सगउग्गाहणवियप्पहदतेऊ।
चरमे हारपमाणं जेट्ठस्स य होदि दव्वं तु ॥ ४१४ ॥ गो० जी०

अर्थ—निज (तेजस्कायिक जीवराशि) अवगाहना के विकल्प (भेदों) का जो प्रमाण है, उसका तेजस्कायिक जीवराशि के साथ गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न होती है, उतने ही परमावधि के भेद हैं। इन में से सर्वोत्कृष्ट अन्तिम भेद में द्रव्य ध्रुवहार प्रमाण होता है। अर्थात् उत्कृष्ट परमावधि के विषयभूत द्रव्य का प्रमाण ध्रुवहार मात्र है, और ध्रुवहार का प्रमाण सिद्धों के अनन्तवें भाग मात्र है।

परमावधि के विषयभूत क्षेत्र व काले का प्रमाण कहते हैं।

परमोहिदव्वभेदा जेत्तियमेत्ता हु तेत्तिया होंति।
तस्सेव खेत्तकालवियप्पा विसया असंखगुणिदकमा ॥ ४१६ ॥ गो० जी०

अर्थ—परमावधि के द्रव्य की अपेक्षा से जितने विकल्प (भेद) होते हैं, उतने ही विकल्प (भेद) क्षेत्र और काल की अपेक्षा से होते हैं। परन्तु उनका (क्षेत्र व काल का) विषय असंख्यातगुणितक्रम है।

असंख्यातगुणितक्रम किस प्रकार से होता है, इसे दिखाते हैं।

आवलिअसंखभागा इच्छिदगच्छधणमाणमेत्ताओ।
देसावहिस्स खेत्ते काले वि य होंति संवग्गे ॥ ४१७ ॥ गो० जी०

अर्थ—किसी भी परमावधि के विवक्षित क्षेत्र के विकल्प में अथवा विवक्षित काल के विकल्प में सङ्कल्पित धन का जितना प्रमाण हो, उतनी जगह आवलिके असंख्यातवें भागो को रखकर परस्पर गुणा करने से जो राशि उत्पन्न हो वही देशावधि के उत्कृष्ट क्षेत्र में और उत्कृष्ट काल में गुणकार का प्रमाण होता है।

भावार्थ—जो भेद विवक्षित हो वहां तक एक से लेकर एक एक अधिक अङ्क मांडकर उन सब अङ्कों को जोड़ने पर जो प्रमाण आवे वह सङ्कलितघन होता है। जैसे प्रथम भेद मे एक ही अङ्क है, इसके पहले कोई अङ्क नहीं; इसलिए प्रथम भेद में सङ्कलितधन एक ही समझना चाहिए। दूसरे भेद मे एक और दो को जोड़ने पर संङ्कलित धन तीन हुआ। तीसरे भेद में एक दो और तीन अङ्कों को जोड़ने पर छह होते हैं, यह तीसरे विकल्प का सङ्कलित धन हुआ। चौथे भेद मे चार और जोड़ने पर सङ्कलित धन दस हुआ। पांचवें भेद में पांच और जोड़ने पर सङ्कलित धन पन्द्रह हुआ। छठे भेद में छह और जोड़ने से सङ्कलित धन इक्कीस हुआ। ऐसे ही अन्तिम भेद तक सङ्कलित धन निकाल लेना चाहिए। उदाहरणार्थ यहां विवक्षित परमावधिज्ञान छठा विकल्प (भेद) का सङ्कलित इक्कीस हुआ। इक्कीस जगह आवली के असंख्यात भागों को मांडकर परस्पर गुणा करने पर जो प्रमाण आवे उतना परमावधि के छठे विकल्प के विषयभूत क्षेत्र निकालने के लिए गुणाकार जानना चाहिए। इस गुणाकार से देशावधि का विषयभूत उत्कृष्ट क्षेत्र जो लोकाकाश प्रमाण है उसको गुणन करने पर जो प्रमाण आवे उतना परमावधि के छठे विकल्प का क्षेत्र जानना चाहिए। इसी प्रकार परमावधि के अन्तिम विकल्प के सङ्कलित धन प्रमाण आवलि के असंख्यातवें

भाग मांडकर परस्पर गुणा करने पर जो राशि आती है, वह परमावधि के उत्कृष्ट क्षेत्र व काल को निकालने के लिए गुणाकार है। उससे देशावधि के उत्कृष्ट क्षेत्र लोक प्रमाण को गुणा करने पर परमावधि का विषयभूत उत्कृष्ट क्षेत्र निकलता है। तथा उक्त गुणाकार से उत्कृष्ट देशावधि का विषयभूत उत्कृष्ट काल जो एक समय कम एक पल्य है उसको गुणा करने पर परमावधि का उत्कृष्ट काल का प्रमाण निकलता है।

परमावधि के विषयभूत भाव को दिखाते हैं।

सव्वोहित्ति य कमसो आवलिअसंखभागगुणिदकमा।
दव्वाणं भावाणं पदसंखा सरिसगा होंति ॥ ४२३ ॥ गो० जी०

अर्थ—उत्कृष्ट देशावधि से लेकर सर्वावधि पर्यन्त अवधिज्ञान के विषयभूत भाव (पर्याय) निकालने के लिए आवलि का असंख्यात भाग गुणित क्रम है। अर्थात्—जघन्य देशावधि का विषयभूत भाव जो आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण है, उसे आवलि के असंख्यातवें भाग से एक बार गुणा करने पर देशावधि के दूसरे विकल्प का भाव निकलता है। दो बार गुणा करने पर तीसरे विकल्प के भाव का प्रमाण निकलता है। इसी प्रकार सर्वावधि पर्यन्त गुणा करने का क्रम समझना चाहिए। द्रव्यों के और भाव के पदो (विकल्प के स्थानो) की संख्या समान होती है। अर्थात्—जहां देशावधि के जघन्य द्रव्य की अपेक्षा प्रथम भेद होता हैं; वहां भाव की अपेक्षा भी आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण प्रथम भेद होता है। और जहां पर द्रव्य की अपेक्षा दूसरा भेद होता है, वहां भाव की अपेक्षा भी प्रथम भेद से आवलि के असंख्यातवें भाग गुणा दूसरा भेद होता है। जहां पर द्रव्य की अपेक्षा तीसरा भेद होता है, वहां पर भाव की अपेक्षा दूसरे भेद से आवली के असंख्यातवें भाग गुणा तीसरा भेद होता है। यही क्रम सर्वावधि पर्यन्त समझ लेना चाहिए। द्रव्य की अपेक्षा से अवधिज्ञान के जितने भेद हैं, भाव की अपेक्षा से उतने ही भेद हैं। इसलिए द्रव्य तथा भाव की पद संख्या समान है।

अब सर्वावधि का विषयभूत द्रव्य दिखाते हैं।

सव्वावहिस्स एक्को परमाणू होदि णिव्वियप्पो सो।
गङ्गामहानइस्स पवाहोव्व धुवो हवे हारो ॥ ४१५ ॥ गो० जी०

अर्थ—उत्कृष्ट परमावधि का विषयभूत द्रव्य ध्रुवहार प्रमाण कह आये हैं, उसमें ध्रुवहार का भाग देने से लब्ध एक परमाणु आता है, वह निर्विकल्प (भेद रहित) परमाणु मात्र सर्वावधि का विषय होता है। भागहार गङ्गा महानदी के प्रवाह समान ध्रुव है।

भावार्थ—जिस प्रकार गङ्गा महानदी का प्रवाह हिमवान पर्वत से निकलकर निरन्तर अविच्छिन्न रूप से बहता हुआ पूर्व समुद्र में जाकर मिला है, उसी प्रकार यह भागहार भी जघन्य देशावधिज्ञान के द्रव्य प्रमाण से लेकर परमावधि के उत्कृष्ट भेद पर्यन्त अवधिज्ञान के सब भेदों में होता हुआ सर्वावधि के विषयभूत परमाणु पर्यन्त जाकर अवस्थित होता है। सर्वावधिज्ञान भी निर्विकल्प (भेद रहित) है और उसका विषयभूत परमाणु भी निर्विकल्प है।

सर्वावधि के क्षेत्र काल व भाव का प्रमाण यह है :—

असंख्यात लोक के प्रमाण को पांच बार लोक के प्रमाण से गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न हो उतना सर्वावधिज्ञान के उत्कृष्ट क्षेत्र का प्रमाण है।

असंख्यात लोक को परमावधि के उत्कृष्ट काल प्रमाण के साथ गुणा करने से सर्वावधि के काल का प्रमाण निकलता है।

परमावधि के उत्कृष्ट ज्ञान के विषयभूत भाव प्रमाण को आवलि के असंख्यातवें भाग से गुणा करने पर सर्वावधिज्ञान का विषयभूत भाव का प्रमाण निकलता है।

मनः पर्यय ज्ञान का स्वरूप

वीर्यान्तराय और मनः पर्यय ज्ञानावरण का क्षयोपशम तथा अङ्गोपांग नामकर्म के लाभ के बल से जो पर के मन में स्थित रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है, उसे मनः पर्यय कहते हैं।

भावार्थ—भूत काल में जिसका चिन्तन किया हो, अथवा भविष्यत् काल में जिसका चिन्तन किया जायगा, अथवा वर्तमान में जिसका अर्धचिन्तन किया है, इत्यादि अनेक भेद रूप दूसरे के मन में स्थित पदार्थ, जिसके द्वारा जाना जाता है, उसको मनः पर्यय ज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद हैं—ऋजुमति मनः पर्यय और विपुलमति मनः पर्यय।

ऋजुमति मनः पर्यय

ऋजुमति मनः पर्यय—सरल मन, सरल वचन और सरल काय के द्वारा ग्रहण किया गया पदार्थ जो दूसरे के मन में स्थित हो, उसको विषय करने वाले ज्ञान को ऋजुमति मनः पर्यय ज्ञान कहते हैं।

इसके तीन भेद हैं—१ ऋजुमनः कृतार्थ-विषय, २ ऋजुवचन कृतार्थ-विषय, ३ ऋजुकाय कृतार्थ-विषय।

ऋजुमनः कृतार्थ विषय—मन के द्वारा स्पष्ट अर्थ का चिन्तन किया, इस के कुछ समय बाद उसी अर्थ का उसने चिन्तन किया हो, ऐसे परके मन में स्थित अर्थ को जानने वाला ऋजुमनः कृतार्थविषय मनः पर्ययज्ञान होता है।

ऋजुवचनकृतार्थ विषय—धर्मादि युक्त वचन का स्पष्ट उच्चारण किया और कालान्तर में स्पष्ट उच्चारण किये हुए उस पदार्थ का कोई चिन्तन कर रहा है; ऐसे दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को जानने वाला ऋजुवचनकृतार्थविषय मनः पर्यय ज्ञान है।

ऋजुकायकृतार्थ विषय—उभय लोक सम्बन्धी फल की उत्पत्ति के अर्थ अङ्ग और उपांग का निपातन किया, संकोचन किया, खेंचा, प्रसारण किया इत्यादिक अनेक काय सम्बन्धी क्रियाएँ कीं, उनका कालान्तर में दूसरा अपने मनमें चिन्तन कर रहा है, उसके मनमें स्थित उक्त कायिक व्यापार को जानने वाला ऋजुकायकृतार्थ विषय मनः पर्ययज्ञान है।

अथवा उक्त सरल मन वचन काय द्वारा किये हुए पदार्थ को भूलजाने के कारण वह उस का मन में चिन्तन करने में असमर्थ हो रहा है ऐसे पदार्थ को भी विषय करने वाला ऋजुमति मनः पर्यय ज्ञान होता है।

मनः पर्यय ज्ञानी से कोई प्रश्न करे तब वे मनः पर्यय ज्ञान के उपयोग को लगाकर उसके अन्तः करण में स्थित अर्थ को जानकर उत्तर देते हैं कि इस प्रकार तुमने पहले अमुक पदार्थ को काय द्वारा किया था, वचन द्वारा उच्चारण किया था अथवा मन द्वारा चिन्तन किया था। तथा बिना पूछे भी ईहामति ज्ञान द्वारा "इसमें मन में अमुक विचार है" ऐसा जानकर मनः पर्यय ज्ञान द्वारा सरल मन वचन और काय कृत पदार्थ को ऋजुमति मनः पर्यय ज्ञान स्पष्ट जान लेता है।

अपने और पर के चिन्तन, जीवित, मरण, सुख, दुःख, लाभ, अलाभ इत्यादि को मनःपर्ययज्ञानी जानता है। व्यक्त चित्त वाले मनुष्यों के चित्तमें स्थित पदार्थों को तथा उससे सम्बन्ध रखने वाले जीवन मरण लाभ अलाभादि को ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी जानता है। अव्यक्त (अस्पष्ट) चित्तवाले के मनमें स्थित पदार्थों को ऋजुमति मनः पर्यय ज्ञानी नहीं जानता है। कायादि कृत स्पष्ट अर्थ के चिन्तन करने वाले को व्यक्त चित्त वाला कहते हैं।

ऋजुमति मनः पर्यय ज्ञानी काल की अपेक्षा जघन्य अपने तथा दूसरे जीवों के दो तीन भव विषय करता है। और उत्कृष्ट सात आठ भव गत्यागति से जानता है।

क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य तो सात आठ कोश और उत्कृष्ट सात आठ योजन के अन्दर की बात जानता है, बाहर की नहीं जानता।

द्रव्य की अपेक्षा ऋजुमति का जघन्य विषय औदारिक शरीर का निर्जरा को प्राप्त हुआ समय-प्रबद्धप्रमाण द्रव्य है। और

उत्कृष्ट विषय चक्षु इन्द्रिय का निर्जरा को प्राप्त हुआ द्रव्य प्रमाण है।

भाव की अपेक्षा ऋजुमति का जघन्य और उत्कृष्ट विषय आवली के असंख्यात मात्र पर्यायें हैं। जघन्य और उत्कृष्ट दोनों विषय आवली के असंख्यात भाग मात्र होने पर भी जघन्य से उत्कृष्ट का प्रमाण असंख्यात गुणा है।

यह ऋजुमति मनः पर्यय ज्ञान त्रिकाल सम्बन्धी पुद्गल द्रव्य का वर्त्तमान काल में कोई जीव चिन्तन कर रहा है, उसे ही जानता है, भूत मे चिन्तन किया अथवा भविष्यत् में चिन्तन करेगा उसे यह ज्ञान नहीं जानता। विपुलमति ज्ञान ही उसे जान सकता है।

विपुलमति मनः पर्यय

त्रिकाल सम्बन्धी पुद्गल द्रव्य का भूत काल में किसी जीव ने चिन्तन किया था, भविष्य में चिन्तन करेगा और वर्त्तमान में चिन्तन कर रहा है उन सब को विपुलमति मनः पर्यय ज्ञान विषय करता है।

इसके छह भेद हैं—१ ऋजुमनोगतार्थ विषय, २ ऋजुवचनगतार्थ विषय, ३ ऋजुकायगतार्थ विषय, ४ वक्रमनोगतार्थ विषय, ५ वक्रवचनगतार्थ विपय, ६ वक्रकायगतार्थ विषय।

अर्थात्—सरल मन युक्त होकर किसी जीव ने त्रिकालसम्बन्धी पदार्थों का चिन्तन किया, सरलवचन युक्त होकर त्रिकालसम्बन्धी पदार्थों का उच्चारण किया, तथा ऋजुकाय से युक्त होकर उक्त पदार्थों को काय द्वारा किया, पश्चात् विस्मरण होजाने के कारण उनका स्मरण करने मे असमर्थ हुआ, मनः पर्यय ज्ञानी मुनीश्वर के सम्मुख आकर पूछता है अथवा चुपचाप वैठ जाता है, तब ऋजुमति ज्ञानी उसके मन में स्थित उक्त पदार्थों को जान लेते हैं। तथा किसी ने सरल और वक्र मन वचन काय से युक्त होकर मन से विचारा था, विचार करेगा तथा विचार कर रहा है, वचन से उच्चारण किया था, उच्चारण करेगा, उच्चारण कर रहा है तथा काय से किया था, करेगा और कर रहा है, भूतकाल के पदार्थों का तो विस्मरण हो गया तब विपुलमतिमनः पर्यय ज्ञानी के सम्मुख आकर पूछता है, अथवा चुपचाप वैठ जाता है, तब वे मुनीश्वर उक्त सब पदार्थों को जिस ज्ञान से जान लेते हैं, वह विपुलमतिमनः पर्यय ज्ञान है।

इसके द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से जघन्य उत्कृष्ट विषय का निर्णय करते हैं। उनमें से प्रथम द्रव्य की अपेक्षा इसका जघन्य विषय कितना है? यह बताते हैं।

मणदव्ववग्गणाणमणंतिमभागेण उजुगउक्कस्सं।
खंडिदमेत्तं होदि हु विउलमदिस्सावरं दव्वं ॥ ४५२ ॥ गो० जी०

अर्थ—तेईस जाति की पुद्गल वर्गणा में एक मनोवर्गणा है, इसके जघन्य से लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त जितने भेद हैं, उनमें अनन्त का भाग देने पर जो एक भाग लब्ध आता है, वह मनः पर्यय ज्ञान के कथन में ध्रुवहार का परिमाण है। इसका ऋजुमति के उत्कृष्ट विषय भूत द्रव्यप्रमाण (चक्षु इन्द्रिय का निर्जीण द्रव्य) में भाग देने से जो परिणाम आवे उतने परमाणुओं के स्कन्ध को जघन्य विपुलमतिज्ञान जानता है।

अब इसका उत्कृष्ट विषय दिखाते हैं।

अट्ठण्हं कम्माणं समयपबद्धं विविस्ससोवचयं।
धुवहारेणिगिवारं भजिदे विदियं हवे दव्वं ॥ ४५३ ॥ गो० जी०

अर्थ—विस्रसोपचय रहित आठ कर्मों का जो समय प्रबद्ध प्रमाण है, उस में एक वार उक्त ध्रुवहार का भाग देने से जो लब्ध आता है, वह विपुलमति मनः पर्यय ज्ञान के द्वितीय द्रव्य का प्रमाण है।

तव्विदियं कप्पाणमसंखेज्जाणं च समयसंखसमं।
धुवहारेणवहरिदे होदि हु उक्कस्सयं दव्वं ॥ ४५४ ॥ गो० जी०

अर्थ—विपुलमतिमनः पर्यय के दूसरे भेद सम्बन्धी उक्त द्रव्य में असंख्यात कल्प काल के जितने समय होते हैं, उतनी बार ध्रुवहार का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतने परमाणुओं के स्कन्ध को उत्कृष्ट विपुलमतिमनः पर्यय ज्ञान जानता है।

विपुलमतिमनः पर्यय ज्ञान के जघन्य और उत्कृष्ट क्षेत्र को कहते हैं।

गाउयपुधत्तमवरं उक्कस्सं होदि जोयणपुधत्तं।
विउलमदिस्स य अवरं तस्स पुधत्तं वरं खु णरलोयं॥ ४५५ ॥ गो० जी०

अर्थ—ऋजुमतिमनः पर्यय ज्ञान का जघन्य क्षेत्र गव्यूति पृथक्त्व अर्थात् दो तीन कोश मात्र है और उत्कृष्ट क्षेत्र सात आठ योजन है। तथा विपुलमतिमनःपर्यय का जघन्य क्षेत्र आठ नौ योजन और उत्कृष्ट क्षेत्र मनुष्य लोक प्रमाण है। यद्यपि मनुष्य गोलाकार पैंतालीस लाख योजन का है, किन्तु विपुलमतिमनः पर्यय ज्ञान का विषय मनुष्य लोक समचतुरस (चौकोर) पैंतालीस लाख योजन घनप्रतर लेना चाहिए। अर्थात् पैंतालीस लाख योजन चौड़ा और इतना ही लम्बा जानना। यहां ऊंचाई कम है;इसलिए घनप्रतर कहा है। क्योंकि मानु-

पोत्तर पर्वत के बाहर के चारों कोनों में स्थित देव और तिर्यंचों के मन से चिंतित पदार्थों को भी उत्कृष्ट विपुलमतिमनः पर्ययज्ञान जानता है।

विपुलमतिमनः पर्यय ज्ञान का काल और भाव दिखाते हैं।

दुगतिगभवा हु अवरं सत्तट्ठभवा हवंति उक्कस्सं।
अडनवभवा हु अवरमसंखेज्जं विउलउक्कस्सं ॥ ४५७ ॥ गो० जी०

अर्थ—ऋजुमति मनः पर्यय ज्ञान का जघन्य विषय काल की अपेक्षा अतीत अनागतरूप दो तीन भव है और उत्कृष्ट विषय सात आठ भव है। विपुलमति मनः पर्यय ज्ञान का जघन्य विषय आठ नौ भव है और उत्कृष्ट पल्य का असंख्यातवां भाग मात्र है।

आवलि असंखभागं अवरं च वरं च वरमसंखगुणं .
तत्तो असंखगुणिदं असंखलोगं तु विउलमदी ॥ ४५८ ॥ गो० जी०

अर्थ—ऋजुमति का विषयभूत भाव जघन्य रूपसे आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण है और उत्कृष्ट भी आवली के असंख्यातवें भाग मात्र ही है, तथापि जघन्य से उत्कृष्ट असंख्यात गुणा है। विपुलमति का विषय भूत जघन्य भाव ऋजुमति के उत्कृष्ट से असंख्यात गुणा है, और उत्कृष्ट भाव असंख्यात लोक प्रमाण है।

अब ऋजुमति और विपुललतिमनः पर्यय में अन्तर दिखाते हैं।

इंदियणोइंदियजोगादिं पेक्खित्तु उजुमदी होदि।
णिरवेक्खिय विउलमदी ओहिं वा होदि णियमेण ॥ ४४६ ॥ गो० जी०

अर्थ—ऋजुमतिमनः पर्ययज्ञान अपने अथवा पर जीव का स्पर्शनादि इन्द्रिय, मन तथा मन वचन काय योग की अपेक्षा से उत्पन्न होता है। तथा विपुलमतिमनः पर्ययज्ञान तो नियम से उक्त इन्द्रियादि की बिना अपेक्षा किये ही अवधिज्ञान की तरह निरपेक्ष उत्पन्न होता है।

पडिवादी पुण पढमा अप्पडिवादी हु होदि विदिया हु।
सुद्धो पढमो वोहो सुद्धतरो विदियवोहो हु ॥ ४४७ ॥ गो० जी०

अर्थ—ऋजुमति मनः पर्यय प्रतिपाती है और विपुलमतिमनः पर्यय अप्रतिपाती है। विशुद्ध परिणामों की हानि होने से प्रतिपाती है; क्योंकि उपशान्तकषाय वाले के चारित्रमोहनीय का उदय होने से ऋजुमति ज्ञान छूट जाता है। तथा विपुलमतिमनःपर्यय ज्ञान विशुद्ध परिणामों की वृद्धि से होता है; क्योकि यह क्षपक श्रेणी आरोहण करने वाले मुनीश्वरो के ही होता है। एवं ऋजुमति तो विशुद्ध है; क्योंकि यह प्रतिपक्षी कर्म के क्षयोपशम से निर्मल हुआ है विपुलमतिमनः पर्यय विशुद्धतर है; क्योंकि यह प्रतिपक्षी कर्मों के विशेष क्षयोपशम से उत्पन्न होने के कारण अतिशय निर्मल हुआ है। द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से ऋजुमतिमनःपर्यय और विपुलमतिमनःपर्यय मे जो अन्तर है,वह पहले कह चुके हैं।।

अब अवधिज्ञान और मनः पर्यय ज्ञान में अन्तर दिखाते हैं।

सव्वंगअङ्गसंभवचिण्हादुप्पज्जदे जहा ओही।
मणपज्जवं च दव्वमणादो उप्पज्जदे णियमा ॥ ४४२ ॥ गो० जी०

अर्थ—भव प्रत्यय अवधिज्ञान सर्वांग से उत्पन्न होता है और गुण प्रत्यय अवधिज्ञान शंख पद्मादि अनेक चिह्नों से उत्पन्न होता है। और मनः पर्यय ज्ञान विकसित अष्टदलाकार (खिले हुए आठ पाखुड़ी वाले) कमल के समान द्रव्य मन से ही उत्पन्न होता है। कारण कि मनः पर्यय ज्ञान का क्षयोपशम द्रव्यमन के प्रदेशों में ही होता है। अन्यत्र नहीं होता है।

मणपज्जवं च णाणं सत्तसु विरदेसु सन्तइड्ढीणं।
एगादिजुदेसु हवे वड्ढंतविसिट्ठचरणेसु ॥ ४४५ ॥ गो० जी०

अर्थ—मनः पर्ययज्ञान प्रमत्तसंयत (छठे गुणस्थान) से लेकर क्षीण कषाय (बारहवें) गुणस्थान पर्यन्त सात गुण स्थानों में होता है। तथा बुद्धि, तप, वैक्रियिक औषध, रस, बल और अक्षीण इन सात ऋद्धियों मे से एक दो आदि ऋद्धि से संयुक्त तथा वर्द्धमान विशिष्ट चारित्र के धारक महामुनियों के मन, पर्यय होता है।

अवधिज्ञान चारों गति के प्राणियों के होता है। असंयमी और संयमी दोनों के होता है। मनःपर्ययज्ञान संयमी ही के होता है।

अवधिज्ञान से मनः पर्ययज्ञान विशुद्ध है; क्योंकि क्षयोपशम की विशेष शुद्धि से उत्पन्न होता है। इसका विषय सूक्ष्म है। अवधिज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र असंख्यात लोक प्रमाण है और मनः पर्ययज्ञान पैतालीस लाख योजन चौकोर घनप्रतर प्रमाण है। अर्थात्

(३८८)

पैंतालीस लाख योजन प्रमाण लम्बा चौड़ा क्षेत्र इसका विषय है।

केवल ज्ञान का स्वरूप कहते हैं।

केवलज्ञान भूत भविष्यत् और वर्तमान त्रिकाल वर्त्ती सम्पूर्ण मूर्त्त अमूर्त्त द्रव्यों और उनके समस्त गुणों और पर्यायों को युगपत् हस्त की रेखा के समान स्पष्ट जानता है। ऐसी कोई वस्तु अथवा उसकी परिणति बाकी नहीं रहती, जो उस ज्ञान में नहीं झलकती है। इसलिए इसे सम्पूर्ण, समग्र, केवल और असपत्नादि कहा है।

सम्पुण्णं तु समग्गं केवलमसवत्त सव्वभावगयं ।
लोयालोयवितिमिरं केवलणाणं मुणेयव्वं ४६० गो०जी०

अर्थ—जीव द्रव्य के जो शक्ति रूप सर्वज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद थे वे सब व्यक्त (प्रकट) रूप होगये हैं; इसलिए यह सम्पूर्ण है। तथा ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय नामक कर्म के सर्वथा क्षय से जिसकी शक्ति किसी से रुकती नहीं है अथवा निश्चल है; इसलिए यह समग्र है। तथा इन्द्रियादि की सहायता से रहित है, इसलिए वह केवल है। और उसके प्रतिपक्षी चार घातिया कर्मों के नाश से अनुक्रमरहित सकल पदार्थों को प्राप्त करता है; इसलिए यह असपत्न है। एवं लोकालोक में अज्ञान-अन्धकार रहित प्रकाशमान यह विभाग रहित केवल ज्ञान है।

उक्त केवल ज्ञान से समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानकर भव्य जीवों के हितार्थ दिव्य ध्वनि से वस्तु स्वरूप का उपदेश किया गया है। उसका बुद्धि ऋद्धि के धारक गणधर महाराज ने बुद्धि के अतिशय से ग्रहण कर द्वादशांग की रचना की। तदनुसार गुरु परम्परा से शास्त्र रचना चली आरही है, उसीके प्रभाव से भव्य प्राणी शास्त्र स्वाध्याय करके तत्त्वज्ञान प्राप्त कर आत्म कल्याण करते हैं। इस पञ्चम काल में शास्त्र स्वाध्याय से अधिक हितकर आत्म कल्याण का मार्ग अन्य नहीं दिखाई देता है; इसलिए शास्त्रों का स्वाध्याय करना आत्म हितैषी जीव के लिए परमावश्यक है। और ज्ञान के आठो अङ्गों का पालन करना भी अत्यन्त आवश्यक है; इसलिए उनका दिग्दर्शन कराते हैं।

ज्ञानाचार के अष्टांगों का स्वरूप

काले विणए उवहाणे बहुमाणे तहेव णिन्हवणे ।
वंजण अत्थ तदुभए णाणाचारो दु अट्ठविहो ॥ ७२ ॥

अर्थ—काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, व्यंजन (शब्द), अर्थ और उभय, इस प्रकार ज्ञानाचार के आठ अङ्ग हैं।

भावार्थ—शास्त्र स्वाध्याय ही आत्म-कल्याण का अप्रतिहत मार्ग है। क्योंकि शास्त्रों के अध्ययन-पठन, पाठन, मनन, चिन्तनादि से हेयोपादेय का ज्ञान होता है, वस्तु के यथार्थ स्वरूप की प्रतिपत्ति होती है। अनन्त काल से अध्यात्म-रोगों से पीडित आत्मा के रोगों का मूलकारण क्या है? किन २ अपथ्य पदार्थों (विषय कषायों) का सेवन करके अध्यात्म रोगों (राग द्वेषादि) की वृद्धि हुई है? उनकी उत्पत्ति के कारणों के नाश करने वाली औषधि क्या है? इत्यादि उक्त रोगों की चिकित्सा जिनागम में ही बताई गई है; क्योंकि आगमोक्त चिकित्सा करके सर्वज्ञ वीतराग तीर्थंकरों ने स्वकीय आत्मा को उक्त रोगों से मुक्त करके भव्य प्राणियों के हितार्थ आगम का निरूपण किया है, जिसका ज्ञान प्राप्त कर तथा उसके अनुकूल आचरण कर आत्म-हितेच्छु नरपुंगव आध्यात्मिक रोगों से छूट कर सदा के लिए सुखी बने हैं, बन रहे हैं और भविष्य में भी सुखी बनेंगे। ऐसे परमोत्कृष्ट आगम का ज्ञान निर्विघ्न रूप से किस तरह प्राप्त हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर उक्त गाथा में दिया गया है। जो भव्य जीव आगम ज्ञान को यथोचित प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें उक्त (काल विनयादि) आठ अङ्गों का पूर्ण पालन कर आगम का स्वाध्याय करना चाहिए। उन आठ अङ्गों का विवेचन किया जाता है।

कालाचार

काल—अस्वाध्याय काल को टाल कर योग्य समय में आगम का स्वाध्याय करना-पठन, पाठन, परिवर्त्तन (पाठ करना) व्याख्यानादि करना कालाचार है।

स्वाध्याय का काल

पादोसिय वेरत्तिय गोसग्गिय कालमेव गेण्हित्ता।
उभये कालम्हि पुणो सज्झाओ होदि कायव्वो ॥ ७३ ॥ मू० पञ्चा०

अर्थ—रात्रि का पूर्व भाग, दिन का अन्तिम भाग, दो घड़ी सहित अर्धरात्रि के बाद का काल तथा गोसर्गकाल अर्थात् सूर्योदय के पश्चात् और दो घड़ी सहित मध्याह्न के पूर्व, ये चार समय तथा निरन्तर पठन, पाठन, परिवर्त्तन (पाठ करना) व्याख्यानादि स्वाध्याय का काल माना गया है।

सूर्योदय होने के पश्चात् जंघा की छाया जब सात विलश्त (वेंत) प्रमाण होती है तब स्वाध्याय का प्रारम्भ होता है और सूर्य के अस्त होने के उन्मुख होते समय जंघा की छाया जब सात विलश्त (वेंत) प्रमाण होती है तब स्वाध्याय समाप्त करली जाती है।

इसका आशय यह है कि आगम का स्वाध्याय (पठन पाठनादि) सूर्योदय के बाद सात विलश्त प्रमाण जंघा (पादतल से लेकर

घुटने पर्यन्त पाँव) की छाया हो जावे, तब स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिए। इसके पहले नहीं की जाती। तथा सूर्यास्त के समय जंघा की छाया जब सात विलश्त प्रमाण रह जावे तब तक स्वाध्याय बन्द कर देना चाहिए; क्योंकि इसके बाद का काल अस्वाध्याय काल है।

चारों दिशाओं की शुद्धि के लिए क्या करना चाहिए ? इसके लिए कहते हैं—

णवसत्तपंचगाहापरिमाणं दिसिविभागसोधिए।
पुव्वण्हे अवरण्हे पदोसकाले य सज्झाए ॥ ७६ ॥ (मू० पंचा०)

अर्थ—स्वाध्याय के समय काल शुद्धि के निमित्त चारों दिशाओं में निम्नोक्त प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए। जब मुनीश्वर प्रातःकाल स्वाध्याय करें तब कायोत्सर्ग धारण कर चारों दिशाओं में नव नव बार णमोकार मंत्र की गाथा का जाप करें। अपराह्ण (सायंकाल) के स्वाध्याय के समय कायोत्सर्ग धारणकर प्रत्येक दिशा में सात २ बार णमोकार मंत्र की गाथा का जाप करें। तथा रात्रि के पूर्व भाग और दिन के अन्तिम भाग के स्वाध्याय के समय प्रत्येक दिशा में पांच पांच बार णमोकार का कायोत्सर्ग मे जाप करें। जिस समय दिशा में दाह आदिक अस्वाध्याय काल हो, तो स्वाध्याय न करें।

अस्वाध्याय काल कौन २ हैं ? इसको दिखाते हैं।

दिसदाहउक्कपडणं विज्जुचडुक्कासणिंदधणुगं च
दुग्गंधसंभदुद्दिण चदग्गहसूरराहुजुज्झं च ॥ ७७ ॥ (मू० पंचा०)

अर्थ—१ उत्पातद्वारा दिशाएँ अग्नि के समान वर्ण(रंग) वाली हो रही हों,उसे दिग्दाह कहते हैं।२ उल्कापात हुआ हो। अर्थात् आकाश से तारा के आकार सदृश पुद्गलपिंड गिरा हो। ३ विजली चमक रही हो। ४ मेघ के संघट से चटात्कार शब्द होता हो। ५ वज्रपात हो रहा हो। ६ आकाश में इन्द्र धनुष बना हो। ७ दुर्गन्ध आरही हो। ८ सन्ध्या फूल रही हो। ९ बरसते हुए मेघ से घिरा हुआ दिन हो।१० चन्द्र ग्रहण हो रहा हो। ११ सूर्य ग्रहण हो रहा हो।

कलहादिधूमकेदू धरणीकंपं च अब्भगज्जं च
इच्चेवमाइबहुया सज्झाए वज्जिदा दोसा ॥ ७८ ॥ (मू० पंचा०)

अर्थ—१२ क्रोधातुर मनुष्यों का परस्पर गालीगलोच हो रहा हो, तथा तलवार छुरी आदि से संग्राम हो रहा हो। १३ आकाश

में धूमकेतु (धूमाकार रेखा) दिखाई देता हो। १४ भूकम्प हो रहा हो। १५ रुधिरादि की वृष्टि होती हो।१५ मेघगर्जना होती हो। १६ भयानक आंधी तथा अग्निदाह हो रहा हो। इत्यादि उपद्रव कारक कारणों के होने पर स्वाध्याय वर्जनीय है। अर्थात् इतने संयोगों में स्वाध्याय न करना चाहिए।

काल शुद्धि कहकर अब द्रव्य क्षेत्र और भाव शुद्धि को कहते हैं।

रुहिरादिपूयमंसं दव्वे खेत्ते सदहत्थपरिमाणं।
कोधादिसंकिलेसा भावविसोही पढणकाले॥ ७६ ॥ (मू० पंचा०)

अर्थ—स्वाध्याय के समय अपने शरीर में तथा दूसरे के शरीर में रुधिर पीप मांस तथा वीर्य, हड्डी आदि अशुचि (अपवित्र) द्रव्य वर्जनीय हैं। स्वाध्याय करने के क्षेत्र में चारों दिशाओं में चार २ सौ हाथ प्रमाण क्षेत्र पर्यन्त तक के उक्त सब अशुचिपदार्थों का त्याग करना चाहिए। यदि क्षेत्र का शोधन न कर सकें तो उस क्षेत्र का त्याग करना चाहिए। जीवजन्तु सहित क्षेत्र में स्वाध्याय न करना चाहिए। वक्ता और श्रोता को गर्म जलादि प्रासुक द्रव्यों का आहार करना चाहिए। जिस भोजन में घृतादि अधिकमात्रा में हों उसका भक्षण न करना चाहिए। द्रव्य शुद्धि तथा क्षेत्र शुद्धि की इच्छा करने वालों को क्रोधादि संक्लेश परिणामों का त्याग करना चाहिए। क्रोध, मान, माया, लोभ, असूया दूसरे की उन्नति को न सहना), ईर्षा आदि न करना भाव शुद्धि है। अत्यन्त शान्ति क्षमा आदि की भावना करनी चाहिए। इस प्रकार काल शुद्धि आदि सहित अध्ययन किया गया आगम कर्म क्षय का कारण होता है। इसके विपरीत करने से कर्म बन्ध होता है।

अकालादि में किन २ शास्त्रों का स्वाध्याय वर्जनीय है, इसे दिखाते हैं।

सुत्तं गणधरकधिदं तहेव पत्तेयबुद्धिकथिदं च।
सुदकेवलिणा कधिदं अभिण्णदसपुव्वकधिदं च॥ ८६ ॥ (मू० पंचा०)

अर्थ—अर्हंत परम भट्टारक के मुख कमल से अर्थ का ज्ञानकर गौतमादि गणधरों ने ग्रन्थरूप से जिनकी रचना की है, उन्हें सूत्र कहते हैं। धर्मादि के उपदेश के बिना, केवल चारित्र मोहनीय और ज्ञानावरणादि के क्षयोपशम से—उल्कापात आदि बाह्य निमित्त को देखने मात्र से संसार की अनित्यता जानकर जिन्होंने संयम धारण किया है, उन्हें प्रत्येक बुद्ध कहते हैं, उनके द्वारा रचित ग्रन्थों का तथा ग्यारह अङ्ग और चतुर्दशपूर्व के ज्ञाता श्रुतकेवली द्वारा रचित आगम का एवं अभिन्न दशपूर्व के धारक महामुनीश्वरों द्वारा निर्मित ग्रन्थों का

(३६२)

अकालादि उक्त अस्वाध्याय के समय मे स्वाध्याय न करना चाहिए। क्योंकि गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्नदशपूर्व के ज्ञाताओ से निर्मित आगम को सूत्र कहते हैं।

तं पढिदुमसज्झाए णो कप्पदि विरदइत्थिवग्गस्स।
एत्तो अण्णो गंथो कप्पदि पठिदुं असज्झाए ॥ ८१ ॥ (मू० पंचा०)

अर्थ—उक्त सूत्रग्रन्थों को संयमियो और आर्यिकाओं को अस्वाध्याय कालादि मे नहीं पढ़ना चाहिए। इनके अतिरिक्त ग्रन्थों को अस्वाध्याय (काल शुद्धि आदि के अभाव) में भी पढ सकते हैं।

वे अन्य ग्रन्थ कौन से हैं, जिनका अस्वाध्याय कालादि में पठन-पाठन वर्जनीय नही है ? इसे कहते हैं—

आराहणा णिज्जुत्ती मरणविभत्ती य संगहत्थुदिओ।
पच्चक्खाणावासय धम्मकहाओ य एरिसओ ॥ ८२ ॥ (मू० पंचा०)

अर्थ—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपरूप आराधनाओं के उद्योतन, उद्यवन, निर्वाहण, साधन आदि के निर्युक्ति ग्रन्थ, सत्रह प्रकार के मरण का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ, पंचसग्रहादि सग्रहरूपग्रन्थ, देवागमादि स्तोत्र ग्रन्थ, तीन प्रकार के तथा चार प्रकार के आहार के त्याग का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ अथवा सावद्य द्रव्य-क्षेत्रादि के त्याग के प्रतिपादक ग्रन्थ, तिरेसठ शलाका के पुरुषों के चरित्र प्रतिपादक पुराण ग्रन्थ, तथा बारह भावना और भी इसी प्रकार के ग्रन्थ अस्वाध्याय कालादि में पढ़े जासकते हैं। अर्थात् काल शुद्धि आदि न होने पर भी उक्त ग्रन्थो का स्वाध्याय वर्जनीय नहीं है। अकालादि मे भी इनका पठन पाठन कर सकते हैं।

विनय शुद्धि

पलियंकनिसेज्जगदो, पडिलेहिय अंजलीकदपणामो।
सुत्तत्थजोगजुत्तो पढिदव्वो आदसत्तीए ॥ ८४ ॥ (मू० पंचा०)

आंखों से देखकर, पिच्छी से भूमि पुस्तकादि का मार्जन कर तथा शुद्ध प्रासुक जल से हाथ पाँव का प्रक्षालन कर अत्यन्त विनय सहित हाथ जोड़कर पर्यंक (पालथी) आदि आसन से बैठे और अपनी शक्ति के अनुसार शुद्धोपयोग पूर्वक अर्थ सहित सूत्र का अध्ययन करे। इसी को विनय शुद्धि कहते हैं।

बहुमान का स्वरूप

सुत्तत्थं जप्पंतो वायंतो चावि णिज्जराहेदुं ।
आसादणं ण कुज्जा तेण किदं होदि बहुमाणं ॥ ८६ ॥ (मू० पंचा०)

अर्थ—यथायोग्य सूत्रार्थ का उच्चारण करता हुआ तथा कर्म निर्जरा के निमित्त अन्य को पढ़ाता हुआ आचार्य उपाध्याय आदि का तथा शास्त्र का और अन्य व्यक्तियो का तिरस्कार-अनादर नहीं करना, गर्व न करना ही बहुमान है। अर्थात् शास्त्रों का तथा आचार्यादि का तिरस्कार न करना, उनकी भक्ति करना ही उनका बहुमान करना कहलाता है।

उपधान शुद्धि

आयंबिलणिव्वियडी अण्णं वा होदि जस्स कादव्वं ।
तं तस्स करेमाणो उपहाणजुदो हवदि एसो ॥ ८५ ॥ (मू० पंचा०)

अर्थ—आचाम्ल तप, घी दूध दही तथा मिष्टान्न आदि का त्याग करके नीरस अन्न का आहार करना अथवा जिस शास्त्र के योग्य जो तप हो उस का आचरण कर शास्त्र का पठन-पाठन करना उपधान शुद्धि है। इसका तात्पर्य यह है कि साधु अवग्रह (आखड़ी) तथा रसादि का त्याग कर या उपवास, आचाम्ल आदि तपस्या कर के शास्त्र का पठन-पाठन प्रारम्भ करे। इस प्रकार बाह्यतप का आचरण कर शास्त्र का अध्ययन अध्यापन आरंभ करने को उपधान शुद्धि कहते हैं।

अनिह्नव का स्वरूप

कुलवयसीलाविहूणे सुत्तत्थं सम्मगागमित्ताणं ।
कुलवयसीलमहल्ले णिण्हव दोसो दु जप्पंतो ॥ ८७ ॥ (मू० पंचा०)

अर्थ—कुल व्रत और शील से हीन गुरु से सूत्रार्थ का ज्ञान सम्यक् प्रकार प्राप्त करके भी अपनी महत्ता बतलाने के लिए उनको गुरु न बताना और जो कुल व्रत और शील से महान् हों उन को अपना गुरु बताना निह्नव दोष है। गुरु सन्तति—गुरुपरम्परा को कुल कहते हैं।

अहिंसा आदि पालन को व्रत कहते हैं। व्रतों की रक्षा करने के आचरण को शील कहते हैं।

अथवा तीर्थंकर, गणधर, सप्त ऋद्धियो के धारक मुनीश्वरों के अतिरिक्त सब यतीश्वर कुल, व्रत शील से हीन हैं, उनसे सम्यक् प्रकार शास्त्र पढ़कर जो कुल, व्रत और शील में महान हैं, उन्हें कहे कि कुल, व्रत, शील मे जो महान हैं उनसे मैंने शास्त्र-ज्ञान प्राप्त किया है। ऐसा कहने वाले को निह्नव दोष होता है। कारण कि उसने अपना गर्व प्रकट किया है,अतःउसके शास्त्र-निह्नव और गुरु-निह्नव दोष होता है और इस दोष से उसके महान कर्मबन्ध होता है।

जिनागम को पढ़कर तथा सुनकर किसी ने ज्ञान प्राप्त किया है, और वह दूसरों से कहता है कि मुझे जैन शास्त्रों से ज्ञान नहीं हुआ है; किन्तु नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक, धर्मकीर्त्ति के ग्रन्थ आदि से मुझे बोध हुआ है। अथवा जैनमुनियों से सम्यक्तया शास्त्र-ज्ञान प्राप्त करके अपनी पूजा प्रतिष्ठा के लिए ब्राह्मणादि को गुरु बताता है, उसको निह्नव दोष प्राप्त होता है। और वह इस दोष से तब तक मिथ्या दृष्टि माना गया है। इसका आशय यह यह है कि ज्ञान-दाता गुरु के नाम का अपलाप करना-छिपाना निह्नव नाम का दोष है।

शब्द, अर्थ और उभय शुद्धि

विंजणसुद्धं सुत्तं अत्थविसुद्धं च तदुभयपरिसुद्धं च।
पयदेण य जप्पंतो णाणविसुद्धो हवइ एसो ॥ ८८ ॥ (मू० पंचा०)

अर्थ—व्याकरण के अनुसार शुद्ध शब्द का गुरु के उपदेशानुसार शुद्ध अर्थ का तथा शुद्ध शब्द और अर्थ दोनों का उच्चारण करने वाला अथवा दूसरों को उपदेश देने वाला विशुद्ध ज्ञानी होता है।

अर्थात् व्याकरण के नियमानुसार ह्रस्व दीर्घादि को जानकर जो सूत्र का पठन-पाठन करता है, तथा गुरु के उपदेशानुसार आम्नाय को समझ कर अर्थ का प्रतिपादन करता है—शब्द और अर्थ में हीनाधिकता अथवा उल्टापलटा नहीं करता है, उसका ज्ञान विशुद्ध होता है। उसीके शब्द अर्थ और उभय (शब्दार्थ) की विशुद्धि होती है और उसीका ज्ञान निर्मल होता है।

विनय का माहात्म्य (महिमा)

विणएण सुदमधीदं जदिवि पमादेण होदि विस्सरिदं।
तमुवट्ठादिपरभवे केवलणाणं च आवहदि ॥ ८९ ॥ (मू० पञ्चा०)

अर्थ—जिसने विनय पूर्वक सूत्र का अध्ययन किया, और यदि वह प्रमाद दोष से विस्मृत होगया—स्मरण न रहा तो भी वह परभव में उपस्थित होता है—स्मरण हो आता है, और केवलज्ञान को प्राप्त कराता है। अर्थात् विनय पूर्वक किया गया आगम का अध्ययन परम्परा से केवलज्ञान की उत्पत्ति करता है।

चारित्राचार

महाव्रत-स्वरूप

चारित्र आत्मा में तल्लीन होने को कहते हैं। आत्मा में तल्लीन होने के बाह्य साधन जो महाव्रतादि हैं उन्हें भी चारित्र कहते हैं। महाव्रतादि से मुख्य चारित्र प्राप्त हो सकता है इसलिए आचार ग्रन्थों में व्रत समित्यादि रूप चारित्र का मुख्य रूप से वर्णन किया गया है। इस चारित्र के तेरह भेद हैं। पञ्च महाव्रत, पञ्च समिति और तीन गुप्ति। इनमें पञ्च महाव्रत और पञ्च समितियों का प्रथम मूल गुणाधिकार में विशद वर्णन किया जा चुका है। इसलिए यहां उनके वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। यहां तो अवशिष्ट तीन गुप्तियों का वर्णन किया जायगा। गुप्तियों के स्वरूप का वर्णन करते हुए आचार्य वट्टकेर ने कहा है :—

मणवचकायपउत्ती भिक्खू सावज्जकज्जसंजुत्ता।
खिप्पं णिवारयंतो तीहिं दु गुत्तो हवदि एसो ॥ १३४ ॥ मू० पञ्चा०

अर्थ—हिंसादि कार्यों से मिली हुई मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को शीघ्र ही दूर करता हुआ साधु तीन गुप्ति का धारक होता है।

जा रायादि णियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणो गुत्ति।
अलि यादि णियत्ती वा मोणं होदि वचिगुत्ती ॥ १३५ ॥
काय किरि याणि यत्ती काउ सग्गो सरीरगे गुत्ती।
हिंसादि णियत्ती वा सरीर गुत्ती हवदि एसा ॥ १३६ ॥ (मू० पर्याप्त)

अर्थ—राग द्वेषादि से मन की निवृत्ति होजाना मनोगुप्ति है। तथा अलीक (झूठ विकल्प) तथा अप्रिय वचनों से निवृत्त होना वचन गुप्ति है। अथवा असत्य वचनों की निवृत्ति भी वचन गुप्ति कहलाती है। मौन धारण करना, ध्यान, अध्ययन या चिन्तन में लगे रहना भी वचन गुप्ति है।

काय (शरीर) की प्रवृत्ति को रोकना, कायोत्सर्ग करना, शरीर से ममत्व छोड़ना, आसन लगाकर ध्यान करना काय गुप्ति है।

जैसे खेत में अनाज की रक्षा के लिये खेत के चारों ओर कांटों की बाड़ खड़ी कर देते हैं, ताकि उसमें कोई पशु आदि घुस न सके एवं नगर की रक्षार्थ उसके चारों तरफ कोट, खाई आदि बना देते हैं जिसमें कि शत्रु प्रवेश न करसके। वैसे ही आत्मा इन पाप रूपी प्रवृत्तियों में न फंस जावे, अतः इसकी रक्षार्थ मन, वचन, काय की गुप्ति रूपी खाई, कोट, तथा बाड़ की व्यवस्था की जाती है। अर्थात् जब आत्मा मन, वचन, काय पर विजय प्राप्त कर लेता है तब वह कभी पाप रूपी मल से लिप्त नहीं होता है। यही इन गुप्तियो के कथन का आशय है। ये गुप्तियां दश प्रकार के चारित्र की रक्षा करने वाली हैं। सूत्रकार ने गुप्तियों का लक्षण बताते हुए कहा है—

सम्यग्योग निग्रहो गुप्तिः ॥ अ० ॥ ६ ॥ सू० ॥ ४ ॥

टीका—सम्यक्प्रकारेण—लोकसत्कारख्यातिपूजालाभआकांक्षारहितप्रकारेण, योगस्य—कायवाङ्मनःकर्मलक्षणस्य, निरोधः—सम्यग्योगनिग्रहो विषयसुखाभिलाषार्थप्रवृत्तिर्निषेधः। यः सम्यग्योगनिग्रहो—मनोवाक्कायव्यापारनिषेधनं सा गुप्तिरित्युच्यते। योगनिग्रहे सति आर्त्तरौद्रध्यानलक्षणसंक्लेश प्रादुर्भावो न भवति। तस्मिंश्च सति कर्म नास्रवति, तेन गुप्तिः संवरप्रसिद्ध्यर्थं वेदितव्या ॥ श्रुतसागरी टीका ॥

अर्थ—सत्कार, ख्याति, (प्रसिद्धि) पूजा, धनादि के लाभ की आकांक्षा रहित होकर मन, वचन और काय की क्रियाओं को रोकना ही सम्यक् प्रकार योग का निग्रह है। इसी को गुप्ति कहते हैं। अर्थात् विषय सुख की अभिलाषा के लिये जो मन-वचन-काय की प्रवृत्ति होती है उसका निरोध करना गुप्ति है। योग का निग्रह होने से आर्त्त रौद्र ध्यानात्मक संक्लेश परिणामो की उत्पत्ति नहीं होती है। और फिर अशुभ कर्मों का आस्रव भी नहीं होता है। इसलिये गुप्ति संवर की प्राप्ति का कारण होती है। मुनि का कर्त्तव्य है कि इन मन, वचन, काय की प्रवृत्ति रूप योगो को भले प्रकार रोके-चलायमान न होने दे। कृत, कारित एवं अनुमोदना द्वारा सावधान रहे। इसके लिए हमेशा ध्यान स्वाध्याय में संलग्न रहे जिससे आत्म-स्वरूप से च्युत होने का कभी अवसर न आवे और कर्मों का आस्रव रुककर संवर हो।

ये पांच समिति और तीन गुप्ति रूप जो अष्ट प्रवचन माता है वह मुनि के ज्ञान, दर्शन, चारित्र की सदा रक्षा करती है। जैसे माता पुत्र की सावधान होकर रक्षा करती है वैसे ही चरण (समिति) और करण (गुप्ति) ये ही मुनि धर्म के रक्षण में जननी तुल्य हैं। अतः इनका सेवन बड़ी सावधानी से करना योग्य है। यह अष्ट प्रवचन मातृ का मुनि धर्म का आधार है। इसके बिना मुनि धर्म की स्थिति नहीं रह सकती इसी लिए इनको माता के समान आदरणीय पद दिया गया है।

संयम का स्वरूप

वदसमिदिकसायाणं दंडाण तहिंदियाण पंचण्हं ।
धारणपालणणिग्गहचागजओ संजमो भणिओ ॥ ४६५ ॥ गो० जीव०

अर्थ—जिससे आत्मा को सम्यक् प्रकार वश में किया जाता है, उस आचरण को संयम कहते हैं। जैसे उन्मार्ग में दौड़ने वाले घोड़े को लगाम सुमार्ग में स्थापित करती है। वैसे ही विषय कषाय में दौड़ते हुए आत्मा को रोककर सुमार्ग में (आत्महित कारक रूप में) लगाने वाला संयम है। यह पांच प्रकार का है—व्रतों का धारण, समितियों का पालन, कषायों का निग्रह, मन, वचन तथा काय की प्रवृत्ति का त्याग और इन्द्रियों का विजय।

हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, और परिग्रह रूप पापों का त्याग कर अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह रूप व्रतों का आचरण करना व्रत धारण है। गमनागमन करने में प्रमाद पूर्वक प्रवृत्ति को रोक कर जीव जन्तुओं की रक्षा करते हुए उपयोग पूर्वक प्रवृत्ति करना, असंयत भाषा का त्याग कर हित–मित–प्रिय–वचन बोलना, रसादि विषय में गृद्धि न करके केवल उदर पूर्ति के लिये आगमोक्त विधि से प्रासुक, संयम–वर्द्धक, निर्दोष आहार लेना, मल मूत्रादि की बाधा निवारण करने के लिये जीव–जन्तु रहित एकान्त स्थंडिल भूमि में शौचादि क्रिया करना ही समिति का पालन है। आत्मा को कर्म बन्ध रूप दंड के देने वाले मन वचन और काय हैं, इनकी दुष्प्रवृत्ति का निग्रह करना गुप्ति है–तथा उत्कट विद्वान एवं धुरंधर तपस्वियों को उन्मार्ग में घसीट लेजाने वाली पांच इन्द्रियाँ हैं, इन पर विजय प्राप्त कर अपने को ध्यान, अध्ययनादि कार्य में लगाना चाहिये। इस प्रकार प्रवृत्ति करने वाले मुनीश्वरों के संयम की आराधना होती है। आत्मा धन पुत्रादि अन्य द्रव्यों से निवृत्त होकर आत्मीय कार्यों में प्रवृत्ति करता है। इसलिये प्रतिक्षण अन्तरात्मा को सुमार्ग में चलाने के लिये उक्त संयम रूप–अंकुश की आवश्यकता है, क्योंकि मनुष्य का चित्त अत्यन्त चपल है, इसकी चपलता को रोकने वाला एक संयम ही अमोघ उपाय है। इसलिये इसका निरन्तर आराधन करना चाहिए।

संयम की उत्पत्ति का कारण

बादरसंजलणुदये सुहुमुदये समखये य मोहस्स ।
संयमभावो णियमा होदित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ ४६६ ॥ गो० जीव०

अर्थ—बादर संज्वलन कषाय का उदय, सूक्ष्म लोभ का उदय एवं चारित्र मोहनीय का उपशम तथा क्षय होने पर नियम से

संयम भाव होता है—ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

तात्पर्य—प्रमत्त और अप्रमत्त इन दो गुण स्थानों में-संज्वलन कषाय चतुष्क (क्रोध, मान, माया और लोभ) के सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदयाभाव (बिना फल दिये झड़ जाना) रूप क्षय, देश घाती स्पर्द्धकों का उदय और इन्हीं का सदवस्था रूप उपशम होने पर सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि संयम होते हैं। जिनमे परिहार विशुद्धि संयम तो छठे और सातवें गुणस्थान मे होता है। सामायिक और छेदोपस्थापना संयम छठे से अनिवृत्तिकरण ९वें गुणस्थान पर्यंत होता है। क्योंकि वादर संज्वलन चतुष्क का इस नौवें गुणस्थान तक उदय रहता है। सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त संज्वलन लोभ (सूक्ष्म लोभ) का उदय होने पर सूक्ष्म-सांपराय-संयम होता है। सम्पूर्ण चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम से ग्यारहवें उपशान्त कषाय गुणस्थान मे एवं इसके क्षय होने से क्षीण कषाय (बारहवें), सयोग केवली (तेरहवें) और अयोग केवली (चौदहवें) में यथाख्यात संयम होता है।

सामायिक संयम का स्वरूप

संगहिय सयलसंजममेयजममणुत्तरं दुरवगम्मं।
जीवो समुव्वहंतो सामाइयसंजमो होदि ॥ ४७० ॥ जी० गोम०

अर्थ—व्रतधारण, समितिपालन आदि पांच प्रकार के संयम को युगपत् (एक साथ) 'मैं सर्व सावद्य (हिंसादि पाप) कर्मों का त्यागी हूँ' इस प्रकार संग्रहनय से सब का संग्रह करके अभेद रूप सर्व सावद्य कर्म से निवृत्तिस्वरूप एक यम का धारण करना सामायिक संयम है। इसकी तुलना दूसरे संयम नहीं कर सकते, कारण कि यह सम्पूर्ण, तथा दुर्गम है। इसका धारण करना अत्यन्त कठिन है। ऐसे संयम को धारण करने वाला जीव सामायिक संयमी होता है।

इसका आशय यह है कि समस्त सावद्य क्रियाओं का एक साथ त्याग कर व्रतों का धारण, समिति का पालन, मन वचन काय की क्रियाओ से निवृत्ति आदि पांच प्रकार के संयम का धारण एक साथ करना सामायिक संयम है। यह अनुपम और दुष्प्राप्य है।

छेदोपस्थापना संयम का स्वरूप

छेत्तूण य परियायं पोराणं जो ठवेइ अप्पाणं।
पंचजमे धम्मे सो छेदोवट्ठावगो जीवो ॥ ४७१ ॥ गो० जीव०

अर्थ—प्रथम सामायिक संयम को धारण कर फिर उससे गिर जाने पर पुनः अपने आत्मा को व्रत धारणादि पांच प्रकार के संयम धर्म में स्थापित करना छेदोपस्थापना सयम है। छेद करके अर्थात् प्रायश्चित का आचरण करके जिसका उपस्थापन होता है उसे छेदोपस्थापना संयम कहते हैं,यह इसका शब्दार्थ है। अथवा अपने द्वारा किये गये दोष का प्रायश्चित (निवारण) करने के लिये पहले जो तप किया था, उसका उस दोष के अनुकूल छेदन करके पुनः निर्दोष संयम में स्थापित करना छेदोपस्थापना संयम कहलाता है।

परिहार विशुद्धि संयम का स्वरूप

पंचसमिदो तिगुत्तो परिहरइ सदावि जो हु सावज्जं।
पंचेक्कजमो पुरिसो परिहारयसंजदो सो हु ॥ ४७२ ॥
तीसं वासो जम्मे वासपुधत्तं खु तित्थयरमूले।
पंचक्खाणं पढिदो संभूणदुगाउय विहारो ॥ ४७३ ॥ गो० जीव०

अर्थ—जो पांच समिति और तीन गुप्ति से सयुक्त होता हुआ सदैव हिंसा रूप सावद्य का परिहार (निवारण) करता है वह पुरुष सामायिकादि पांच सयमों मे परिहार विशुद्धि नामक विशिष्ट सयम का धारक होता है।

जिसने जन्मसे तीस वर्ष की आयु पर्यंत गृहस्थावस्था मे खान पान आदि के सुख का अनुभव किया हो, फिर दीक्षा लेकर पृथक्त्व (आठ) वर्ष तक तीर्थंकर केवली के पाद मूल में प्रत्याख्यान नाम का नौवा अङ्ग पढ़ा हो वह परिहार विशुद्धि संयम को अङ्गीकार करता है। वह तीन सन्ध्या काल को छोड़कर सर्वदा दो कोश विहार करता है। रात्रि में विहार नहीं करता है। वर्षाकाल में उसके ठहरने का नियम नहीं है और विहार का भी कोई नियम नहीं है। कभी विहार करता है और कभी नहीं भी करता है।

प्राणियों के वध से निवृत्त होने का नाम परिहार है, इस परिहार सहित शुद्धि ('निर्मलता) जिस संयम में होती है उसे परिहार–विशुद्धि–संयम कहते हैं। इसका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है। कम से कम इतने काल तक परिहार विशुद्धि सयम में रहकर आत्मा अन्य गुणस्थान को प्राप्त करता है। इसका उत्कृष्ट काल अड़तीस वर्ष हीन एक पूर्व कोटि है। क्योंकि एक करोड़ पूर्व की आयु वाला पुरुष तीस वर्ष गृहस्थावस्था में सुख पूर्वक रहकर फिर दीक्षा ग्रहण कर आठ वर्ष पर्यन्त श्री तीर्थंकर केवली के पाद मूल में प्रत्याख्यान नामक नौवे पूर्व का अध्ययन करता है और इसके बाद परिहार विशुद्धि संयम अङ्गीकार करता है। इसलिये ३८ वर्ष हीन एक करोड़ पूर्व इसका उत्कृष्ट काल होता है।

(४००)

परिहारर्धिसमेतः जीवःषट्कायसंकुले विहरन् ।
पयसेव पद्मपत्रं न लिप्यते पापनिवहेन ।। टीका—गो० जीव०

अर्थ—परिहार विशुद्धि नामक ऋद्धि से संयुक्त मुनीश्वर षट् काय के जीवों से भरे हुए स्थान में विहार करते हुए भी जल से कमल पत्र की तरह पाप से लिप्त नहीं होते हैं।

इसका आशय यह है कि जिसने पूर्व जन्म में सातिशय पुण्य का बन्ध किया है उसके फल स्वरूप वर्तमान भव में जिसे पूर्ण सुख सामग्री उपलब्ध हुई है; तथा जो महावीर्य का धारक है और अति दुष्कर चर्या का आचरण करने वाला है, तथा तीर्थंकर के पाद मूल में ८ वर्ष तक रहकर—प्रत्याख्यान पूर्व का अध्ययन करने से जिसकी आत्मा मे विशेष निर्मलता उत्पन्न हुई है, तथा जिसे जीवों की उत्पत्ति, मरण, योनि, जन्म एवं द्रव्य के स्वभाव आदि का विशेष ज्ञान हो गया है-ऐसे महात्मा को परिहार विशुद्धि संयम होता है।

सूक्ष्मसाम्पराय संयम का स्वरूप

अणुलोहं वेदंतो जीवो उवसामगो व खवगो वा ।।
सो सुहुमसांपराओ जहखादेणूणओ किंचि ।। ४७४ ।। गो० जीव०

अर्थ—सूक्ष्म कृष्टि को प्राप्त हुए लोभ कषाय के अनुभागोदय का अनुभव करने वाला, उपशामक वा क्षपक जीव जिसके सांपराय (कषाय) सूक्ष्म हो गया है, सूक्ष्मसाम्परायसंयमी होता है। यह यथाख्यात संयमी महामुनि से चारित्र मे कुछ कम होता है।

भावार्थ—आठवे गुणस्थान से दो श्रेणियां प्रारम्भ होती हैं। एक उपशम श्रेणी और दूसरी क्षपक श्रेणी। उपशम श्रेणी में चारित्र मोहनीय की इक्कईस प्रकृतियों का उपशम और क्षपक श्रेणी में उनका क्षय करने का उद्यम होता है। ये दोनों श्रेणियां सूक्ष्मसाम्पराय दशवें गुणस्थान तक रहती हैं। इस गुणस्थान में केवल संज्वलन कषाय का सूक्ष्म लोभ रह जाता है। इसके अन्त समय में इस लोभ का उपशामक श्रेणी वाले तो उपशम (उदयाभाव) करते हैं। लेकिन वह सत्ता में बना रहता है। तथा क्षपक श्रेणी वाले उस (लोभ) का सर्वथा नाश करते हैं; इसलिये उपशम करने वाले तो उपशान्त कषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थान को प्राप्त होते हैं और क्षय करने वाले क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान का आश्रय लेते हैं। उपशान्त कषाय वाले नियम से नीचे गिरते हैं। क्योंकि यहां पर जो चारित्र मोहनीय की प्रकृतियां सत्ता में थीं उनका उसने उपशम किया था अब वही प्रकृतियां उदय को प्राप्त होतीं हैं। तथा क्षीण-कषाय-गुणस्थानवर्ती के चारित्र

मोहनीय की समस्त प्रकृतियों का समूल नाश हो जाता है इसलिये उसका पतन नहीं होता है।

यथाख्यात संयम का स्वरूप

उवसंते खीणे वा असुहे कम्मम्मि मोहणीयम्मि ।
छदुमट्ठो जिणो वा जहखादो संजदो सो दु ॥ ४७५ ॥ गो० जीव०

अर्थ—अशुभ रूप मोहनीय का उपशम अथवा क्षय होने पर उपशान्त कषाय गुणस्थान वर्त्ती और क्षीण कषाय गुणस्थान वर्त्ती छद्मस्थ एवं तेरहवें गुणस्थान वर्त्ती सयोगीजिन और चौदहवें गुणस्थान वर्त्ती अयोगीजिन के जो संयम होता है उसे यथाख्यात कहते हैं।

भावार्थ—यहां मोहनीय कर्म के लिए अशुभ विशेषण दिया गया है। यद्यपि सभी कर्म अशुभ हैं तथापि मोहनीय कर्म को ही अशुभ कहने का हेतु यह है कि ज्ञानावरणादि कर्म तो आत्मा के ज्ञानादि गुणों को केवल ढकते ही हैं उनका विपरीत परिणमन नहीं करते; किन्तु मोहनीय कर्म आत्मा के गुणों को विपरीत परिणमन कर देता है। ज्ञान को कुज्ञान, सम्यक्त्व को मिथ्यात्व और चारित्र को कुचारित्र बनाने वाला मोहनीय कर्म ही है। इसीलिये इसे अशुभ कर्म कहा है। सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के उपशम अथवा क्षय होने पर यथाख्यात चारित्र होता है। इसका अर्थ यह है कि कषाय के उदयाभाव में ही यथाख्यात चारित्र प्रकट हो सकता है। कषाय के उदय का अभाव जैसे बारहवें गुणस्थान, तेरहवें गुणस्थान और चौदहवें गुणस्थान में है वैसे ग्यारहवें गुणस्थान में भी है। इसलिये इन चारों गुणस्थानों में यथाख्यात चारित्र माना गया है। आत्मा की स्वाभाविक अवस्था प्रकट होने से यथाख्यात चारित्र प्राप्त होता है।

जैसा आत्मा का स्वभाव है वैसा ही यह प्रकट होता है (यथा–जैसा, आख्यात–कहा जाना) इसलिये इसे यथाख्यात कहते हैं, अथवा इसे अथाख्यात भी कहते हैं। क्योंकि पूर्व चारित्र धारक मुनियों ने मोहनीय कर्म के उपशम अथवा क्षय होने के पहले इसको प्राप्त नहीं किया इसलिये इसको अथाख्यात चारित्र भी कहते हैं।

उक्त चार गुणस्थानवर्ती मुनीश्वरों के यथाख्यात चारित्र होता है। उनमें से उपशान्त कषाय गुणस्थानवर्ती के चारित्र मोहनीय का उदय होने से यथाख्यात चारित्र छूट जाता है और शेष तीन गुणस्थानवर्ती मुनीश्वरों के सदा काल बना रहता है। अर्थात् इनका मोक्ष अवश्यंभावी है वह यथाख्यात चारित्र–जो आत्मा के स्वभाव से जन्य है इसीलिए–मोक्ष में भी विद्यमान रहता है। इसे ही क्षायिक चारित्र भी कहते हैं।

(४०२)

तपआचार का वर्णन

संसार के सब प्राणी इच्छा के वशवर्ती होकर ही अनेक प्रकार के पाप जनक कुकृत्य करते हैं। इच्छा का स्वभाव है कि उसे ज्यों ज्यों पूर्ति का साधन मिलता जाता है त्यों त्यों वह बढ़ती जाती है। इच्छा की पूर्ति बाह्य पदार्थों से कभी नहीं होती; बल्कि बढ़ती जाती है और इतनी बढ़ती है कि समस्त संसार की विभूति प्राप्त होने पर भी वह शान्त नहीं होती। कहा भी है—

आशागर्त्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम् ।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ॥ ३६ ॥ (आत्मा०)

अर्थात्—इच्छा रूप खड्डा इतना गहरा है कि उसमें सम्पूर्ण विश्व का साम्राज्य भी अणु के समान है। यह इच्छा प्रत्येक प्राणी की चित्त में मौजूद है। विश्व तो एक है और उसके चाहने वाले प्राणी अनन्त हैं वह किस २ को मिल सकता है। किसके हिस्से में कितना आवे पदार्थों की प्राप्ति होने पर इच्छाओं की उससे शान्ति नहीं होती; इसलिए संसार के विषय धनादि की इच्छा करना व्यर्थ है। इससे आत्मा को शान्ति नहीं मिलती इसलिए आचार्य कहते हैं कि धन-सम्पत्ति-पुत्र-कलत्रादि की बात ही क्या ? यह शरीर भी अपना नहीं है। यह भी आयु के पूर्ण होने पर आत्मा को छोड़ देता है। किन्तु मोहान्ध प्राणी इसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए भी लालसा के वशीभूत होकर अनेक पाप जनक कुकृत्यो को करता रहता है और उसके फल स्वरूप स्वयं नरक निगोदादि के दुःखों को अनन्त काल तक भोगता है। इसलिए आचार्य अपने तपस्यादि के शुद्ध भाव रूप सुकृत्यो को छोड़कर जीवो के हितार्थ शास्त्र निर्माण करते हैं और अपने उपदेशामृत से जीवों की फैलती विषयाभिलाषा रूपी दावाग्नि को शान्त करते हैं कि तपस्या ही आत्मा को शान्ति सुख देने वाली है। और वह इच्छाओं के निरोध से होती है। वही कहा है—

'इच्छा निरोधस्तपः'

अर्थात्—अनात्म पदार्थों (पौद्गलिक विषयों) में जो इच्छाएँ दौड़ लगा रही हैं, उन्हें रोककर स्वाध्याय ध्यानादि आत्महितकर कार्यों मे लगाना ही तप है। यह तप रूप अग्नि अनादि काल से आत्मा के साथ लगे हुए कर्म रूप ईंधन-राशि को क्षण भर में भस्मसात् करने वाली है। अतः क्षण भर भी अर्थात् काल का सूक्ष्म भाग भी तप से खाली नहीं जाने देना चाहिए। क्योंकि एक तपश्चरण ही तुम्हारे आत्मीय रोग की अमोघ औषधि है। अतः उसका आचरण करो।

वह तप दो प्रकार का है :—

दुविहो तवाचारो बाहिरअब्भंतर मुणेयव्वो ।
एक्केक्को वि य छद्धा जधाकमं तं परूवेमो ॥ १४७ ॥ मू० पंचा०

अर्थ—तपश्चरण दो प्रकार का है—१ बाह्य और २ आभ्यन्तर इन दोनों में प्रत्येक के छह छह भेद हैं। यथाक्रम से इसका वर्णन करते हैं।

भावार्थ—कर्म मल को दग्ध करने लिए जो तपा जाता है, उसे तप कहते हैं। उसके दो भेद हैं—एक बाह्य तप और दूसरा अन्तरङ्ग तप। जिसका शरीर द्वारा आत्मा के साथ सम्बन्ध हो उसे बाह्य तप कहते हैं। और जिसका साक्षात् आत्मा के साथ सम्बन्ध हो, उसे अन्तरङ्ग या आभ्यंतर तप कहते हैं।

बाह्य तप के भेद

अणसणअवमोदरियं रसपरिच्चाओ य वुत्तिपरिसंखा ।
कायस्स वि परितावो विवित्तसयणासणं छट्ठं ॥ १४८ ॥ मू० पंचा०

अर्थ—अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, कायपरिताप और विविक्तशयनासन ये छह प्रकार का बाह्य है।

(१) अनशन—खाद्य स्वाद्य लेह्य और पेय इन चार प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन तप है।

(२) अवमौदर्य—भूख से कम खाना अवमौदर्य तप है।

(३) रसपरित्याग—अपनी इच्छानुसार स्निग्ध (घृत तैलादि), मिष्ट, खट्टा, कडुआ इत्यादि रस का त्याग करना, रसपरित्याग-तप है।

(४) वृत्तिपरिसंख्यान—घर, दाता, वर्तन, तथा भोजनादि की अटपटी आखड़ी लेना, वृत्तिपरिसंख्यान तप है।

(५) कायपरिताप (कायक्लेश)—गर्मी में आतापन, शीतकाल में अभ्रावकाश (खुले मैदान में ठहरना), वर्षा में वृक्ष के मूल में ठहरना आदि क्रियाओं से कर्मों का क्षय करने के लिए बुद्धि पूर्वक शरीर का शोषण करना कायक्लेश तप है।

(४०४)

(६) विविक्तशयनासन—स्त्री, पशु, नपुंसक आदि से शून्य स्थान में सोना, बैठना विविक्तशयनासन तप है।

अनशन तप के भेद

अद्धाणसणं सव्वाणसणं दुविहं तु अणसणं भणियं।
विहरंतस्स य अद्धाणसणं इदरं च चरिमंते॥ २१४॥ भग०

अर्थ—अनशन तप के दो भेद हैं—अद्धानशन और सर्वानशन। अन्यत्र अद्धाशब्द का अर्थ काल है, किन्तु यहां पर चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम आदि से लेकर छह मास पर्यन्त जितने तप के भेद हैं, उन सब का ग्रहण अद्धानशन में होता है। धारणा पारणासहित उपवास को चतुर्थ कहते हैं। अथवा चार वेला के भोजन के त्याग को चतुर्थ कहते हैं। जैसे—अष्टमी के उपवास के पहले दिन सप्तमी की एक वेला (सायं), अष्टमी की दो वेला तथा ६ नवमी की एक वेला। इस प्रकार ४ वेला के भोजन के त्याग करने को चतुर्थ कहते हैं। चतुर्थ एक उपवास का नाम है। दो उपवास को षष्ठ और तीन उपवास को अष्टम कहते हैं। ऐसे ही आगेभी समझ लेना चाहिए। सन्यास धारण करने पर यावज्जीव चारों प्रकार के आहार का त्याग करना सर्वानशन है। ग्रहण और प्रति सेवना काल में मुनि अद्धानशन तप करते हैं। दीक्षा लेकर जब तक संन्यास ग्रहण नहीं किया जाता तब तक के काल को ग्रहण काल कहते हैं। तथा व्रतादिक में अतिचार लगने पर जो प्रायश्चित्त से उनकी शुद्धि के लिए कुछ दिन अनशन (उपवास) किया जाता है, उसे प्रतिसेवना काल कहते हैं।

अवमौदर्य (ऊनोदर) तप का स्वरूप

एगुत्तरसेढीए जावय कवलो वि होदि परिहीणो।
ऊमोदरियतवो सो अद्धकवलमेव सित्थं च॥ २१७॥ भग०

अर्थ—स्त्री के भोजन के ग्रास का परिमाण अठाईस तथा पुरुष के भोजन के ग्रास का परिमाण बत्तीस कहा है। उसमें से एक दो आदि ग्रास कम करते करते एक ग्रास मात्र का आहार करना अवमौदर्य तप है। उस एक ग्रास में भी कम करते करते आधा चौथाई आदि से लेकर एक चांवल मात्र का आहार करना अवमौदर्य तप है।

शंका—न्यून आहार का ग्रहण करना तप कैसे माना जावे?

उत्तर—अधिक भोजन करने की अभिलाषा को रोककर थोड़ा भोजन करने से इच्छा का निरोध होता है; इसलिए यह तप कहा गया है।

रसपरित्याग तप

खीरदधिसप्पितेल्लं गुडाण पत्तेयदो व सव्वेसिं।
णिज्जूहणमोगाहिम पणकुसणलोणमादीणं ॥ २२० ॥ भग०

अर्थ—दूध, दही, घृत, तेल, गुड़, नमक आदि रसों का तथा इनमें से एक दो आदि रस का परित्याग करना रसपरित्याग तप है।

भावार्थ—रसपरित्याग तप दो प्रकार का है—यावज्जीवन रसों का त्याग तथा परिमित काल तक रसों का त्याग। सन्यास काल में सब रसों का त्याग यावज्जीवन पर्यन्त होता है तथा सन्यास के समय के सिवाय रसों का त्याग परिमित काल के लिए एवं यावज्जीवन पर्यन्त भी होता है।

रसपरित्याग तप का आचरण करना संयमी जनों का कर्तव्य है। रसपरित्याग तप स्वयं धारण किया जाता है। अन्य को वचनादि द्वारा प्रकट नहीं किया जाता। संयमी को ध्यान में रखना चाहिए कि दातार के घर पर गर्म भोजन मिले या ठंडा मिले, दूसरी वेला का बनाया हुआ मिले या ताजा मिले, रूखा, सूखा, निःस्वादु, मिर्च मसाले रहित, उष्ण जल से मिला हुआ, घृत रहित रूखा सूखा भात आदि अथवा ज्वार, बाजरा, मक्का आदि की रोटी या दलिया आदि शुद्ध पदार्थ मिले उसे प्रेम पूर्वक ग्रहण करना चाहिए। रसपरित्याग करने से भोजन की लालसा नष्ट होती है।

वृत्तिपरिसंख्यान तप का स्वरूप

गत्तापच्चागदं उज्जुवीहि गोमुत्तियं च पेलवियं।
संबुकावट्टंपि य पदंगवीथी य गोयरिया ॥ २२३ ॥ भग०

अर्थ—जिस मार्ग से आहार के लिए गमन करे उसी मार्ग से लौटते समय यदि आहार मिलेगा तो मैं आहार का ग्रहण करूंगा अन्यथा नहीं—ऐसी प्रतिज्ञा करना गतप्रत्यागत है। सीधे रास्ते में गमन करते हुए यदि आहार मिलेगा तो आहार लूंगा, अन्यथा नहीं लूंगा—ऐसी प्रतिज्ञा करना ऋजुवीथी है। मूतते हुए गमन करने वाले बैल के मूत्र का आकार जैसा होता है, वैसे आकार से मोड़े खाने वाले मार्ग में यदि भोजन मिलेगा तो आहार ग्रहण करूंगा—ऐसी प्रतिज्ञा करने को गोमूत्रिक कहते हैं। बांस की सीकों लकड़ी आदि से बने हुए चोकोर

वस्त्रालङ्कार रखने के ढक्कन सहित सन्दूक-पेटी के आकार चतुष्कोण भ्रमण करते हुए यदि मुझे आहार मिलेगा तो आहार ग्रहण करूंगा—ऐसी प्रतिज्ञा करने को पेलविग कहते हैं। शंख के आवर्त्त के समान शहर के मुहल्ले में भ्रमण करके बाहर निकलते हुए यदि भिक्षा मिलेगी तो लूंगा—ऐसी प्रतिज्ञा करना शंबुकावर्त्ता है। पक्षियों की पंक्ति जैसे भ्रमण करती है वैसे भ्रमण करते मुझे आहार मिलेगा तो लूंगा—ऐसी प्रतिज्ञा करना पतङ्गवीथी है। अथवा जिस श्रावक के घर लेने का विचार किया है कि यदि अमुक श्रावक के यहां विधिपूर्वक भिक्षा मिलेगी तो आहार लूंगा अन्यथा आज आहार का त्याग है—ऐसी प्रतिज्ञा करने को पतङ्गवीथी कहते हैं। इस प्रकार आहार के लिए विविध नियम का ग्रहण करना वृत्तिपरिसख्यान तप है।

भावार्थ—वृत्ति परिसख्यान तप करने वाला अनेक प्रकार की प्रतिज्ञाएँ लेकर भिक्षा के लिए गमन करता है। यदि आज मुझे अमुक प्रकार भिक्षा के लिए पडगाहन करेगा तो आहार ग्रहण करूंगा, अन्य प्रकार नहीं लूंगा। ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार आहार न मिलने पर प्रतिज्ञा की अवधि तक प्रतिज्ञा बदलनी नहीं चाहिए। प्रतिज्ञा एक दिन की ली हो या दो दिन अथवा दस दिन की हो, तब तक उसका पूरी तरह निर्वाह करना चाहिए। प्रतिज्ञा की अवधि बढ़ाना साधु की इच्छा पर निर्भर है; किन्तु उसकी अवधि को घटाना उसके अधीन नहीं। जितने काल की अवधि से ली हुई प्रतिज्ञा हो, उसको उतने काल तक तो बराबर पालन करना आवश्यक है। जैसे—आज मैं अमुक मुहल्ले में भिक्षा के लिए जाऊंगा, अमुक घर मे जाऊँगा, अमुक प्रकार से दातार पडगाहेगा, या अमुक घर में दातार अमुक वस्तु हाथ में लिए मिलेगा, कलश हाथ में लिए मिलेगा, या माला, नारियल, छलना, दर्पण, पुस्तक पन्ना हाथ में लिए हुए मिलेगा तो घर मे आहार के लिए प्रवेश करूंगा नहीं तो नहीं। आज अमुक प्रकार के बर्त्तन से दातार भोजन देगा, (मिट्टी स्वर्ण चांदी तांबे पीतल कांसे पात्र से) तो आहार ग्रहण करूंगा, अन्यथा भोजन का त्याग करूंगा। तथा स्त्री पुरुष, दो पुरुष या दो स्त्री होंगे या एक पुरुष होगा, तो भोजन ग्रहण करूंगा अन्यथा नहीं। आज केवल मूंग, मसूर, चना, गेहूं, चांवल, मक्का, ज्वार, बाजरा, जो या कुलथी का ही आहार लूंगा। आदि अनेकानेक प्रकार से यह तप होता है।

प्रतिज्ञा चाहे कैसी भी हो और कितने ही दिन की हो किसी पर प्रकट नहीं करना चाहिए। तभी प्रतिज्ञा का ग्रहण सार्थक है, और उसी को वृत्तिपरिसंख्यान तप कहा है। यदि प्रतिज्ञा किसी तरह प्रकट करदी जावे तो वह तप नहीं होता, प्रत्युत ढोंग कहा जाता है। आत्मबल बढ़ाने के लिए अथवा बहुत काल पर्यन्त साधन किये आत्मबल की परीक्षा के लिए एवं कर्म की निर्जरा के लिए उक्त प्रकार की प्रतिज्ञा साधु किया करते हैं। इसका अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि जिस प्रतिज्ञा से जीवों की विराधना होती हो अथवा जो व्यवहार से विरुद्ध मालूम पड़ती हो, वैसी प्रतिज्ञा कदापि न लेनी चाहिए। द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव एवं व्यवहार को देखकर प्रतिज्ञा लेनी चाहिए। प्रतिज्ञा लेते समय अपनी शक्ति का ध्यान रखना परम आवश्यक है। पूर्व काल के साधुओ ने अमुक प्रकार की प्रतिज्ञा ली थी अतः हमे भी ले लेना

चाहिए, यह अनुकरण सर्वथा अनुचित है। प्राचीन काल के महामुनि उत्तम संहनन के धारक थे, महावीर्यवान् और परम धैर्यशाली थे। उनकी समानता की विडम्बना करना उचित नहीं है; अतः शक्ति को देखकर प्रतिज्ञा ग्रहण करना चाहिए।

कायक्लेश तप

अणुसूरी पडिसूरी य उड्ढसूरीयं तिरियसूरी य।
उब्भागेण य गमणं पडिआगमणं च गंतूणं ॥ २२७ ॥ (भग०)

अर्थ—जिस दिन कडी धूप पड़ रही हो, उस दिन पूर्व दिशा से पश्चिम दिशा की ओर जाना–अनुसूरी गमन, तथा पश्चिम दिशा से पूर्व दिशा की ओर गमन करना अर्थात् सूर्य के सन्मुख जाना पडिसूरी, सूर्य जब मस्तक पर आ जावे उस समय मध्याह्न में गमन करना उड्ढसूरी, सूर्य को तिर्यक रखकर गमन करना–तिरिअसूरी एक गांव से दूसरे गांव मे बिना विश्राम किए आहार के लिए गमन करना तथा जाकर वापिस लौट आना उब्भागमेणं गमण है। यह सब गमनरूप कायक्लेश है।

प्रमार्जित स्तम्भ, भीत इत्यादि का सहारा लेकर खड़ा रहना यह साधारण कायक्लेश तप है। पहले स्थान से इस स्थान में जाकर वहां एक पहर दिन आदि का प्रमाण लेकर खडे रहना, अथवा स्वस्थान में ही निश्चल होकर खडे रहना, कायोत्सर्ग करना, पैरो को बराबर रख कर खडे रहना, एक पैर से खड़े रहना, दोनों पक्ष फैलाकर उड़ते गिद्ध पक्षी की तरह दोनो भुजाएँ फैलाकर खड़े रहना। यह खड़े रहना रूप कायक्लेश है।

उत्तम पर्यंकासन लगाकर (पालथीमाडकर) बैठना, उसकी पलटापलटी न करना, दोनों पैरों को नितम्ब के नीचे देकर बैठना, गौ को दुहते समय जिस प्रकार बैठते हैं, वैसा आसन लगाकर बैठना, भूमि को न छूते हुए पैरो को समान रखकर पैर के अग्रभाग से बैठना, मगर के मुख की भांति पैरों की आकृति बनाकर बैठना, नीचा सिर और ऊँचे पैर करके शीर्षासन लगाना, हाथी की सूड के समान एक पैर पसार कर या एक हाथ पसार कर बैठना, गवासन से बैठना, तथा अर्धपर्यंकासन से बैठना, वीरासन से बैठना–दोनो पांवों को दोनो जांघों पर रखकर बैठना, इत्यादि अनेक प्रकार के आसन लगाकर ध्यान करना कायक्लेश तप है। जिस आसन से ध्यान में बाधा न आवे वही आसन लगाकर साधु को ध्यान करना चाहिए।

दण्डाकार शयन करना, खड़े खडे सोना, शरीर को सुकोड कर शयन करना, चित शयन करना, नीचे मुख कर के शयन करना, एक पार्श्व से शयन करना, मृतक समान निश्चेष्ट होकर शयन करना, निरावरण (छाया रहित) प्रदेश मे शयन करना, नहीं थूकना, नहीं

सुआलना, तृण की शय्या अथवा काष्ठ के तख्ते पर, शिला एवं भूमि पर शयन करना, इधर उधर करवटें न लेना यह शयनकायक्लेश तप है। तथा मस्तक आदि के केशों का लुञ्चन करना अर्थात् अपने हाथ से केशों को उखाड़ना, आवश्यकता होने पर दूसरे से भी अपने केश उखड़वाना केशलोच नामक कायक्लेश तप कहलाता है। जिस आचरण से शरीर को कष्ट पहुंचे ऐसे अस्नान (स्नान नहीं करना) दांत नहीं मांजना, रात्रि जागरण शीत उष्ण वृष्टि आदि जन्य क्लेश सब कायक्लेश तप हैं।

विविक्त शय्यासन तप

जत्थ ण सोत्तिग अत्थि दु सद्दरसरूपगंधफासेहिं।
सज्झायज्झाणवाघादो वा वसधी विवित्ता सा॥ २२८॥ (भग०)

अर्थ— जिस वसतिका में मनोज्ञ व अमनोज्ञ स्पर्श रूप रस गन्ध और शब्दों से अशुभ परिणाम नहीं होते तथा जिसमें स्वाध्याय व ध्यान में विघ्न बाधा नहीं आती है वह वसति मुनियों के रहने योग्य होती है। वह खुले द्वार वाली हो या ढके द्वार वाली हो, समभूमि वाली, या विषम-(ऊँची नीची) भूमि वाली हो, अन्दर के भाग में हो या बाहर के भाग में हो, गांव के निकट हो या दूर हो, शीत या उष्ण हो, जीव जन्तुओं की बाधा से रहित हो, या सहित हो वह वसति योग्य मानी गई है, जिसमें स्त्री नपुंसक और पशु का गमना गमनादि का सम्पर्क न हो। ग्राम के निकट की वसतिका मे एक रात्रि, ग्राम के बाहर की वसतिका में पांच रात्रि पर्यन्त साधु को निवास करना चाहिए, अधिक नहीं करना चाहिए। वर्षा ऋतु के सिवा अन्य काल में बीमारी आदि किसी विशेष कारण के बिना कदापि नहीं रहना चाहिए।

कौनसी वसति विविक्त वसति कही जाती है ? इसे कहते हैं

सुण्णघरगिरिगुहारुक्खमूलआगंतुगारदेवकुले।
अकदप्पभारारामघरादीणि य विवित्ताइं॥ २२९॥ (भग०)

अर्थ—सूना घर, पर्वत की गुफा, वृक्ष का मूल, यात्रियो के ठहरने के लिये बनी हुई धर्मशाला, देवमन्दिर, शिलाओं से स्वयं बना हुआ घर—अकृत्रिम घर, बाग बगीचों में क्रीड़ार्थ आने वालों के लिए बनाये गये घर इत्यादि ऐसे ही अन्य निर्दोष एकान्त स्थानों को विविक्त वसति कहते हैं।

जिन—चैत्यालय भी साधुओं के ठहरने योग्य बताया है; किन्तु उसमें यदि ठहरना ही पड़े तो विनय पूर्वक एक तरफ अपना शय्यासन करना चाहिए। जब दूसरा स्थान न मिले तब ही उसमें ठहरना चाहिए। दूसरे के द्वारा छोड़े हुए या 'छुड़ाये हुए स्थान में जिसमें ठहरने का निषेध न हो ऐसे विमोचित स्थान मे साधु ठहर सकता है।

जहां पर 'यह वसति मेरी है, यह तेरी है इत्यादि विसवाद न होता हो, चित्त को व्यग्र करने वाला शोर गुल न हो, असंयमी जनो का सञ्चार व प्रसार न हो, मन को सक्लेश उत्पन्न करने वाले निमित्त न हो.विविक्त वसतिका के ऊपर ममत्व नहीं उत्पन्न होता हो, जहां आत्मचिन्तन और शास्त्र अध्ययनादि कार्यों में बाधा नहीं आती हो–ऐसी विविक्त वसति में साधु–जन निवास करते हैं।

जहां पर गाय भैंस आदि तिर्यंचनियों का, वेश्या, व्यभिचारिणी स्त्रियों का भवनवासी व व्यन्तर देवियों का सम्पर्क हो उनका प्रचार हो–ऐसे स्थानों में साधु शय्या आसन आदि नहीं करते।

आभ्यन्तर तप

पायच्छित्तं विणयं वेयावच्चं तहेव सज्झायं।
झाणं च विउस्सग्गो अब्भंतरओ तव एसो ॥ १६३ ॥ मू० पञ्चा०

अर्थ—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान, और व्युत्सर्ग ये आभ्यन्तर तप के छह भेद हैं।

प्रायश्चित—जिस तप से पूर्व कृत दोषों से–पापों से विशुद्धि होती है, व्रतों मे लगे हुए दोषों की शुद्धि होती है, उसे प्रायश्चित कहते हैं।

प्रायश्चित्त के भेद

आलोयण पडिक्कमणं उभय विवेगो तहा विउस्सग्गो।
तव छेदो मूलं वि य परिहारो चेव सद्दहणा ॥ १६५ ॥ मू० पञ्चा०

अर्थ—आलोचना, प्रतिक्रमण उभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान ये प्रायश्चित के दश भेद हैं।

(१) आलोचना—आचार्य के सम्मुख जाकर अथवा आचार्य के अभाव में चारित्राचार पूर्वक उत्पन्न हुए दोषों का निवेदन करना आलोचना है।

(२) प्रतिक्रमण—रात्रि भोजन के साथ पाच महाव्रतो में लगे हुए दोषा की निन्दा-गर्हा करते हुए उन दोषों का शोधन करना प्रतिक्रमण है।

(३) उभय (आलोचना-प्रतिक्रमण) आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनों के आचरण करने से जो दोष दूर होता है, उसकी शुद्धि के लिए दोनो (आलोचना-प्रतिक्रमण) का आचरण करना उभय है।

(४) विवेक—काल की मर्यादा पूर्वक गण से तथा स्थान से साधु को पृथक् करना, विवेक है।

(५) व्युत्सर्ग—व्युत्सर्ग नाम कायोत्सर्ग का है। परिमित काल (एक आवलि से लेकर एक मुहूर्त्त, दो दिन, तीन दिन, पक्ष, मास, छह मास पर्यन्त) शरीर से ममत्व त्याग कर एक स्थान पर स्थिरता से खड़े रहना कायोत्सर्ग है।

(६) तप—कर्म क्षय करने के लिए अनशनादि तप का अनुष्ठान करना, तप है।

(७) छेद—अपराध के अनुसार दीक्षा मे से पक्ष मासादि कम करना, अर्थात् दीक्षा को घटाना, छेद है।

(८) मूल—भयंकर व्रत नाशक अपराध होने पर दीक्षा का छेदन कर नई दीक्षा देना, मूल प्रायश्चित है। राजवार्तिक आदि ग्रन्थो मे इसे उपस्थापना नाम से कहा है।

(९) कुछ काल के लिए उसे बहिष्कृत करना, परिहार नामा प्रायश्चित है, इस के दो भेद हैं—गणप्रतिबद्ध, गणाप्रतिबद्ध।

गण प्रतिबद्ध—जहा पर अन्य साधु लघुशंकादि निवारण करते हैं, ऐसे स्थान में अपराधी साधु को ठहराना। अपराधी पिच्छी को आगे करके अन्य साधुओं की वन्दना करता है, उसको कोई भी साधु वन्दना नहीं करता है, इस प्रकार गण में रखकर जो क्रिया की जाती है, उसे गण प्रतिबद्ध परिहार कहते हैं।

गणाप्रतिबद्ध—जिस देश मे लोग धर्म को नहीं समझते हैं उस देश में मौन पूर्वक परिमित काल तक तपश्चरण करने का दण्ड

(१०) श्रद्धान—तत्त्वों में रुचि रूप परिणाम को अथवा क्रोधादि के त्याग को श्रद्धान कहते हैं। अर्थात मिथ्यात्व रूप तत्त्वों में जिसे रुचि नहीं है, ऐसे साधु को तत्त्व में रुचि उत्पन्न करके पुनः दीक्षा की प्रार्थना करने पर दीक्षा देना श्रद्धान नामक प्रायश्चित है।

भावार्थ—कोई दोष तो ऐसा है जो आलोचना मात्र से शुद्ध होता है। कोई ऐसा होता है, जो प्रतिक्रमण से शुद्ध होता है। कोई दोष आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनो से शुद्ध होता है। कोई दोष विवेक से, कोई दोष कायोत्सर्ग से, कोई तप से, कोई छेद से, कोई मूल से तथा कोई परिहार से और कोई दोष श्रद्धान मात्र से शुद्ध होता है।

आलोचना का स्वरूप

कृत्वा त्रिशुद्धिं प्रतिलिख्य सूरिं प्रणम्य मूर्धस्थितपाणिपद्मः।
आलोचनामेष करोति मुक्त्वा दोषानशेषानपशल्यदोषः ॥ ५८६ ॥ (म० भग०)

। काय की शुद्धि करके पिच्छी से भूमि का प्रमार्जन करे तथा हाथ जोड़ मस्तक पर लगाकर आचार्य को सविनय प्रणाम करे। तीनों शल्यों से रहित होकर आलोचना के आगमोक्त दोषों को टालकर सब दोषों को आचार्य महाराज के पास प्रकट करना चाहिए। सिद्ध भक्ति व योग भक्ति पढकर वन्दना करनी चाहिये, ऐसा वृद्ध आचार्य कहते हैं। परन्तु श्री चन्द्राचार्य सिद्ध भक्ति, चारित्र भक्ति तथा शांति भक्ति पढ़कर वंदना करनी चाहिए-ऐसा कहते हैं।

आलोचना के दोष

आकंपिय अणुमाणिय जं दट्ठं वादरं च सुहुमं च।
छण्णं सद्दाउलगं बहुजण अव्वत्त तस्सेवी ॥ ५६८ ॥ (भग०)

अर्थ—आकम्पित, अनुमानित, दृष्ट, वादर, सूक्ष्म. छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवी ये दश आलोचना के दोष हैं। इनका खुलासा निम्न प्रकार है।

(१) आकम्पित—गुरु के मन में अपने विषय में अनुकम्पा (दया) उत्पन्न कर आलोचना करना, आकम्पित दोष है।

(४१२)

(२) अनुमानित—किसी उपाय से गुरु के अभिप्राय को जानकर स्वकीय दोषों को कहना, अनुमानित दोष है।

(३) दृष्ट—जो दोष दूसरों ने देखें हैं, उन्हीं दोषों को प्रकट करना, नहीं देखे हुए दोषों को छिपाना दृष्ट दोष है।

(४) वादर—स्थूल-मोटे दोषों का कथन करना और सूक्ष्म दोष प्रकट नहीं करना वादर दोष है।

(५) सूक्ष्म—उत्पन्न हुए सूक्ष्म दोषों को प्रकट करना और स्थूल दोषों को छिपाना सूक्ष्म दोष है।

(६) छन्न—कोई साधु अमुक दोष करे तो उसका प्रायश्चित्त दिया जाता है, इस प्रकार पूछकर जो अपनी शुद्धि करता है, प्रकट रूप से अपने दोष को नहीं कहता है, उसके छन्न दोष होता है।

(७) शब्दाकुलित—पाक्षिक,चातुर्मासिक, सांवत्सरिक आलोचना के समय बहुत मुनिजन मिलकर आलोचना कर रहे हों, उस कोलाहल में, उनकी ध्वनि मे अपनी ध्वनि मिलाकर अपने दोषो की आलोचना करना, शब्दाकुलित दोष है।

(८) बहुजन—बहुत से साधुजनों के साथ २ आप भी खड़ा होकर अपने दोषों की आलोचना करना बहुजन दोष है। अथवा एक आचार्य को अपना अपराध निवेदन कर उस प्रायश्चित्त पर श्रद्धान न करके दूसरे आचार्य के पास पुनःअपने अपराध निवेदन कर प्रायश्चित चाहना बहुजन दोष है।

(९) अव्यक्तदोष—अज्ञानी साधु के समीप अपने दोषों की आलोचना करना अव्यक्त दोष है।

(१०) तत्सेवी—अपने लगे हुए दोषो के समान दोषों के सेवन करने वाले पार्श्वस्थादि साधुओं के समक्ष अपने दोषों की आलोचना करना तत्सेवी नाम का दोष है।

पुराने कर्मों का क्षय, क्षेपण, निर्जरा, शोधन, धावन, पुंछन, निराकरण, उत्क्षेपण, छेदन, द्वैधीकरण ये प्रायश्चित्त के नाम हैं।

विनय तप

दंसणणाणे विणओ चरित्ततवओवचारिओ विणओ।
पंचविहो खलु विणओ पंचमीगइणायगो भणिओ ॥ १६७ ॥ (मू० पंचा)

अर्थ—दर्शन विनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय, तपविनय और उपचारविनय इस प्रकार विनय के पांच भेद हैं। यह विनय पंचमी गति (मोक्ष) की प्राप्ति कराने वाला है, ऐसा आचार्यों ने कहा है। अब इनकी विशद व्याख्या करते हैं।

दर्शनविनय

उवगूहणादिआ पुव्वुत्ता तह भत्ति आदिआ य गुणा।
संकादिवज्जणं पि य दंसणविणओ समासेण ॥ १६८ ॥ (मू० पचा०)

अर्थ—परका दोष ढकना, अपनी प्रशंसा न करना, उपगूहन गुण है। निज की आत्मा को या पर को धर्म मे दृढ करना स्थिति करण गुण है। रत्नत्रय धर्म में तथा उनके धारकों में गोवत्स समान प्रीति करना वात्सल्य गुण है, इत्यादि इन सम्यक्त्व के आठ गुणों का पहले व्याख्यान कर आये हैं। इसलिए यहां नहीं किया गया है। अर्हन्तादि पंचपरमेष्ठी में भक्ति, उनकी पूजा, और गुणो का कीर्त्तन करना, गुणानुकीर्त्तन नामक गुण है। किसी निमित्त से धार्मिक पुरुषो के अवर्णवाद का प्रसंग आता हो तो, उस को तन मन और धन लगाकर दूर करना आसादना परिहार गुण है। शंका, आकांक्षा, निर्विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि प्रशंसा, तथा मिथ्यादृष्टि की स्तुति करना ये सम्यग्दर्शन के पांच अतिचार हैं। इनका स्वरूप का वर्णन पहले कर आये हैं, उनका निवारण करना दर्शन विनय है।

ज्ञान विनय

ग्रन्थार्थतद्वयैःपूर्णं सोपधानमनिह्नवम्।
विनयं बहुमानं च तन्वन् काले श्रुतं भवेत् ॥ ११४ ॥ (अन० अ० ३)

अर्थ—संध्या, ग्रहण आदि अस्वाध्याय काल को टाल कर योग्य काल मे आगमोक्त विधि से आचाम्ल अनशनादि तपश्चरण धारण कर, सत्कार पुरस्कारादि बहुमान पूर्वक, अपने गुरु का नाम न छिपाते हुए, शब्द अर्थ तथा उभय (शब्दार्थ) रुप सूत्र का (महत्व प्रकट करते हुए) विनय पूर्वक अध्ययन करना ज्ञान विनय है।

चारित्र—विनय

इंदियकसायपणिधाणं पि य गुत्तीओ चेव समिदीओ।
एसो चरित्तविणओ समासदो होई णायव्वो ॥ ११७ ॥ (भग०)

(४१४)

अर्थ—इन्द्रियों के विषय एवं कषाओं में मन की प्रवृत्ति न होने देना, मन-वचन-काय गुप्ति का धारण, पांच समिति का पालन करना चारित्र का विनय है।

इन्द्रिय-कषाय-प्रणिधान—इन्द्र नाम आत्मा का है, उसका जो लिङ्ग-सूचक-ज्ञापक है, उसे इन्द्रिय कहते हैं। अथवा इन्द्र नाम नामकर्म का है, उससे जो निर्माण की जाती है, उसे इन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रिय के दो भेद हैं-द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय, इत्यादि। इसका विशेष विवेचन पहले कर चुके हैं। वे इन्द्रियां पांच हैं-स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु और श्रोत्र। यहां इन्द्रिय शब्द से इन्द्रियों के निमित्त से मनोज्ञामनोज्ञ रूप रसादि में राग क्रोधादि रूप प्रतीति का ग्रहण है। अर्थात् इन्द्रियों के विषयों में राग द्वेष न करना चाहिए। कषन्ति-हिंसन्ति आत्म क्षेत्रं इति कषायाः अर्थात् जो आत्मा के शुद्ध ज्ञानादि परिणामो का घात करते हैं, उन्हें कषाय कहते हैं। अथवा कषाय (वृक्ष की त्वचा (छाल) से निकलने वाला चिकना रस) के समान जो कर्मरज के चिपकाने में कारण है, उसे कषाय कहते हैं। वे चार हैं—क्रोध मान माया और लोभ।

गुप्ति—द्रव्य,क्षेत्र,काल, भव और भाव परिवर्तन को संसार कहते हैं, संसार के कारण ज्ञानावरणादि कर्म से आत्मा की गोधन-रक्षण करना गुप्ति है। अर्थात् मन वचन और काय की यथेच्छ प्रवृत्ति को रोकने को गुप्ति कहते हैं।

सम्यंग्योगनिग्रहो गुप्तिः' (तत्त्वा०) यहां जो सम्यक् विशेषण दिया है, उससे सूचित होता है, कि सत्कार पूजादि की अपेक्षा रहित मन वचन काय को वशमे करना ही गुप्ति है। यही गुप्ति मोक्ष का साधन होती है। गुप्ति के तीन भेद हैं-मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति। मनमे रागादि की निवृत्ति होना ही—"जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणीहि तं मणोगुत्ती"—मनोगुप्ति है।

असत्य, परुष, कठोर,मिथ्यात्व, असंयमादि के निमित्त भूत वचन न बोलना वचनगुप्ति है। प्रमाद रहित होकर विना देखे और विना प्रमार्जन किये हुए भूमि भाग में नहीं चलना, अथवा पदार्थों के उठाने,रखने,सोने, बैठने आदि क्रियाओं को न करना,अथवा कायोत्सर्ग करना काय गुप्ति है।

समिति—प्राणियों की पीड़ा का परिहार करते हुए देख शोध कर प्रवृत्ति करने को समिति कहते हैं। वह पांच-प्रकार की है-ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और व्युत्सर्ग।

शंका—ईर्या भाषादि समिति और वचन काय गुप्ति में क्या अन्तर है? क्योंकि प्राणियों को पीड़ा देने वाली जो कायादि की क्रिया है उस की निवृत्ति करना, कायादि गुप्ति है और समिति भी प्राणी पीड़ा का परिहार करके कायादि की प्रवृत्ति करना है।

समाधान—निवृत्तिरूप तो गुप्ति है और प्रवृत्तिरूप समिति है। इस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति के भेद से उक्त दोनों भिन्न २ हैं।

शंका—इन्द्रिय और कषाय में अप्रणिधान (चित्त न लगाना) और मनोगुप्ति ये दोनों एक ही हैं। इन को पृथक् २ कहने का क्या कारण है ?

समाधान—राग द्वेष मिथ्यात्वादि अशुभ परिणामों के अभाव को मनोगुप्ति कहते हैं,यह तो सामान्य कथन है। तथा इन्द्रिय व कषाय से मन की निवृत्ति को जो मनोगुप्ति कहा है, वह विशेष कथन है। सामान्य और विशेष का कथंचिद् भेद है, इसलिए पुनरुक्ति दोष नहीं है। मनोगुप्ति में इन्द्रिय व कषाय अप्रणिधान आ जाता है, तथापि इनका भेद रूप से कथन करना चरित्रार्थी के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अथवा इन्द्रिय के विषय और कषाय को त्याज्य बताने के लिए इनका भिन्न २ कथन किया है। चारित्र शब्द से यहां पञ्च महाव्रत ही इष्ट हैं। तथा गुप्तियां व समितियां तो इसके परिकर रूप हैं।

कुछ आचार्यों ने पचीस भावनाओं को भी चारित्र विनय कहा है। "तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च" (तत्वा० अ० ७ सू० ३) अर्थात् अहिंसादि व्रतो की स्थिरता के लिए प्रत्येक व्रत की पांच २ भावनाएँ मानी गई हैं। उन भावनाओ का स्वरूप प्रथम किरण में कह आये हैं।

तपविनय

उत्तरगुणउज्जमणे सम्मं अधिआसणं च सद्धाय।
आवसयाणमुचिदाणमपरिहाणी अणुस्सेओ ॥ १२१ ॥ (भग०)

अर्थ—उत्तरगुणो के आचरण करने में उद्यम करना, सम्यक् प्रकार संक्लेश परिणाम से व दीनता से रहित होकर क्षुधादि परिषहो को सहना, तपश्चरण मे श्रद्धा करना, उचित समय में षट् आवश्यकों का भली भांति पालन करना, उनमे कमी बेशी न करना ही तप का विनय है।

भावार्थ—यहां उत्तर गुण शब्द से सयम का ग्रहण किया है, क्योंकि संयम, सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के उत्तर काल मे होता है। बिना श्रद्धान व ज्ञान के सयम में प्रवृत्ति नहीं होती। कारण कि ज्ञान व श्रद्धाहीन पुरुष असंयम का परिहार नहीं कर सकता।

इसका आशय यह है कि संयम के होने पर संमम का उद्योत करने वाला तपश्चरण निर्जरा का कारण होता है। बिना संयम के तप निर्जरा का कारण नहीं होता; इसलिए संयम तप का परिकर है। कहा भी है :—

'संजमहीणं च तवं जो कुणइ णिरत्थयं कुणइ'

अर्थात्—संयम हीन व्यक्ति का तपश्चरण निरर्थक है।

संक्लेश परिणाम व दैन्य भाव रहित होकर क्षुधादि परिषहो का सहना ही परीषह-सहिष्णुता है। परीषह वाईस हैं। वे इस प्रकार है—क्षुधा, पिपासा (प्यास) शीत-उष्ण, दंशमशक, नग्नत्व, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या (बैठना), शय्या (शयन), आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन। इनका विशेष विवेचन आगे वीर्याचार मे किया जावेगा।

उपचार विनय

भत्ती तवोधिगंमि य अहीलणा य सेसाणं।
एसो तवम्मि विणओ जहुत्तचारिस्स साधुस्स ॥ १२२ ॥ (भग०)

अर्थ—अपने से (तपश्चरण में) अधिक मुनियो का दर्शन होने पर मुख पर प्रफुल्लता, हृदय मे उल्लास आदि उत्पन्न कर हार्दिक अनुराग प्रकट करना भक्ति है। तथा सम्यक् तपस्या मे अनुराग का प्रादुर्भाव होना भक्ति है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र पूर्वक जो तपस्या की जाती है, वही सम्यक् तपस्या है। इसके विपरीत मिथ्या दर्शनादि पूर्वक तपस्या संसार भ्रमण की कारण है; इस-लिए उसे कुतपस्या कहते हैं। जो साधु अपने से तपस्या मे हीन हों, किन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान और संयम से विभूपित हों, उनका तिरस्कार नहीं करना चाहिए; क्योंकि उनका तिरस्कार करना सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र का तिरस्कार करना है। इसलिए उनका बहुमान (आदर सत्कारादि) न करना ज्ञानातिचार है। उनमें वात्सल्य भाव का अभाव दर्शनातिचार है। जिसका ज्ञान और दर्शन सातिचार (सदोष) होता है, उसका चारित्र भी अशुद्ध होता है। आशय यह है कि तपश्चरण या तपस्वी का अविनय महा अनर्थ का कारण है। अतः उत्तरगुण मे उद्यमादि उक्त गुणों का पालन करने वाले साधु के तपोविनय सिद्ध होता है।

उपचार विनय के भेद

काइयवाइयमाणसिओत्ति तिविधो हु पंचमो विणओ।
सो पुण सव्वो दुविहो पच्चक्खो चेव पारोक्खो ॥ १२३ ॥ (भग०)

अर्थ—उपचार विनय के कायिक विनय, वाचनिक विनय, मानसिक विनय इस तरह तीन भेद हैं। काय से जो विनय होता है, उसे कायिक, वचन से जो विनय प्रकट किया जाता है, उसे वाचनिक विनय तथा मन में जो विनीत भाव उत्पन्न होता है, उसे मानसिक विनय कहते हैं। इन तीनों के प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो दो भेद होते हैं। प्रत्यक्ष-कायिक-विनय और परोक्ष-कायिक-विनय। प्रत्यक्ष-वाचनिक-विनय और परोक्ष-वाचनिक-विनय। प्रत्यक्ष-मानसिक-विनय और परोक्ष-मानसिक-विनय।

प्रत्यक्ष कायिक विनय

अब्भुट्ठानं किदियम्मं णवंसणं अंजली य मुंडाणं।
पच्चुग्गच्छणमेते पत्थिदस्स अणुसाधणं चेव ॥ १२४ ॥ (भग०)

अर्थ—गुरु आदि पूज्य महामुनियों के आने पर या प्रयाण करते समय आदर पूर्वक खड़े होना, तथा उनके सम्मुख गमन करना चाहिए। कृतिकर्मभक्ति वंदना का पाठ पढ़कर शरीर झुकाकर उन्हें वन्दना करना चाहिए। मस्तक पर दोनो हाथ जोड़ कर मस्तक झुकाना चाहिए। गुरु आदि बैठ जावें या खड़े होजावें तब उनके समीप जाना चाहिए, उनका स्वागत करना चाहिए। जब गुरु आदि जाने लगें तब उनके पीछे पीछे आदर पूर्वक थोड़े अन्तर से हाथ पाँव का शब्द न करते हुए शान्ति पूर्वक गमन करना चाहिए। यदि साथ गमन करना पड़े तो अपने शरीर प्रमाण भूमि के अन्तर से गमन करना चाहिए।

गुरु आदि के प्रतिष्ठित स्थान पर बैठ जाने या खड़े हो जाने पर शिष्य को उनसे नीचे स्थान पर अथवा पीछे इस प्रकार बैठना चाहिए, जिससे उनको अपने हाथ पाँव श्वास आदि से कष्ट न पहुँचे। अथवा सम्मुख बैठना ही पड़े तो गुरु आदि वाम भाग में (बाएँ हाथ की तरफ) उद्धततारहित अपने मस्तक को थोड़ा सा झुकाकर बैठे। गुरु आदि के तृण या काष्ठादि के आसन पर बैठ जाने के पश्चात् स्वयं भूमि पर बैठे। गुरु आदिके तृण काष्ठ शिलादि के गुरु की नाभि प्रमाण अन्तर वाले प्रदेश में अपना सिर रहे इतने दूर उन्नत आसन पर शयन करने पर आप निम्न स्थान पर शयन करे। जिससे अपने हाथ पाँव मस्तकादि की चोट गुरु के न आ जावे। अब वे बैठना चाहते हैं, ऐसा जानकर काष्ठादि के आसन को अथवा भूमि प्रदेश को नेत्रों से भली भांति देखकर तथा कोमल पिच्छी से शीघ्रता पूर्वक धीरे धीरे प्रमार्जन करके आसन देना चाहिए। जब गुरु को ज्ञान और संयम के उपकारक पुस्तक कमण्डलु आदि के ग्रहण करने की अभिलाषा प्रतीत होजावे तो उन्हें चीजें देना चाहिए। अथवा उद्गम उत्पादन एषणादि दोषो से रहित प्राप्त हुआ प्रति लेखन (पिच्छी) गुरुजी को देना चाहिए। शीत से पीड़ित गुरु आदि को निर्वात उष्ण स्थान और गर्मी से पीड़ित को शीतल हवावाला स्थान देना चाहिए। अथवा ग्राम नगर आदि मे जहां आप निवास करता हो, वह स्थान देना चाहिए।

गुरु आदि मुनिजनो के शरीरानुकूल मर्दन करना चाहिए। इसकी यह पद्धति है कि गुरु आदि के कुछ समीप में खड़ा होकर उन की पिच्छी से उनका शरीर तीन बार पोंछे। आगन्तुक जीवों को इस प्रकार से हटावे कि जिससे उन्हें बाधा न होने पावे। उनके शरीर को सुहाता हुआ उनका मर्दन करे। गर्मी से सतप्त गुर्वादि का इस प्रकार कोमल स्पर्श करे, जिससे उनको शैत्य (शीतलता) का अनुभव होने लगे। शीत से पीड़ित के अवयवों मे गर्मी उत्पन्न करने वाला मर्दन करे।

बालापन, वृद्धपन आदि अवस्था काल द्वारा होती है; इसलिए उनकी अवस्था के अनुकूल वैयावृत्त्य कर उन्हें सुख देना चाहिए। गुरु जो आज्ञा दे उसका तुरन्त पालन करना चाहिए। उनके सोने के लिए तृण का बिछौना (संस्तरण) कर देना चाहिए, चटाई बिछा देनी चाहिए। अथवा काठ आदि के पट्ट रख देना चाहिए। गुरु आदि के ज्ञान के उपकरण पुस्तकादि तथा सयम के उपकरण पिच्छी कमण्डलु आदि का सूर्योदय के समय तथा सूर्यास्त होने के समय पिच्छी से देखशोधकर प्रमार्जन करना चाहिए। इत्यादि यथावसर गुरुजनो की योग्यता के अनुसार शरीर से विनय करना उचित है। इसको कायिक विनय कहते हैं।

वाचनिक विनय

पूयावयणं हिदभासणं च मिदभासणं च महुरं च।
सुत्ताणुवीचिवयणं अणिट्ठुरमकक्कसं वयणं ॥ १२८ ॥ (भग०)

अर्थ—गुरु आदि पूज्य पुरुषों से वार्त्तालाप करते समय पूजा-सत्कार सूचक वचन का उच्चारण करना चाहिए। जैसे-हे पूज्य भट्टारक! मैं यह सब सुन रहा हूं। हे भगवन्! आपकी आज्ञा लेकर मैं यह करना चाहता हूं। हे स्वामिन्! आपके पादपद्म के प्रताप से यहां ज्ञान संयम की आराधना निर्विघ्न हो रही है,इत्यादि हित मित और मधुर वचन बोलना चाहिए। गुरु आदि के लिए दोनों लोक में हितावह वचनों का उच्चारण करना हित भाषण है। उतना ही बोलना चाहिए जिससे अपने अभिप्राय को गुरु आदि समझ जायें,उसे मित भाषण कहते हैं। सुनने में प्रिय मालूम दे, उसे मधुर कहते हैं। शास्त्रानुकूल वचनोच्चारण को अनुवीचि भाषण कहते हैं। दूसरे के अन्तःकरण को पीड़ा न करने वाले वचन को अनिष्ठुर कहते हैं तथा दूसरों के चित्त में सुख उत्पन्न करने वाले वचन को अपरुष कहते हैं।

अर्थात्—पुज्यता व आदर के सूचक, लोकद्वयहितकर, परिमित, कर्णप्रिय, शास्त्रानुकूल तथा पर चित्त में पीड़ा के अनुत्पादक और चित्त मे आह्लाद का आविर्भाव करने वाले वचनों का उच्चारण करना चाहिए। इसे वाचनिक विनय कहते हैं।

राग और द्वेष रहित पुरुषों के वचन को उपशान्त वचन कहते हैं; ऐसे उपशान्त महापुरुषों के समान वचन बोलना चाहिए।

अयोग्य वचन बोलने वाले, मिथ्या दृष्टि व असंयमी गृहस्थों के समान वचनालाप नहीं करना चाहिए। असि, मषि, कृषि आदि षट् कर्मों में प्रवृत्ति कराने वाला वचन मुख से नहीं निकालना चाहिये, क्योंकि इससे जीवों को बाधा होती है, इसलिए ऐसा वचन न बोलकर जीवों की रक्षा करने वाला भाषण करना उचित है। दूसरों की अवहेलना करने वाला वचन कदापि उच्चारण उचित नहीं है। इसे वाचनिक विनय कहते हैं।

मानसिक विनय

पापविसोत्तियपरिणामवज्जणं पियहिदे य परिणामो।
णायव्वो संखेवेण एसो माणसिओ विणओ ॥ १३० ॥ भग०

अर्थ—जिनसे जल प्रवाह के समान पाप कर्म समूह का अविच्छिन्न रूप से आगमन होता है, ऐसे अशुभ परिणामो को अपने हृदय मे स्थान देना ठीक नहीं है। यहां गुरु विनय का प्रकरण है, इसलिए गुरु के विषय मे अशुभ परिणाम अपने हृदय मे उत्पन्न न होने देना चाहिए।

जब गुरु शिष्य की स्वच्छन्द प्रवृत्ति का निवारण करते हैं, तब शिष्य यदि क्रोध उत्पन्न करता है, तो उसके अशुभ कर्म का आस्रव होने लगता है। शिष्य की उद्दण्ड प्रवृत्ति देख कर गुरु का शिष्य पर पूर्ववत् अनुराग नहीं रहता, तब शिष्य के मन में अनेक विकल्प पैदा होते हैं-गुरुजी पूर्व की भांति मुझे नहीं पढ़ाते; मेरे साथ सम्भाषण भी नहीं करते हैं। इससे शिष्य के अन्तःकरण मे रोष उत्पन्न होता है, और वह द्वेष के वशीभूत हुआ गुरु का विनय करने मे आलस्य करने लगता है और गुरु की अवज्ञा करता है। निन्दा और अनादर के भाव उसके मनमें उत्पन्न होने लगते हैं और उनके विपरीत चलने लगता है। इत्यादि सब पाप मय विचार हैं इनका त्याग करना चाहिए। जो प्रवृत्ति गुरु को प्रिय लगे और जिससे अपना भी हित हो वह प्रवृत्ति करना शिष्य का कर्तव्य है। यह सब मानसिक विनय है।

परोक्ष विनय

इय एसो पच्चक्खो विणओ पारोक्खिओ वि जं गुरुणो।
विरहम्मि विवट्टिज्जइ आणाणिद्देसचरियाए ॥ १३१ ॥ (भग०)

अर्थ—इस प्रकार कायिकादि तीन प्रकार के प्रत्यक्ष विनय का स्वरूप कहने के पश्चात् अब परोक्ष विनय का स्वरूप कहते हैं।

गुरु के निकट वर्त्ती होने पर गुरु का विनय करना प्रत्यक्ष-विनय है। गुरु के विद्यमान न होने पर गुरु की आज्ञा के अनुकूल सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय मे उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रवृत्ति करना ही उनका परोक्ष विनय है।

केवल गुरु का ही विनय नहीं; किन्तु अन्य का भी विनय शिष्य को यथायोग्य करना चाहिए, यही दिखाते हैं:

राइणिय अराइणीएसु अज्जासु चेव गिहिवग्गे।
विणओ जहारिहो सो कायव्वो अप्पमत्तेण ॥ १३२ ॥ (भग०)

जैसे-रत्न दुर्लभ होते हैं; किन्तु मिलजाने पर उनसे ही अभिलषित वस्तु की प्राप्ति होती है, वैसे ही सम्यग्दर्शन,सम्यग्ज्ञान,और सम्यक् चारित्र भी अत्यन्त दुर्लभ हैं किन्तु अभिलषित वस्तु जो मोक्ष है, उसकी इनसे ही उपलब्धि होती है,इसलिए ये रत्नत्रय कहे जाते है। यह रत्नत्रयरूप परिणाम जिनके अधिक उत्कृष्ट अथवा समान हों ऐसे मुनि को 'राइणिय' कहते हैं। जो रत्नत्रय में अपने से हीन हैं ऐसी आर्यिकाएँ तथा गृहस्थ इनका भी प्रमाद रहित होकर यथायोग्य विनय सत्कार करना चाहिए।

विनय के अभाव में दोषों की उत्पत्ति

विणएण विप्पहूणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा।
विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्लाणं ॥ १३३ ॥ (भग०)

अर्थ—विनय हीन यति की सब शिक्षा निरर्थक होती हैं, क्योंकि शिक्षा का फल पांच प्रकार का विनय बताया है। और विनय का फल पञ्च कल्याणको की प्राप्ति है। एवं आनुषंगिक रूप से संसार के सुखों का पाना भी है।

इसका आशय यह है कि जिस शिक्षा से आत्मा में विनीतता—नम्रभाव उत्पन्न होता है, वही शिक्षा सफल है। जिसने वर्षों तक घोर परिश्रम करके विविध शास्त्रों का अध्ययन किया, उनका स्मरण मनन चिन्तनादि किया और यदि आत्मा में विनय धर्म की उत्पत्ति नहीं हुई तो उसका विद्याभ्यास का सब श्रम निष्फल है। कारण कि विद्याभ्यास का मुख्य फल विनय है। विनय के अभाव मे विविध शास्त्रों का अध्ययन गधे पर लदे हुए मिष्टान्नादि के समान केवल भार मात्र है। विनीत शिष्य पर ही गुरु आदि का अनुग्रह रहता है। और उसके हृदय मे विद्या का प्रवेश शीघ्र होता है, और वह अनायास ही सब गुणों का निवास स्थान बन जाता है।

विनय समस्त कर्मों के निर्मूलन करने मे कारण होने से मोक्ष का द्वार माना गया है। पांचों प्रकार के विनय मे तत्पर रहने वाले के सम्पूर्ण असंयम का परिहार होता है; इसलिए विनय संयम का जनक है। ज्ञानादि के विनय मे प्रवृत्ति नहीं करने वाले अविनीत व्यक्ति की अनशनादि तपश्चरण में प्रवृत्ति नहीं होती, अतः विनय तपस्या का भी कारण सिद्ध होता है। ज्ञान तो विनय मे ही प्राप्त होता है; इसलिए ज्ञान का हेतु विनय है। विनय से आचार्य प्रसन्न होते हैं और सम्पूर्ण सङ्घ विनयवान् मुनि का पक्षपाती व अनुरागी बन जाता है।

मानसिक, वाचिक और कायिक विनय का आराधक साधु आचारांग मे निरूपित सब आचरण का पालक होता है। दंड विधान करने वाले कल्पशास्त्र में अविनय करने वाले के लिए दण्ड-प्रयोग की व्यवस्था बताई गई है। विनीत सारे दण्डो से मुक्त रहता है। विनीत यति ही आचार-क्रम का व कल्पनीय-योग्य गुणो का प्रकाशन करता है। क्योंकि उसके श्रुतज्ञान की आराधना होती है। विनीत आत्म-शुद्धि होती है; इसलिए विनय ज्ञान, दर्शन और वीतरागता रूप आत्म शुद्धि का जनक है। विनय से वैमनस्य नष्ट होता है। विनय गुण से पर गुरु आदि का अनुग्रह नहीं होता; इसलिए उसके चित में व्यग्रता (आकुलता) बनी रहती है। विनय से सरलता आती है। अथवा जो विनय करता है वह आगम निर्दिष्ट आचरण का आराधन करने वाला होता है। विनय हीन प्रकट होता है। विनयवान् की सब भक्ति करते हैं। विनय से दूसरे मनुष्यो के हृदय प्रफुल्लित होते हैं। अविनयी मनुष्य का मन सदा कुण्ठित रहता है और वह निन्दा व भर्त्सना का पात्र होता है, अतः वह सदा दुःखी रहता है। विनयवान् इन सब दुर्गुणों से दूर रहता है, इसलिए वह सर्वदा सुख का अनुभव करता है। सुख के अभिलाषियों को सबसे प्रथम विनय का पालन करना चाहिए। उसससे लाघव गुण

वैयावृत्य तप

सत्तीए भत्तीए विज्जावच्चुज्जदा सदा होह।
आणाए णिज्जरेत्ति य सबालउड्ढाउले गच्छे ॥ ३०६ ॥ (भग०)

अर्थ—हे मुने ! तुम बालमुनि और वृद्धमुनि से व्याप्त मुनि-सङ्घ की अपनी शक्ति के अनुसार भक्ति पूर्वक वैयावृत्य करने में उद्यत रहो। वैयावृत्य करना मुनियों का कर्त्तव्य है, ऐसी सर्वज्ञ देव की आज्ञा है। यह वैयावृत्य तप है और निर्जरा का कारण है। ऐसा समझ कर इसके करने में सदा उद्यत रहो। साधु किस २ की व्यावृत्ति करे—उसके लिए सूत्रकार उमास्वामी कहते हैं।

आचार्योपाध्यायतपस्वीशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम् ॥ तत्वा० अ० ६ सू २४ ॥

अर्थ—आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ साधु और मनोज्ञ इन दश प्रकार के साधुओं की वैयावृत्य (कष्टों को दूर करना) सेवा टहल करना वैयावृत्य तप है।

आचार्य—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र गुण से सम्पन्न जिस महात्मा से भव्य जीव आत्म-हित के लिए व्रत धारण करते हैं, जो स्वयं पंचाचार का आचरण करता है और दूसरो से करवाता है उसे आचार्य कहते हैं।

उपाध्याय—जिस व्रत-शील-गुण के आधार भूत श्रुत के ज्ञाता मुनि से शिष्य विनय पूर्वक आगम का अध्ययन करते हैं, उसे उपाध्याय कहते हैं।

तपस्वी—अतिकठिन महान् तप का आचरण करने वाले साधु को तपस्वी कहते हैं।

शैक्ष्य—जो साधु व्रतादि गुण का पालन करता हुआ श्रुत का अध्ययन करने मे तत्पर रहता है, उसे शैक्ष्य कहते है।

ग्लान—जो साधु रोगादि से पीड़ित है, उसे ग्लान कहते हैं।

गण—स्थविर साधुओं की सन्तति को गण कहते हैं। अर्थात्-वृद्ध साधुओ की जो शिष्य परम्परा चली आरही हो, उसे गण नाम से कहते हैं।

कुल—दीक्षा देने वाले आचार्य की जो शिष्य परम्परा है, उसे कुल कहते हैं।

संघ—ऋषि, यति, मुनि, अनगार इन चारों प्रकार के मुनिसमूह को संघ कहते हैं।

साधु—चिरकाल के दीक्षित मुनि को साधु नाम से कहते हैं।

मनोज्ञ—जो विद्वान्, वाग्मी, (श्रेष्ठ वक्ता) महाकुलोत्पन्न तथा लोक मे मान्य हो उसे मनोज्ञ कहते हैं।

इन दश प्रकार के साधुओं के लिए निरवद्य (निर्दोष) औषध भोजनपानादि का संभव न होने पर अपने हस्तादि द्वारा उनके मुखादि से कफ नाक इत्यादि का मल निकाल कर उनके अनुकूल वैयावृत्य-सेवा टहल करना, उनके चित्त में सावधानता की प्राप्ति कराना, धैर्य बंधाना इत्यादि अनेक प्रकार से वैयावृत्य करना चाहिए।

वैयावृत्य की विधि

सेज्जागासणिसेज्जा उवधी पडिलेहणाउवग्गहिदे ।
आहारोसहवायणविकिंचणुव्वत्तणादीसु ॥ ३०५ ॥ (भग०)

अर्थ—शयन का स्थान, बैठने का स्थान, पिच्छी कमण्डलु पुस्तकादि संयम और ज्ञान के उपकरण, इन सबका कोमल पिच्छी से प्रमार्जन करना, उनके योग्य निर्दोष आहार, औषध देकर उपकार करना, उपदेश-पद व्याख्यान देना, शक्ति-हीन मुनि के मल मूत्रादि को दूर करना-धोना, उठाकर एक करवट से दूसरी करवट में लेटाना इत्यादि क्रियाओं द्वारा वैयावृत्य-सेवा टहल करना चाहिए।

मार्ग के श्रम से थके हुए साधु की हस्तपादादिक के मर्दनादि द्वारा सेवा करना चाहिए। जो साधु चोर आदि से सताये गये हों, दुष्ट पशुओं से पीड़ित हों, अन्याय परायण राजा से उपद्रव को प्राप्त हुए हों तो उनके उपद्रवादि को दूर करना चाहिए। नदी से रुके हुए साधु को नदी पार करना, किसी ने साधु को रोक लिया तो उन्हें छुड़ाना, मारी रोग से पीड़ित साधु के रोग को विद्यादि से दूर करना तथा कोई मुनि दुर्भिक्ष से पीड़ित हो रहे हों तो सुभिक्ष देश में जाकर उन की पीड़ा को दूर करना चाहिए। किसी भय से व्याकुल हुए साधु को 'आप मत डरो, इत्यादि कह कर धैर्य बँधाना उनका सब प्रकार से रक्षण करना चाहिए। ये सब वैयावृत्य के प्रकार हैं।

वैयावृत्य नहीं करने वालों के प्रति

अणिगूहिदबलविरिओ वेज्जावच्चं जिणोवदेसेण ।
जदि ण करेदि समत्थो संतो सो होदि णिद्धम्मो ॥ ३११ ॥ (भग०)

अर्थ—जो अपनी शक्ति के अनुसार जिनेन्द्र के द्वारा उपदिष्ट वैयावृत्य को नहीं करता है, वह धर्म हीन होता है। उसके हृदय में धर्म की वासना नहीं रहती है, जो वैयावृत्य करने से जी चुराता है। वैयावृत्य के बिना साधु का मार्ग भ्रष्ट हो जाता है, धर्म की प्रवृत्ति रुक जाती है। अनुपम आचारवाले ज्ञानी मुनि भी रोगादि उपद्रव के आने पर वैयावृत्य के अभाव में रत्नत्रय के पवित्र मार्ग से पतित होते देखे गये हैं। वह धर्मात्मा नहीं हो सकता, उसके हृदय में रत्नत्रय की संस्थिति भी नहीं होती—जो वैयावृत्य करने के भय से मुनि संघ का सहयोग छोड़ देता है। वैयावृत्य महान आत्मा ही करता है। स्वार्थी-कृपण-नीच व्यक्ति इससे दूर भागता है। पुण्यात्मा ही इसके महत्व को समझता है। पापी इसके गुण को नहीं समझ सकता। वैयावृत्य के प्रभाव से सर्वोत्कृष्ट तीर्थंकर पद मिलता है। इसलिए अपने कल्याण की

अर्थ—आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ साधु और मनोज्ञ इन दश प्रकार के साधुओं की वैयावृत्य (कष्टों को दूर करना) सेवा टहल करना वैयावृत्य तप है।

आचार्य—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र गुण से सम्पन्न जिस महात्मा से भव्य जीव आत्म-हित के लिए व्रत धारण करते हैं, जो स्वयं पंचाचार का आचरण करता है और दूसरों से करवाता है उसे आचार्य कहते हैं।

उपाध्याय—जिस व्रत-शील-गुण के आधार भूत श्रुत के ज्ञाता मुनि से शिष्य विनय पूर्वक आगम का अध्ययन करते हैं, उसे उपाध्याय कहते हैं।

तपस्वी—अतिकठिन महान् तप का आचरण करने वाले साधु को तपस्वी कहते हैं।

शैक्ष्य—जो साधु व्रतादि गुण का पालन करता हुआ श्रुत का अध्ययन करने में तत्पर रहता है, उसे शैक्ष्य कहते हैं।

ग्लान—जो साधु रोगादि से पीड़ित है, उसे ग्लान कहते हैं।

गण—स्थविर साधुओं की सन्तति को गण कहते हैं। अर्थात्-वृद्ध साधुओं की जो शिष्य परम्परा चली आरही हो, उसे गण नाम से कहते हैं।

कुल—दीक्षा देने वाले आचार्य की जो शिष्य परम्परा है, उसे कुल कहते हैं।

संघ—ऋषि, यति, मुनि, अनगार इन चारों प्रकार के मुनिसमूह को सघ कहते हैं।

साधु—चिरकाल के दीक्षित मुनि को साधु नाम से कहते हैं।

मनोज्ञ—जो विद्वान्, वाग्मी, (श्रेष्ठ वक्ता) महाकुलोत्पन्न तथा लोक मे मान्य हो उसे मनोज्ञ कहते हैं।

इन दश प्रकार के साधुओं के लिए निरवद्य (निर्दोष) औषध भोजनपानादि का संभव न होने पर अपने हस्तादि द्वारा उनके मुखादि से कफ नाक इत्यादि का मल निकाल कर उनके अनुकूल वैयावृत्य-सेवा टहल करना, उनके चित्त में सावधानता की प्राप्ति कराना, धैर्य बंधाना इत्यादि अनेक प्रकार से वैयावृत्य करना चाहिए।

वैयावृत्य की विधि

सेज्जागासणिसेज्जा उवधी पडिलेहणाउवग्गहिदे ।
आहारोसहवायणविकिंचणुव्वत्तणादीसु ॥ ३०५ ॥ (भग०)

अर्थ—शयन का स्थान, बैठने का स्थान, पिच्छी कमण्डलु पुस्तकादि संयम और ज्ञान के उपकरण, इन सबका कोमल पिच्छी से प्रमार्जन करना, उनके योग्य निर्दोष आहार, औषध देकर उपकार करना, उपदेश-प्रद व्याख्यान देना, शक्ति-हीन मुनि के मल मूत्रादि को दूर करना-धोना, उठाकर एक करवट से दूसरी करवट में लेटाना इत्यादि क्रियाओं द्वारा वैयावृत्य-सेवा टहल करना चाहिए।

मार्ग के श्रम से थके हुए साधु की हस्तपादादिक के मर्दनादि द्वारा सेवा करना चाहिए। जो साधु चोर आदि से सताये गये हों, दुष्ट पशुओं से पीड़ित हों, अन्याय परायण राजा से उपद्रव को प्राप्त हुए हों तो उनके उपद्रवादि को दूर करना चाहिए। नदी से रुके हुए साधु को नदी पार करना, किसी ने साधु को रोक लिया तो उन्हें छुड़ाना, मारी रोग से पीडित साधु के रोग को विद्यादि से दूर करना तथा कोई मुनि दुर्भिक्ष से पीड़ित हो रहें तो सुभिक्ष देश में जाकर उन की पीड़ा को दूर करना चाहिए। किसी भय से व्याकुल हुए साधु को 'आप मत डरो, इत्यादि कह कर धैर्य बँधाना उनका सब प्रकार से रक्षण करना चाहिए। ये सब वैयावृत्य के प्रकार हैं।

वैयावृत्य नहीं करने वालों के प्रति

अणिगूहिदबलविरिओ वेज्जावच्चं जिणोवदेसेण ।
जदि ण करेदि समत्थो संतो सो होदि णिद्धम्मो ॥ ३११ ॥ (भग०)

अर्थ—जो अपनी शक्ति के अनुसार जिनेन्द्र के द्वारा उपदिष्ट वैयावृत्य को नहीं करता है, वह धर्म हीन होता है। उसके हृदय में धर्म की वासना नहीं रहती है, जो वैयावृत्य करने से जी चुराता है। वैयावृत्य के बिना साधु का मार्ग भ्रष्ट हो जाता है, धर्म की प्रवृत्ति रुक जाती है। अत्युत्तम आचारवाले ज्ञानी मुनि भी रोगादि उपद्रव के आने पर वैयावृत्य के अभाव में रत्नत्रय के पवित्र मार्ग से पतित होते देखे गये हैं। वह धर्मात्मा नहीं हो सकता, उसके हृदय में रत्नत्रय की संस्थिति भी नहीं होती—जो वैयावृत्य करने के भय से मुनि संघ का सहयोग छोड़ देता है। वैयावृत्य महान आत्मा ही करता है। स्वार्थी-हृदय-हीन व्यक्ति इससे दूर भागता है। पुण्यात्मा ही इसके महत्त्व को समझता है। पापी इसके गुण को नहीं समझ सकता। वैयावृत्य के प्रभाव से सर्वोत्कृष्ट तीर्थंकर पद मिलता है। इसलिए अपने कल्याण की

इच्छा रखने वालों को ही क्या सम्पूर्ण संसार के जीवों को वैयावृत्य अपने पद के अनुकूल करना चाहिए। इस लोक में सच्चे वैयावृत्य के माहात्म्य से मनुष्य को दिव्य आनन्द का अनुभव होने लगता है। समस्त संसार मुक्त-कण्ठ से उसका यशोगान करने लगता है। इससे आत्मा में सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र की निर्मलता होती और सनातन सुख का अनुभव होने लगता है। अतः वैयावृत्य के अनुपम अवसर को कभी नहीं चूकना चाहिए और वैयावृत्य करने में अपना सर्वोत्तम सौभाग्य समझना चाहिए। यह मनोवांछित वस्तु देने वाला कल्पवृक्ष और चिन्तामणि, कामधेनु और कामघट से भी बढ कर है। ऐसा समझ कर इस वैयावृत्य तप का सतत आचरण करना उचित है।

वैयावृत्य करने से क्या २ गुण उत्पन्न होते हैं, उसे दिखाते हैं।

गुणपरिणामो सड्ढा वच्छल्लं भत्तिपत्तलंभो य।
संधाणं तवपूया अव्वोच्छित्ती समाधी य ॥ ३०९ ॥

आणा संजमसाखिल्लदा य दाणं च अविदिगिंछा य।
वेज्जावच्चस्स गुणा पभावणा कज्जपुण्णाणि ॥ ३१० ॥ (भग०)

अर्थ—वैयावृत्य करने वाले में निम्नोक्त १७ गुण प्रकट होते हैं। १ गुणपरिणति, २ श्रद्धा, ३ भक्ति ४ वात्सल्य; ५ पात्रलाभ, ६ संधान, ७ तप, ८ पूजा, ९ तीर्थ की अव्युच्छित्ति, १० समाधि, ११ आज्ञापालन, १२ संयम, १३ सहायता, १४ दान, १५ निर्विचिकित्सा, १६ प्रभावना, १७ कार्यनिर्वाह।

(१) गुणपरिणति—संसार के सारे प्राणी धधगती हुई मोहरूपी अग्नि से जल रहा एवं घोर दुःख पारहा है; किन्तु इन मुनीश्वर ने विवेक रूपी शीतल जल में अवगाहन कर उस मोह रूपी अग्नि के प्रभाव को नष्ट कर दिया है। इन्होंने मनोज्ञ और अमनोज्ञ इन्द्रियों के विषयों में राग द्वेष रूप परिणति का संहार कर दिया है। रत्नत्रय ही इनका धन है। शारीरिक, वाचनिक और कायिक चेष्टाओं पर इनका पूर्ण नियंत्रण है। ये लौकिक आदर-सत्कार की अपेक्षा नहीं करते। तेजोमय तपस्या के प्रभाव से ये कर्मरज का नाश कर रहे हैं, इस प्रकार यति के गुणो में वास्तविक अनुराग रखते हुए वैयावृत्य करने वाले के गुणपरिणति नामा गुण होता है।

(२) श्रद्धा—रत्नत्रय में श्रद्धा होने पर ही रत्नत्रय के आराधक साधु की वैयावृत्य संभव है। अथवा रत्नत्रय की मूर्ति स्वरूप साधु की वैयावृत्य करने से मोक्ष मार्ग (रत्नत्रय) में श्रद्धा विशेष उत्पन्न होती है।

(३) वात्सल्य—जिसके हृदय में धर्मात्मा और धर्म पर सच्चा अनुराग होता है,वही मुनि की सेवा टहल करता है। वैयावृत्य करने वाले का चित्त सहानुभूति से ओत-प्रोत होता है इसीलिए वह नव कोटि पूर्वक (मन,वचन,काय,कृत,कारित,अनुमोदना)मुनि का वैयावृत्य करता है; अतः वैयावृत्य वात्सल्य का सूचक है अर्थात् वात्सल्य गुण का प्रकाश वैयावृत्य के आचरण से होता है।

(४) भक्ति—गुणानुराग को भक्ति कहते हैं। यह भक्ति अर्हन्त,सिद्ध,आचार्य,उपाध्याय और साधु आदि पूजनीयों के गुणों में प्रीति उत्पन्न होने से होती है। साधु आदि का वैयावृत्य करने वाले के हृदय में उनके गुणों में प्रीति स्वतः उत्पन्न होती है; अतः वैयावृत्य भक्ति को प्रकट करता है।

(५) पात्रलाभ—उत्तम मध्यम और जघन्य तीन प्रकार के पात्र माने गये हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र, पंचमगुण-स्थानवर्ती श्रावक मध्यम पात्र तथा अठाईस मूलगुण के धारक निर्ग्रन्थ मुनि उत्तम पात्र हैं। जो मुनि का वैयावृत्य करता है, उसको उत्तम पात्रलाभ होता है जो कि आत्मा की सद्गति का कारण है; क्योंकि उत्तम पात्रों की सेवा ही स्वर्गादि की प्राप्ति और निःश्रेयस (मोक्ष) की साधक होती है।

(६) संधान—मूर्तिमान् रत्नत्रय साधु ही होते हैं; क्योंकि उनके शरीर से रत्नत्रय साक्षात् प्रकट होता है। उसकी सेवा शुश्रूषा करने से छूटे हुए रत्नत्रय का आत्मा में पुनः संधान (सम्बन्ध) होता है; अतः वैयावृत्य रत्नत्रय के संधान (फिर मिलाना) को करने वाला है।

(७) तप—वैयावृत्य करने वाला साधु सतत मुनि की परिचर्या में लगा रहता है, वह अपनी सब इच्छाओं का निरोध कर अपने मन और इन्द्रियों को मुनि की सेवा में लगाता है, अतः उसके इच्छा का निरोध होने से आभ्यन्तर तपश्चरण का साधन होता है।

(८) पूजा—आगम में पंचपरमेष्ठी की पूजा करना बताया है और वह (पूजा) अभ्युदय-स्वर्गादि की सम्पत्ति-तथा परम्परा मुक्ति का कारण बताई है। पंचपरमेष्ठी में अर्हन्त और सिद्ध को छोड़कर शेष आचार्य,उपाध्याय और साधु ये तीनों मुनि हैं। यद्यपि अर्हन्त भी मुनि ही हैं, तथापि वैयावृत्य में उनका ग्रहण नहीं है; क्योंकि उनके वेदनीय कर्म का उदय होते हुए भी मोहनीय कर्म के नाश हो जाने से वह वेदनीय कर्म कुछ भी कार्य करने में समर्थ नहीं रहा है, अतः उनके रोगादि जन्य शरीर में पीड़ा नहीं होती है, इसलिए वे सब प्रकार के उपद्रवों से परे हैं। अतः आचार्य, उपाध्याय और साधुओं का जो मन वचन और काय से वैयावृत्य करता है, उनके शरीर की बाधा और मानसिक पीड़ा को दूर करना अपना कर्तव्य समझता है,उसके उत्कृष्ट पूजा की प्राप्ति होती है। अतः वैयावृत्य करने से पूजा का फल उपलब्ध होता है।

(९) तीर्थ की अव्युच्छित्ति—धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति धार्मिक पुरुषो के अधीन है; क्योंकि 'न धर्मो धार्मिकैर्विना' धर्म का अस्तित्व धार्मिक व्यक्ति के विना नहीं रह सकता; इसलिए यह सिद्ध हुआ कि जो पुण्यात्मा रत्नत्रय के आराधक मुनिगण की रक्षा करता है, उसकी सेवा शुश्रूषा करता है, वह धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति को अविच्छिन्न बनाता है।

(१०) समाधि—शरीर सम्बन्धी रोगादि बाधा को दूर करके जो पीडित साधु को शान्ति पहुँचाता है वह साधु के चित्त मे शान्ति स्थापित करने का कारण बनता है। पीड़ादि से जो अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प भाव राग-द्वेष रूप परिणाम होते हैं, उनका नाश हो जाने से साधु के समाधि उत्पन्न होती है। तथा वैयावृत्य करने वाले के भी चित्त में शान्ति उत्पन्न होती है। वैयावृत्य करते समय उसका अन्तः करण राग द्वेषादि परिणति से रहित होता है। वह केवल पीड़ित साधु की सेवा में लगा रहता है; इसलिए उसको भी समाधि प्राप्त होती है।

(११) आज्ञा पालन—दश प्रकार के साधुओं का वैयावृत्य करने की भगवदाज्ञा है। वैयावृत्य करने वाला उक्त आज्ञा के अनुसार आचरण करता है। इसलिए उसके भगवदाज्ञा का पालन होता है।

(१२) संयम सहायता—संयमी का वैयावृत्य करने वाला साधु उसके संयम मे आये हुए विघ्नों का परिहार करके संयम को निर्विघ्न बनाता है। यही उसकी संयम मे सहायता पहुंचाना है।

(१३) दान—रोग-पीड़ित साधु के रत्नत्रय कें साधन मे बाधा आती है; क्योकि वह रोगादि उपद्रव से बाध्य हुआ साधु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का अनतिचार आराधन नहीं कर सकता; इसलिए रोगादि उपद्रवों का निराकरण करने वाला व्यक्ति रत्नत्रय के निर्दोष आचरण का साधक होने से रत्नत्रय का दान करने वाला सिद्ध होता है।

(१४) निर्विचिकित्सा—अनेक प्रकार की व्याधियों से पीड़ित साधुओ के शरीर में ग्लानि पैदा करने वाले व्रण, घाव से पीप व खून बहता हो, मलमूत्र कफादि से शरीर में दुर्गन्ध आ रही हो तो उससे ग्लानि न करके उनके व्रण, घाव, मलमूत्रादि को शुद्ध प्रासुक जल से धोना, औषधि का योग मिलाना आदि सब सेवा में ग्लानि न करने से बन सकती है। ग्लानि करना पाप है। ग्लानि करने वाला रोगी की सेवा-शुश्रूषा कदापि नहीं कर सकता। सेवा शुश्रूषा तो दूर रही उनके समीप भी नहीं जा सकता। उन व्याधि-पीड़ित साधुओं की औषध तथा मलादि का शोधन कैसे कर सकता है? इसलिए ग्लानि को पाप समझकर पीड़ित साधुओं का सब प्रकार से वैयावृत्य करना चाहिए। इस वैयावृत्य के करने से निर्विचिकित्सा गुण प्रकट होता है।

(१५) प्रभावना—धर्म प्रभावना अनेक उपायों से होती है। धन व्यय कर, जिनेन्द्र की पूजा प्रतिष्ठा आदि करवाकर, दुःखित, बुभुक्षित जीवों को भोजनादि देकर, चैत्यालयादि बनवाकर, तथा विद्वत्तापूर्ण धर्म का उद्योत करने वाले ललित तात्त्विक-व्याख्यान देकर और अनेक उपायों से धर्म प्रभावना की जाती है; वे सब प्रभावना के उपाय धनवान व विद्वान कोई भी कर सकते हैं। परन्तु धर्ममूर्ति रत्नत्रय-शरीर के धारक साधुओं की रोगादि पीड़ित अवस्था में अपने शरीर द्वारा सेवा टहल सब नहीं कर सकते। इसको तो अनन्य धर्मानुरागी व्यक्ति ही कर सकता है। इसलिए साधुजन की रोगादि अवस्था में वैयावृत्य करना उत्कृष्ट प्रभावना है।

(१६) कार्यनिर्वाह—साधु कर्मक्षय करने के लिए अनेक तप करते हैं। एक दो, चार, पांच, आठ दिन एक मास आदि के उपवास धारण करते हैं तथा अनेक प्रकार के कायक्लेश आदि तप करने को अपना मुख्य कर्तव्य समझते हैं। उनमें साधुओं का मुख्य कर्तव्य वैयावृत्य भी है। जिस मुनि ने वैयावृत्य तप का भली भांति पालन किया उसने अपने कार्य का पूर्ण प्रकार से निर्वाह किया समझना चाहिए। क्योंकि इसका आचरण करने वाला स्व और पर का उपकार करता है। वैयावृत्य तप का पालन करके वह अपने कर्म की निर्जरा करता है तथा पीड़ित साधु के रत्नत्रय की शुद्धि करता है, अतः वह अपने उद्देश्य की सिद्धि करने के कारण स्वकार्य का निर्वाह करने वाला माना जाता है। क्योंकि इस वैयावृत्य के प्रभाव से वह त्रिलोक में उत्कृष्ट तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति का बन्ध करता है; जिसके कारण वह त्रिलोकाधिपति 'तीर्थंकर' पद प्राप्त करता है।

कहां तक कहा जाय वैयावृत्य करने वाले के ऐसे अनेक गुण प्रकट होते हैं। वे इस लोक में भी इसकी यशस्विता, महत्ता प्रकट करते हैं। वह सम्पूर्ण सङ्घ के नेत्रों में ही नहीं हृदय में बस जाता है। उसकी आत्मा उन्नति पथ पर अग्रसर होती जाती है और वह इस लोक में भी सुख का अनुभव करता है तथा परलोक में अनेक विभूतियों को पाकर परम पद को प्राप्त होता है।

स्वाध्यायतप

परियट्टणा य वायण पडिच्छणाणुपेहा य धम्मकहा।
थुदिमंगलसंजुत्तोपंचविहो होइ सज्झाओ ॥ १९६ ॥ (मूला० पञ्चा०)

अर्थ—वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, परिवर्तन (आम्नाय) और धर्मकथा स्तुतिमङ्गल ये पांच स्वाध्याय तप के भेद हैं।

(१) वाचना—बाह्य धनादि की अपेक्षा रहित तत्व का ज्ञाता मुमुक्षु पर के प्रति जो ग्रन्थ, अर्थ और उभय (ग्रन्थ और उसका

अर्थ) का प्रतिपादन करता है, उसे वाचना कहते हैं।

(२) पृच्छना—दूसरो को ज्ञान कराने के लिए या संशय दूर करने के लिए अथवा निश्चित-तत्व को स्थिर करने के लिए उपहास, संघर्ष, हास्य आदि नहीं करते हुए ग्रन्थ (शब्द), अर्थ अथवा उभय के विषय मे दूसरे से पूछना पृच्छना है।

मूलाचार की टीका में पृच्छना का अर्थ शास्त्र-श्रवण किया है। क्योंकि प्रश्न कर्ता के पूछने पर वक्ता द्वारा तत्व का विवेचन करने पर सब श्रोता उसे श्रवण करते हैं; अतः पृच्छना का परम्परागत अर्थ शास्त्र-श्रवण भी संगत होता है।

(३) अनुप्रेक्षा—चित्त को एकाग्र करके किसी विषय का बार २ चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।

मूलाचार की टीका में अनित्यत्व, अशरणत्व आदि बारह भावना के चिन्तन को अनुप्रेक्षा नामा-स्वाध्याय कहा है।

(४) परिवर्त्तन (आम्नाय)—इस लोक व परलोक सम्बन्धी फल की अपेक्षा न करने वाले व्रती का द्रुतविलम्बित, पदच्युत, अक्षरच्युतादि उच्चारण दोष रहित शुद्ध ग्रन्थ का परिवर्त्तन (आवृत्ति) करना, वह परिवर्तन नामक स्वाध्याय है।

(५) धर्म कथा स्तुति मङ्गलादि—धर्मोपदेश करने के प्रत्यक्ष प्रयोजन का त्याग कर उन्मार्ग का निराकरण, सन्देह का निवारण तथा अपूर्व पदार्थ का प्रकाशन करने के लिए धर्मोपदेश देना धर्मकथा है।

मूलाचार की टीका में तिरेसठ शलाका के पुण्य पुरुषों के चरित्र को धर्मकथा कहा है। देववन्दना को स्तुति और नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक और शान्ति आदि रूप वचन वगैरह को मङ्गल कहते हैं।

भावार्थ—श्री परम भट्टारक तीर्थंकर देवाधिदेव ने अपनी दिव्य-ध्वनि द्वारा तथा अतिशय बुद्धि-ऋद्धि धारक गणधर महाराज ने उपदेश द्वारा कहा है कि अनादि काल से चिपटे हुए कर्मों का क्षय बारह प्रकार के तप से होता है। उनमें स्वाध्याय नामक तप के समान आत्मा का हित करने वाला दूसरा तप न है, न हुआ है और न होगा। क्योंकि स्वाध्याय से वस्तु-तत्त्व का ज्ञान होता है। आत्मा और कर्मों का भेद ज्ञान होता है। भेद विज्ञान से आत्मा में श्रद्धा और उपादेयता आती है और पुद्गलादि पदार्थों से विरक्तता और उपेक्षा होती है। इससे आत्मा में वीतरागता शान्ति और परमउज्जवलता आती है। आत्मा को ज्ञान द्वारा कर्मबन्धन की गांठें और उसके खोलने के कारण प्रत्यक्ष से दीखने लगते हैं। तब वह उन गांठो को सुलझाने के उपाय मे तत्पर होता है। ये रागद्वेषादि भावकर्म बन्ध के कारण हैं, और पुद्गल कर्मों के निमित्त से आत्मा मे उत्पन्न होते हैं। ये मेरे नहीं हैं। ज्ञानदर्शनादि मेरा स्वरूप है। शान्ति और सुख मेरा निजधन है। मैंने अज्ञान वश बाह्य

शरीरादि पदार्थों को सुख का साधन जानकर उन्हें तो अपनाया है और अपने वास्तविक सुख का साधन वैराग्य निर्मोह और निराकुलता आदि की उपेक्षा और अवहेलना की जिसके कारण मुझे असंख्य जन्म-जरा-मरण के दुःख भोगने पड़े हैं। इस प्रकार के विचार ज्ञान प्राप्त होने पर ही होते हैं। इन विचारो से आत्मा की सम्यक्चारित्र मे प्रवृत्ति होती है; जिमसे पूर्व सञ्चित कर्मों की निर्जरा होती है और आगन्तुक कर्मों का निरोध होने से संवर होता है। इसलिए स्वाध्याय के समान त्रिलोक मे आत्मा का हितकारी अन्य पदार्थ नही है। यह सब पदार्थों मे सर्वोतम और मान्य है।

अज्ञानी जीव घोर तपश्चरण कर जिन कर्मों का करोडो वर्षों मे क्षय करता है, उनसे असख्यातगुणा कर्मों का क्षय ज्ञानी जीव क्षण भर में कर डालता है।

"अज्ञानी क्षपयेत् कर्म यज्जन्मशतकोटिभिः।
तज्ज्ञानी तु त्रिगुप्तात्मा निहन्त्यन्तर्मुहूर्त्ततः॥"

अर्थ—अज्ञानी आत्मा जितने कर्म करोड़ो भवो मे तप आदि द्वारा क्षय करता है, उन्हीं कर्मों को ज्ञानी पुरुष तीन गुप्ति धारण करके अन्तर्मुहूर्त्त मे ही समूल नष्ट कर देता है।

अज्ञानी व्रत, उपवास, यम, नियम, कायक्लेश आदि अनेक तप करके भी कर्मबन्ध करता है और ज्ञानी भोग भोगते हुए भी कर्मों की निर्जरा करता है।

जिसके आत्मा मे जड़ चेतन का भेद विज्ञान हुआ, वह अपने आत्मा को कर्मजाल से मुक्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करता रहता है। चारित्र मोहनीय कर्म का प्रबल उदय होने से उसका कुछ वश नहीं चलता है, परन्तु प्रतिक्षण वह अवसर ढूढा करता है कि इस जाल से किस तरह छूटूं। जब चारित्र मोहनीय कर्म का उदय मन्द होता है, उसी समय वह अति शीघ्र उस कर्मजाल को तोड़ने में तत्पर होता है और तपस्या का आचरण कर उसे शीघ्र तोड़न मे सफल होता जाता है। किन्तु अज्ञानी जो तप करता है, वह केवल इस लोक सम्बन्धी सुख की आकांक्षा से प्रेरित होकर अनेक भयानक कायक्लेश तप करता है, इसलिए उसका वह तप नवीन कर्मबन्ध का कारण होता है। उसकी सब क्रियाएँ गजस्नान के समान होती हैं। जो कार्य अन्य प्राणियो के बन्ध के कारण होते हैं, वे ही आत्मज्ञानी के निर्जरा के कारण बन जाते हैं। यह सब एक ज्ञान का माहात्म्य है। अतः आत्म हितैषी मनुष्य को सदा स्वाध्याय द्वारा ज्ञान को निर्मल बनाना चाहिए।

सज्झाय भावणाय य भाविदा होंति सव्वगुत्तीओ।
गुत्तीहिं भाविदाहिं मरणे आराधओ होइ॥ ११२॥ (भग०)

अर्थ—स्वाध्याय मे तत्पर हुए व्यक्ति के कर्मबन्ध की कारण भूत मन वचन और काय की प्रवृत्तियां रुक जाती हैं। इनके रुक जाने से मनोगुप्ति, वचन गुप्ति और कायगुप्ति सहज ही मे पलती हैं। शरीरादि के द्वारा स्वय कार्य करना, दूसरे से कार्य करवाना और स्वयं कार्य करने वालो को अनुमति प्रदान करना अर्थात् उनकी सराहना करना—इन तीनो योगो का निरोध रत्नत्रय की प्राप्ति से हो जाता है और यह रत्नत्रय स्वाध्याय से मुनि के स्वतः प्रकट होता है।

इसका आशय यह है कि अनन्त काल से अशुभ मन वचन काय-योगों का आत्मा को अभ्यास हो रहा है और उसका सहायक अशुभ कर्म का उदय है। इन सब का नाश अत्यन्त दुष्कर है। किन्तु स्वाध्याय के बल से ही इनका नाश किया जासकता है। स्वाध्याय से मन, वचन, काय की अशुभ प्रवृति नष्ट होती है और शुभ तथा शुद्ध प्रवृति उत्पन्न होती है,तथा गुप्ति का पालन होता है,इससे नवीन कर्म का बन्ध न होने के कारण संवर होता है और स्वाध्याय के समय सब इच्छाओ का निरोध होता है। अतःइस तप के प्रभाव से पूर्व सञ्चित कर्मों का क्षय होता है, इसलिए संवर और निर्जरा के कारण इस स्वाध्याय का सदा आराधन करना चाहिए। इसके समान दूसरा कोई उपाय नहीं, इसका आचरण कर मनुष्य सुगमता से संवर और निर्जरा करने में समर्थ हो सकता है। बाल, वृद्ध, युवक धनवान्, निर्धन, सबल और निर्बल सब अवस्था और सब परिस्थिति वाले स्त्री पुरुष इस स्वाध्याय द्वारा अनुपम लाभ उठा सकते हैं।

धर्मकथा नाम धर्मोपदेश का है। धर्मोपदेश के निम्नलिखित चार प्रकार हैं :—

आक्षेपणीं स्वमतसंग्रहणीं समेक्षी,
विक्षेपणीं कुमतनिग्रहणीं यथार्हम्।
संवेजनीं प्रथयितुं सुकृतानुभावं,
निर्वेदनीं वदतु धर्मकथा विरक्तये ॥ ८८ ॥ (अन० अ० ७)

अर्थ—समदर्शी-उपेक्षा बुद्धी का धारक मनुष्य, १ आक्षेपणी, २ विक्षेपणी, ३ संवेजनी, और निर्वेदनी इन चार प्रकार की धर्म कथा का उपदेश करे।

(१) आक्षेपणी—स्वमत का संग्रह करने वाली अर्थात् अनेकान्त मत का समर्थन करने वाली कथा को आक्षेपणी कहते हैं।

(२) विक्षेपणी—कुमत अर्थात् क्षणिकादि एकान्त मत का निराकरण करने वाली कथा को विक्षेपणी कहते हैं।

(३) संवेजनी—पुण्य के फल को प्रकट करने वाली कथा संवेजनी है।

(४) निर्वेदनी—इन्द्रिय के विषय भोग और शरीर से विरक्ति (वैराग्य) उत्पन्न करने वाली कथा को निर्वेदनी कहते हैं।

भावार्थ—धर्मकथा करने वाले वक्ता में सबसे पहले संसार के सब जीवों पर समभाव होना परमावश्यक है। जिसके हृदय में दूसरे जीवों को सुख पहुचाने की उत्कण्ठा होगी, वही स्व और पर के कल्याण करने वाले उपदेश को देने में समर्थ हो सकता है। इसलिए उसे वस्तुतत्त्व का ज्ञाता होना चाहिए। तत्त्वज्ञान के बिना उपदेश करने वाला निज पर का उपकार न कर अपकार कर बैठता है। वह उस यमराज के तुल्य कुवैद्य के समान है, जिसे रोग का निदान तथा चिकित्सा का सम्यक परिज्ञान नहीं है। वह रोगी की विपरीत चिकित्सा कर उसको मृत्यु-मुख में ढकेल देता है। वैसे ही तत्वज्ञान हीन उपदेशक-धर्मकथा करने वाला-जनता को सम्यक् प्रकार वस्तु का स्वरूप न समझा सकने के कारण भयानक अनर्थ कर डालता है। इसलिए धर्मकथा करने वाले को जिस विषय का उपदेश करना हो, उसका गुरुमुख से वाचना (अध्ययन) पृच्छना (उसमें तर्क वितर्क करना) अनुप्रेक्षा(बार बार चिन्तन)और आम्नाय(घोष-शुद्ध उच्चारण)इन चार प्रकार के स्वाध्याय का अभ्यास करने के पश्चात पूर्ण योग्यता होने पर उपदेश करना चाहिए।

उपदेश करने वाले को अनेकान्त मत का उत्तम ज्ञान और उसके विवेचन करने की प्रवीणता और वाक्-चातुर्य अत्यन्त आवश्यक है। स्वमत का इतना अनुभव होना आवश्यक है कि उसका पूरी तरह दूसरों के समक्ष समर्थन कर सके। इसके साथ साथ परमतों का ज्ञान होना भी आवश्यक है, क्योंकि उनका ज्ञान हुए बिना उनका निराकरण कैसे कर सकेगा? यदि किसी परमत के विद्वान् ने स्वमत की पुष्टि और अनेकान्तमत में दूषण दिखाने की चेष्टा की तो बिना उस मत का ज्ञान प्राप्त किये उसका निराकरण और स्वमत स्थापन कैसे हो सकता है? इसलिए स्वमत एवं दूसरे मतों का ज्ञान भी होना अत्यन्त आवश्यक है।

शङ्का—जैनेन्द्र मत वीतरागता का पोषक है, उसमें संवेजनी और निर्वेदनी ये दो कथाएँ ही होनी चाहिए। वे ही आत्मा के हित की करने वाली हैं। इनसे ही वीतरागता उत्पन्न होती है। आक्षेपणी और विक्षेपणी कथा से तो राग द्वेष की उत्पत्ति होती है और राग द्वेष ही आत्मा का घातक है, अतः धर्मकथा में इन दो कथाओं का समावेश कैसे किया गया?

समाधान—वास्तव में राग द्वेष आत्मा के अहितकर हैं, इनके निवारण करने के लिए ही धर्मकथा की जाती है। किन्तु धर्मकथा करने का अधिकारी वही शान्त-चित्त मन्द कषाय वाला पुरुष है, जिसके अन्तःकरण में मनुष्य मात्र के कल्याण की सच्ची भावना है। वह स्वमत के अनुयायी पर रागबुद्धि और परमतानुयायी पर द्वेषबुद्धि नहीं रखता है। वह तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र व वीतरागता को स्वमत और इनके विपरीत, मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्या चारित्र व राग द्वेष आदि पुद्गलकर्मजन्य विभाव परिणति को परमत मानता है।

इसलिए किसी व्यक्ति पर वह द्वेष बुद्धि नहीं करता है। वह तो वस्तुस्वरूप को दिखलाने का प्रयत्न करता है। वस्तु का स्वरूप अनेकान्तमय है। उसका समर्थन करता है; एकान्त वस्तु का स्वरूप नहीं है; क्योंकि वह प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित है। वस्तु-स्वरूप का वर्णन राग द्वेष का कारण नहीं, प्रत्युत वीतरागता का कारण है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आक्षेपणी और विक्षेपणी कथा राग द्वेष की जनक नहीं बल्कि उसका नाश करने वाली हैं।

इस प्रकार स्वाध्याय का वर्णन कर अब ध्यानतप का वर्णन न करते हैं।

ध्यान का स्वरूप

उत्कृष्टकायबन्धस्य साधोरन्तर्मुहूर्त्ततः।
ध्यानमाहुरथैकाग्रचिन्तारोधो बुधोत्तमाः ॥ १५ ॥
एकचिन्तानिरोधो यस्तद्ध्यानं भावना परा।
अनुप्रेक्षार्थचिन्ता वा तज्ज्ञैरभ्युपगम्यते ॥ १६ ॥ (ज्ञाना० प्र० २५)

अर्थ—मन की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं। अनिश्चल ज्ञान का नाम ध्यान है। ध्यान में अन्य सब पदार्थों की चिन्ता को रोक कर केवल एक पदार्थ का विचार किया जाता है। अनुप्रेक्षा अथवा भावना का ध्यान से यही भेद है कि अनुप्रेक्षा अभ्यास रूप है और ध्यान उसका फल है। ध्यान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्तमात्र है और वह उत्कृष्ट संहनन वाले मुनीश्वरों के ही होता है।

भावार्थ—मन वायु से भी चञ्चल है। यह एक समय में ही तीनों लोकों तक को नाप लेता है और भ्रमण कर आता है। इसको गमनागमनाहारादि विषयकषायादि अनेक विभाव परिणामों से हटाकर एक पदार्थ में स्थिर करना ध्यान है। अतिशय बलवान् चित्त की चञ्चलता को रोककर एक विषय पर स्थिर कर देना साधारण शक्ति वाले पुरुष के सामर्थ्य से बाहर है। ध्यान के ध्याता उत्तम संहनन वाले ही होते हैं; इसलिए ध्यान करने का सामर्थ्य वज्रवृषभनाराच संहनन, वज्रनाराचसंहनन और नाराचसंहननवाले महापुरुषों के ही माना गया है, शेष तीन संहननवालों के ध्यान की सिद्धि नहीं होती है। तीन उत्तम संहननवाले भी अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त्त तक ही ध्यान कर सकते हैं। आवली के ऊपर एक समय होजाने पर अन्तर्मुहूर्त्त का प्रारम्भ होता है और मुहूर्त्त (२ घड़ी–४८ मिनिट) में एक समय कम रहने तक उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त का प्रमाण माना गया है। उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ध्यान वज्रवृषभनाराचसंहननवाले महामुनि के ही होता है। वज्रनाराच

और नाराच संहननवाले के उत्कृष्ट काल तक ध्यान नहीं हो सकता। इतने काल पर्यन्त चित्तवृत्ति को रोकने की शक्ति उनमें भी नहीं है। जघन्य व मध्यम काल तक वे दोनो ध्यान कर सकते हैं। इसलिए इन दो संहननो से मोक्ष नहीं होता। केवल वज्रवृषभनाराच संहनन से ही मोक्ष होता है। और इस संहननवाले की ही उत्कृष्ट रौद्र ध्यान में प्रवृत्ति होती है; इसलिए वही सातवे नरक की आयु का बन्ध कर सकता है।

अर्धनाराच, कीलक और असंप्राप्तसृपाटिका संहनन इन तीनो संहनन वालों की चित्तवृत्ति एक पदार्थ में नहीं रुक सकती है; इसलिए उनके ध्यान नहीं होता, एक अर्थ से दूसरे अर्थ के चिन्तन में चित्त की वृति भ्रमण करती रहती है, अतः उनके अर्थ-चिन्तन होता है। उसको भावना व अनुप्रेक्षा भी कहते हैं। कई आचार्यों ने इसे ध्यानपरम्परा के नाम से कहा है। यद्यपि यह ध्यानपरम्परा मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं है, तथापि कर्मक्षय करने में अवश्य सामर्थ्य रखती है।

ध्यान के मूल दो भेद हैं—एक प्रशस्तध्यान और दूसरा अप्रशस्तध्यान।

प्रशस्तध्यान—जिस ध्यान से आत्मा में साम्यभाव, निर्मलता और शान्ति आदि आत्मीय गुणों का विकास होता है, वह प्रशस्तध्यान है। उससे ही कर्मों का क्षय होता है और आत्मा की असली हालत प्रकट होती है।

अप्रशस्तध्यान—जिस ध्यान से आत्मा मे स्व और पर के अकल्याण—दुःख, क्लेश, संताप, हिंसादि पाप और क्रोधादि कषायो का आविर्भाव हो, उसे अप्रशस्त ध्यान कहते हैं। यह ध्यान आत्मा का पतन करने वाला है और नरकादि के दुःखो का कारण है।

शङ्का—प्रशस्तध्यान की प्राप्ति का कारण क्या है ?

समाधान—एक साम्यभाव ही प्रशस्तध्यान का कारण है। वही कहा है :—

यदैव संयमी साक्षात्समत्वमवलम्बते।
स्यात्तदैव परं ध्यानं तस्य कर्मौघघातकम् ॥ ४ ॥ (ज्ञाना० अ० २५)

अर्थ—जिस समय संयमी साक्षात् समभाव का अनुभव करता है, उसी समय उसके कर्मपुंज का नाश करने वाला प्रशस्त ध्यान होता है।

शङ्का—अप्रशस्त ध्यान का कारण क्या है।

समाधान—आत्मा मे अनादिकाल से लगी हुई पापवासना ही अप्रशस्त ध्यान की कारण है। वही कहा है :—

अपास्य खण्डविज्ञानरसिकां पापवासनाम् ।
असद्ध्यानानि नादेयं ध्यानं मुक्तिप्रसाधकम् ॥ ८ ॥ (ज्ञाना० अ० २५)

अर्थ—क्षायोपशमिक रागादि सहित ज्ञान में जो आसक्ति होती है वही पापवासना है, यही अप्रशस्त ध्यान का कारण है अर्थात् पापवासना ही अप्रशस्त ध्यान को जन्म देती है; इसलिए इस पापवासना को हृदय से निकाल कर मुक्ति के साधक प्रशस्तध्यान का ग्रहण करना चाहिए।

प्रशस्त और अप्रशस्त ध्यान के भेद

अट्टं च रुद्दसहियं दोण्णि वि झाणाणि अप्पसत्थाणि ।
धम्मं सुक्कं च दुवे पसत्थझाणाणि णेयाणि ॥ १६७ ॥ (मूला० पञ्चा०)

अर्थ—आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान ये दो अप्रशस्त ध्यान हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये दो प्रशस्त ध्यान हैं। अप्रशस्त ध्यान तिर्यंच और नरकगति का कारण है और प्रशस्तध्यान देवगति और मोक्ष का कारण है। यही कहा है :—

तिरियगई अट्टेण णरयगई तह रउद्दझाणेण ।
देवगई धम्मेण सिवगइ तह सुक्कझाणेण ॥ १२ ॥ (ज्ञानसार)

अर्थ—आर्तध्यान तिर्यंचगति और रौद्रध्यान नरकगति का कारण है। तथा इसी तरह धर्मध्यान से देवगति और शुक्लध्यान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आर्तध्यान और रौद्रध्यान में किस का चिन्तन होता है इसे दिखाते हैं :—

तंबोलकुसुमलेवणभूसणपियपुत्तचिंतणं अट्टं ।
बंधणडहणवियारणमारणचिंता रउद्दंमि ॥ ११ ॥

अर्थ—ताम्बूल, पुष्प, चन्दनादि लेपन, सुवर्ण रत्नादि के आभूषण तथा पुत्रादि की प्राप्ति का बार बार चिन्तन करने से आर्त ध्यान होता है। किसी को बन्धन में डालने, जलाने, विदारण करने, प्राण हरण करने के लिए जो आत्मा में विचार धारा उत्पन्न होती है तथा

किसी के धन सम्पत्ति आदि के हरण करने के लिए असत्य वचन में चतुराई प्रगट करने के लिए जो विचार परम्परा उत्पन्न होती है वह सब रौद्रध्यान है।

धर्मध्यान और शुक्लध्यान में किन का चिन्तन होता है, इसे दिखाते हैं :—

सुत्तत्थमग्गणाणं महव्वयाणं च भावणा धम्मं।
गयसंकप्पवियप्पं सुक्कज्झाणं मुणेयव्वं ॥ १२ ॥ (ज्ञानसार)

अर्थ—सूत्रों के अर्थ का चिन्तन, मार्गणा, गुणस्थानादि तत्त्वों का मनन और महाव्रतों की भावनाओं का सतत अनुभव करते रहने से धर्मध्यान होता है। शुक्लध्यान में संकल्प और विकल्प का अभाव है। अर्थात् उसमें शब्द अथवा द्रव्य या पर्याय का चिन्तन होता है।

भावार्थ—राग द्वेष रहित होकर आत्मा जब जीवादि पदार्थों का तथा धर्म के स्वरूप का, मार्गणा, व्रत, गुप्ति, समिति और बारह प्रादि का चिन्तन करता है, उसे धर्म ध्यान कहते हैं।

अब उक्त चारों ध्यानों में से प्रत्येक ध्यान के चार चार भेद होते हैं। उनमें से पहले आर्त्तध्यान के चार भेद दिखलाते हैं।

आर्त्तध्यान के चार भेद

अनिष्टयोगजन्माद्यं तथेष्टार्थात्ययात्परम्।
रुक्प्रकोपात्तृतीयं स्यान्निदानात्तुर्यमङ्गिनाम् ॥ २४ ॥ ज्ञाना०

अर्थ—अनिष्ट पदार्थों के संयोग से उत्पन्न हुए आर्त्तध्यान को अनिष्ट संयोगज नामक आर्त्तध्यान कहते हैं। इष्ट पदार्थ के वियोग से उत्पन्न हुए आर्त्तध्यान को इष्टवियोगज नामा आर्त्तध्यान कहते हैं। शारीरिक रोग की पीड़ा से जो, आत्मा में अशान्ति उत्पन्न होती है, उसे रोग-पीड़ा-चिन्तन आर्त्तध्यान कहते हैं। आगामी काल में भोगों की आकांक्षा करना निदान नामक आर्त्तध्यान होता है।

इस संसार में अपने प्रिय पदार्थ-पुत्र स्त्री आदि कुटुम्बी जन एवं धन-सम्पत्ति आदि इष्ट वस्तुओं के नाश करने वाले अग्नि, जल, विष, शस्त्रादि अचेतन पदार्थ, तथा सिंह सर्पादि तिर्यंच जीव और दुष्ट व्यन्तरादि देव एवं दुष्ट राजादि का संयोग होने से आत्मा में जो संक्लेश परिणामों की धारा बहती रहती है वही आर्त्तध्यान कहलाता है। इसका आशय यह है कि अनिष्ट पदार्थ के संयोग होने पर उसे दूर करने के लिए जो बार बार विचार किया जाता है वह पहला अनिष्टसंयोगज नाम का आर्त्तध्यान है।

राज्य, ऐश्वर्य, स्त्री कुटुम्ब, मित्र, सौभाग्य, भोगादि के विनाश होने पर तथा अन्तःकरण में आह्लाद उत्पन्न करने वाले मनोज्ञ इन्द्रिय-विषयों का ध्वंस होने पर संत्रास, पीड़ा, भ्रम, शोक, मोह के कारण निरन्तर खेद उत्पन्न होना और उनकी पुनः प्राप्ति का बार बार विचार करना दूसरा इष्टवियोगजन्य आर्तध्यान है।

आशय यह है कि जिन पदार्थों से अपने अभीष्ट इन्द्रियों के सुख सम्पन्न होते हैं तथा मन को आनन्द मिलता है, ऐसे पदार्थों का वियोग हो जाने से आत्मा में शोक खेद, आदि संक्लेश भावों की सन्तति उत्पन्न होती है अतः उन पदार्थों की पुनः प्राप्ति के लिए जो बार बार विचार होता है वही आर्तध्यान का दूसरा भेद इष्टवियोगज नाम का आर्तध्यान है।

रोग, पीड़ा, चिन्तन, वातपित्त और कफ की विषमता से प्रकट हुए श्वास, खांसी, भगंदर, जलोदर, कोढ़, संग्रहणी, विषमज्वर, क्षय आदि के उत्पन्न होने पर शारीरिक पीड़ा और मानसिक व्याकुलता व खिन्नता उत्पन्न होती है। उसे दूर करने के लिए जो बार २ विचार होता है उसे रोग पीड़ा चिन्तन नामक आर्तध्यान कहते हैं।

कासश्वासभगन्दरोदरजराकुष्टातिसारज्वरैः,
पित्तश्लेष्ममरुत्प्रकोपजनितै रोगैः शरीरान्तकैः।
स्यात्सत्वप्रबले; प्रतिक्षणभवैर्यद्व्याकुलत्वं नृणां,
तद्रोगार्त्तमनिन्दितैः प्रकटितं दुर्वारदुःखाकरम् ॥ ३२ ॥ ज्ञाना० अ० २५

इसका अर्थ ऊपर बता चुके हैं।

निदानज—भोगा भोगीन्द्रसेव्यास्त्रिभुवनजयिनी रूपसाम्राज्यलक्ष्मी
राज्यं क्षीणारिचक्रं विजितसुरवधूलास्यलीलायुवत्यः।
अन्यच्चानन्दभूतं कथमिह भवतीत्यादिचिन्तासुभाजाम्,
यत्तद्भोगार्थमुक्तं परमगुणभरैर्जन्मसन्तानमूलम् ॥ ३४ ॥ (ज्ञाना० अ० २५).

अर्थ—धरणीन्द्र के सेवन करने योग्य—सर्वोत्कृष्ट भोग मुझे किस प्रकार उपलब्ध हों? त्रिभुवन पर विजय प्राप्त करने वाली

रूप साम्राज्य की लक्ष्मी—सर्वातिशायी शरीर का सौन्दर्य-मुझ को कैसे मिले ? जिसमें शत्रुओं के समुदाय का क्षय होगया है ऐसा साम्राज्य तथा देवांगनाओं के नृत्य की सुन्दरता को जीतने वाली स्त्रियाँ और इसी प्रकार की अन्य आनन्दवर्द्धक सामग्री कैसे पाऊँ—इत्यादि सुखभोग की वस्तुओं की प्राप्ति के लिए चिन्तन करने वाले मनुष्यों के जन्मसन्तान को उत्पन्न करने वाला निदान नामक आर्त्तध्यान होता है।

भावार्थ—पुण्योत्पादक जिनेन्द्र पूजन करके परमशान्त, महातपस्वी, पर हित में सतत निरत रहने वाले, सुपात्र मुनीश्वरो को आहार, औषध, वसतिका आदि का योग्य प्रासुक दान करके तीर्थंकरों के पद की वांछा करना तथा त्रिविध तपस्या आदि धर्मानुष्ठानों का पालन कर देवों की विभूति की आकांक्षा करना, इन्द्रियों को तृप्त करने वाली रूप, लावण्य सम्पत्ति, युवतियो एवं यान वाहनादि भोग उपभोग की वस्तुओं की अभिलाषा करना तथा इन्हीं धर्माचरणो द्वारा शत्रु-समूह के विनाश की कामना करना और अपनी पूजा, प्रतिष्ठा, लाभ आदि की इच्छा करना, इत्यादि किसी भी भौतिक पदार्थ की धर्म सेवन से वांछा करना निदान नामा आर्त्तध्यान है सो ही कहा है:—

"इष्टभोगादिसिद्ध्यर्थं रिपुघातार्थमेव वा ।
यन्निदानं मनुष्याणां स्यादार्त्तं तत्तुरीयकम् ॥"

अर्थ—मनुष्यों के मन को लुभाने वाले विषय भोगों की सिद्धि के लिए तथा शत्रु के विनाश के लिए जो चिन्तना होती है, उसे निदान नाम का आर्त्तध्यान कहते हैं।

यह चार प्रकार का आर्त्तध्यान आत्मा का अत्यन्त अहित करने वाला है। आर्त्तध्यानी के तिर्यंच गति और तिर्यंच आयु का बंध होता है। जीव निगोद का पात्र इसी आर्त्तध्यान के कारण होता है। जीव की सब से निकृष्ट अवस्था यही है। एक श्वास में अठारह बार जन्म मरण होता है और वहां अक्षर के अनन्तवें भाग ज्ञान रहता है। वहां का दुःख वचनागोचर है, उस दुःख का पूर्ण वर्णन करने की सामर्थ्य किसी में भी नहीं है। उस दुःख का यथार्थ ज्ञान केवलज्ञानी को ही होता है। नरकों का दुःख भी भयानक होता है, किन्तु वह दुःख निगोद के दुःख के अनन्तवें भाग मात्र है। ऐसी अत्यन्त निकृष्ट पर्याय आर्त्तध्यान करने वाला पाता है। इसकी अवधि अनन्त काल है। पुनः वहां से निकलना अतिदुष्कर है। आर्त्तध्यान का ऐसा भयानक परिणाम इस अज्ञानी जीव को भोगना पड़ता है इसलिए यदि पूर्वकृत पापकर्म के उदय से आर्त्तध्यान के कारण इष्ट वस्तु, धन, सम्पत्ति, पुत्र, कलत्रादि का वियोग तथा अनिष्ट पदार्थ का संयोग एवं रोग जन्य भयंकर पीड़ा प्राप्त हो जावे तो उस समय अपनी आत्मा में ज्ञानामृत का सिंचन करो, शान्ति सुधा का पान करो, विचारो कि यह सब दुःख मेरे किये हुए दुष्कर्मों का फल है। इसको मैं शान्ति से साम्यभाव धारण कर भोग लूंगा तो इस समय भी मेरे हृदय में अधिक संताप न होगा और अशुभ कर्मों का बन्ध न होगा। और यदि अधीर होकर सहूंगा तो भी ये दुष्कर्म अपना फल तो अवश्य देंगे, इनको मुझे सहना तो अवश्य पड़ेगा; किन्तु

आर्त्तध्यान होजाने से तिर्यंच गति का बन्ध होगा; जहां सुख दुःख ही दुःख है। इससे मुझे भव भव में महादुःख भोगने पड़ेंगे। और इस समय भी अधैर्यभाव रखने से दुःख उग्ररूप धारण करेगा तब तीव्र आर्त्तध्यान उत्पन्न होगा। अतः दुःख से बचने के लिए आर्त्तध्यान करना विवेक हीन मनुष्यों का काम है। उस समय वस्तु स्वरूप का चिन्तन तथा सत्पुरुषो का समागम ही सुख देने वाला होता है।

यह आर्त्तध्यान इतना बलवान है कि मुनियो तक को नहीं छोड़ता है। इसकी दौड़ छठें गुणस्थान तक है। आदि के चौर अविरत गुणस्थान, पांचवां-संयमासंयम गुणस्थान और छठा अप्रमत्त गुणस्थान इसका क्षेत्र है।

शङ्का—आपने आर्त्तध्यान आदि को छह गुणस्थानों में बता दिया है, सो कैसे? आर्त्तध्यानी के तिर्यंच गति का बन्ध होता है, लेकिन छठे, पांचवें और चौथे गुणस्थान मे तिर्यंच गति का बन्ध संभव ही नहीं होता है। क्योकि पाचवें गुणस्थान में अणुव्रत और छठे गुणस्थान मे महाव्रत होता है। और यह नियम है कि व्रत उसी जीव के होता है, जिसने देवगति व देवायु का बन्ध किया हो या करने वाला हो। शेष तीन गति का बन्ध करने वाले के व्रत का धारण नहीं होता है। तथा चौथे गुणस्थानवर्त्ती सम्यग्दृष्टि जीव देवायु का ही बन्ध करता है। इसलिए चौथे, पांचवें और छठे गुणस्थानवर्त्ती जीव के तिर्यंच गति का बन्ध कैसे सम्भव होगा?

समाधान—आपकी शङ्का ठीक है। वास्तव में चौथे, पांचवें और छठे गुणस्थान में तिर्यंच गति का बन्ध नहीं होता है। जो आर्त्तध्यानी का तिर्यंच गति में गमन करना बताया है, वह मिथ्यात्व की अपेक्षा से है। अर्थात् आर्त्तध्यानी मिथ्यादृष्टि जीव तिर्यंच गति का बन्ध करता है। सम्यग्दृष्टि जीव देवगति के सिवाय अन्य गति का बन्ध नहीं करता है यह नियम है।

यही राजवार्तिक मे रौद्रध्यान के प्रकरण मे श्री भट्टाकलङ्क देव ने भी कहा है:—

'तत्पुनर्नारकादीनामकारणं सम्यग्दर्शनसामर्थ्यात्'

अर्थात्—जिसके सम्यग्दर्शन होता है, उसके सामर्थ्य से रौद्रध्यान नारक, तिर्यंचादि गति का कारण नहीं होता है। इसी प्रकार आर्त्तध्यानी भी सम्यग्दर्शन के सामर्थ्य से तिर्यंच गति का बन्ध नहीं करता है।

शङ्का—छठे गुणस्थानवर्त्ती साधुओं के आर्त्तध्यान का सम्भव कैसे हो सकता है?

समाधान—छठे गुणस्थान में संज्वलन कषाय का उदय रहता है, उसके तथा असातावेदनीय के तीव्र उदय से भयानक असह्य व्याधि के उत्पन्न होजाने पर पीड़ा उत्पन्न होती है उस समय आर्त्तध्यान उत्पन्न होजाता है तथा अत्यन्त प्रिय शिष्यादि का वियोग होजाने पर

उनके आर्त्तध्यान सम्भव होता है।

शङ्का—तब तो छठे गुणस्थानवर्त्ती संयमी के चारों प्रकार का आर्त्तध्यान बन सकता है ?

समाधान—छठे गुणस्थान में निदान नाम का आर्त्तध्यान नहीं होता। शेष तीन आर्त्तध्यान के भेद हो सकते हैं। वही राजवार्तिक में कहा है :—

"कदाचित्प्राच्यमार्त्तध्यानत्रयं प्रमत्तानां ॥ १ ॥ निदानं वर्जयित्वा अन्यदार्त्तत्रयं प्रमादोदयोद्रेकात्कदाचित्प्रमत्त-संयतानां भवति"॥

अर्थात्—निदान नाम के आर्त्तध्यान को छोड़कर शेष आदि के तीन आर्त्तध्यान कदाचित् प्रमाद के तीव्र उदय होने से प्रमत्त-संयत मुनि के हो सकते हैं।

यह आर्त्तध्यान कृष्ण लेश्या, नील लेश्या और कापोत लेश्या के बल से तथा अनादिकाल की अशुभ वासना-संस्कार के कारण उत्पन्न होता है और महापाप का कारण है। यह आर्त्तध्यान क्षायोपशमिक भाव है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त्त मात्र है। एक ज्ञेय पदार्थ पर अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक नहीं टिक सकता, तत्पश्चात् दूसरे ज्ञेय पर चला जाता है।

आर्त्तध्यानी के बाह्यचिह्न

शङ्काशोकभयप्रमादकलहश्चित्तभ्रमोद्भ्रान्तयः।
उन्मादो विषयोत्सुकत्वमसकृन्निद्राङ्गजाड्यश्रमाः।
मूर्छादीनि शरीरिणामविरतं लिङ्गानि बाह्यान्यल—
मार्त्ताधिष्ठितचेतसां श्रुतधरैर्व्यावर्णितानि स्फुटम् ॥ ४३ ॥ (ज्ञाना० अ० २५)

अर्थ—आगम के रहस्य के ज्ञाता विद्वानो ने आर्त्तध्यान वालों के बाह्यचिह्न इस प्रकार वर्णन किये हैं कि उसे प्रथम तो हर एक बात में सन्देह पैदा होता है, पश्चात् शोक होता है, भय होता है, प्रमाद होता है-किसी काम में सावधानी नहीं होती, कलह करता है, चित्त-

भ्रम होजाता है, चित्त एक जगह नहीं ठहरता, बहकने लगता है, विषय सेवन करने मे उत्सुकता होती है; बारम्बार नींद आती है, शरीर में जड़ता-शिथिलता होती है, थकावट प्रतीत होती है, मूर्छा उत्पन्न होती है, चित्त में उद्वेग इत्यादि अनेक चिह्न आर्त्तध्यानी के प्रकट होते हैं।

इस प्रकार का यह आर्त्तध्यान स्वयमेव बिना उपदेश के उत्पन्न होता है, आत्मा का अत्यन्त अहित करने वाला है; इसलिए इसका त्याग करना चाहिए।

रौद्रध्यान

रुद्रः क्रूराशयः प्राणी प्रणीतस्तत्वदर्शिभिः।
रुद्रस्य कर्म भावो वा रौद्रमित्यभिधीयते ॥ २ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ—क्रूर आशय-परिणाम-वाले प्राणी को तत्त्व के वेत्ता विद्वानों ने रुद्र कहा है। और रुद्र का जो भाव अथवा कर्म होता है उसे रौद्र कहते हैं। इसका आशय यह है कि क्रूर परिणाम वाले जीव के जो हिंसादि पाप रूप कार्यों का सतत चिन्तन होता है, उसे रौद्रध्यान कहते हैं।

रौद्रध्यान के चार भेद

तेणिक्कमोससारक्खणेसु तध चेव छव्विहारंभे।
रुद्दं कसायसहिदं झाणं भणियं समासेण ॥ १६६ ॥ (मूला० पञ्चा०)

अर्थ—(१) पर द्रव्य के हरण करने का अभिप्राय (चोरी) (२) प्राणियों को पीड़ा करने वाले असत्य वचन बोलने में तत्परता (३) यदि कोई मेरा द्रव्य चुरावेगा तो मैं उसको मारूंगा, ऐसे विचार से हाथ में शस्त्र लेकर चोरादि को मारने का अभिप्राय तथा (४) छह काय के जीवों की हिंसा जनक आरम्भ में अभिप्राय रखना, ये चार रौद्रध्यान के भेद हैं।

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और बनस्पति इन पांच स्थावरकाय के तथा त्रसकाय के जीवों की हिंसा करने उनके छेदन, भेदन, ताड़न, बध, बंधन, दहन आदि कार्यों मे उद्यम करने में आनन्द मानना हिंसानन्द नाम का रौद्रध्यान है। प्राणियों को पीड़ा देने वाले असत्य वचन बोलने मे आनन्द मानना मृषानन्द नाम का दूसरा रौद्रध्यान है। अपने धनादि अभीष्ट पदार्थों को चुराने वाले तथा धर्मायतनों को लूटने वाले, माता, बहिन, स्त्री आदि का सतीत्व नष्ट करने वाले, जबर्दस्ती उनका अपहरण करने वाले का शस्त्र हाथ में लेकर वीरता पूर्वक सामना करना, अन्याय करने वाले आततायी को दंड देना, रौद्रध्यान नहीं है; क्योंकि इसमे धर्म रक्षा के भाव अन्तर्हित हैं, धर्म की भावना

छिपी हुई रहती है तथा न्याय की रक्षा और अन्याय का परिहार करने का सङ्कल्प रहता है; इसलिए इसे रौद्रध्यान नहीं समझना चाहिए। रौद्रध्यान तो वह है कि किसी की अभीष्ट वस्तु चुराने, लूटने, आदि के विषय में सतत ध्यान बना रहे एवं ऐसा करने में आनन्द माने। यही चौर्यानन्द नाम का तीसरा रौद्रध्यान होता है। तथा धन, सम्पत्ति, गाय, भैंस, वगैरह परिग्रह के अर्जनादि में आनन्द मानना परिग्रहानन्द नामा चौथा रौद्रध्यान है।

हिंसानन्दनामा रौद्रध्यान

हते निष्पीडिते ध्वस्ते जन्तुजाते कदर्थिते।
स्वेन चान्येन यो हर्षस्तद्धिंसारौद्रमुच्यते ॥ ४ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ—अपने अथवा अन्य के द्वारा जीव समूह के मारे जाने पर, अत्यन्त पीड़ित किये जाने पर एवं प्रबल संताप पहुंचाये जाने पर हर्ष मानना हिंसानन्द नाम का रौद्रध्यान है। और भी कहा है:—

हिंसाकर्मणि कौशलं निपुणता पापोपदेशे भृशम्।
दाक्ष्यं नास्तिकशासने प्रतिदिनं प्राणातिपाते रतिः।
संवासः सह निर्दयैरविरतं नैसर्गिकी क्रूरता।
यत्स्याद्देहभृतां तदत्र गदितं रौद्रं प्रशान्ताशयैः ॥ ६ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ—मनुष्य में जीव हिंसा के कार्य शिकार करने आदि मे कुशलता, पाप जनक उपदेश देने में प्रवीणता, नास्तिक मत के निरूपण करने में दक्षता, प्रतिदिन प्राणियों के घात करने मे अनुराग तथा निर्दयी पुरुषों की निरन्तर सङ्गति और स्वाभाविक क्रूरता आदि होना रौद्रध्यान है।

केनोपायेन घातो भवति तनुमतां कः प्रवीणोऽत्र हन्ता।
हन्तुं कस्यानुरागः कतिभिरिह दिनैर्हन्यते जन्तुजातम् ॥

हत्वा पूजां करिष्ये द्विजगुरुमरुतां कीतिशान्त्यर्थमित्थम् ।
यत्स्याद्धिंसाभिनन्दो जगति तनुभृतां तद्धिरौद्रं प्रणीतम् ॥ ७ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ--इन जीवो का घात किस उपाय से किया जाय, यहां पर जीव वध करने मे कौन प्रवीण है, जीव घात करने में किस का अनुराग है, यह जीवों का झुण्ड कितने दिनो मे मारा जायगा, इन जीवों को मारकर ब्राह्मण गुरु और देवों को बलि देकर पूजा करूंगा-इत्यादि प्रकार से संसार में जीव हिंसा करने में जो आनन्द होता है, उसे हिंसानन्द नामक रौद्रध्यान कहते हैं।

जो जीव गगनतल मे स्वच्छन्द गमन करने वाले निरपराध दीन पक्षियो की शिकार करके उसमें वीरता समझते हैं एवं एकान्त जन-शून्य घने जंगलों में निवास करने वाले अनाथ, निहत्थे, मृग, सिंह, व्याघ्र, शूकर, नीलगाय, गवय आदि असहाय निरपराध प्राणियों की शस्त्रास्त्रादि अनेक उपायों से हिंसा करते हैं और उसमें बडी शूरता प्रकट करते हैं, ऐसी ही जलचर मत्स्य (मच्छ), मगर, घडियाल आदि जीवों का घात कर अपनी बहादुरी बघारते हैं, तथा उक्त नभचर, थलचर और जलचर जीवों को बन्धन मे डालकर उनके आवास के क्षेत्र में अग्निदाह करके, छेदन भेदन करके तथा उनका चर्म नेत्र निकालकर, दांत उखाडकर बडा कौतुक व आनन्द मानते हैं, उनके हिंसानन्द रौद्रध्यान होता है।

युद्ध में किसी का घात चिन्तन करना और किसी की विजय देखकर प्रसन्न होना भी हिंसानन्द नामा रौद्रध्यान है।

जो मनुष्य जीवों के बध, बन्धन, दहनादि जनित तीव्र दुःख वा भयानक पराभव सुनकर, देखकर अथवा स्मरण कर अपने मन में आह्लादित होता है, उसके भी हिंसानन्द नामका रौद्रध्यान होता है।

मैं इस शत्रु से अपने वैर का बदला लेने के लिए क्या उपाय करूं? अभी मुझ में शक्ति नहीं है; इसलिए यह जीवित है शक्ति होती तो अभी मारडालता। इस समय शक्ति नहीं है तो न सही इसका परलोक में तो अवश्य बदला लूंगा, इस प्रकार संकल्प करना भी हिंसानन्द नामका रौद्रध्यान है।

हिंसानन्दनामा रौद्रध्यानी के विचार

अभिलषति नितान्तं यत्परस्यापकारं, व्यसनविशिखभिन्नं वीक्ष्य यत्तोषमेति ।
यदिह गुणगरिष्ठं द्वेष्टि दृष्ट्वाऽन्यभूतिं, भवति हृदसशल्यस्तद्धि रौद्रस्यलिङ्गम् ॥ १३ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ—जो निरन्तर दूसरों का अपकार करने की अभिलाषा करता है, दूसरों को दुखी देखकर हृदय में संतुष्ट होता है, दूसरों के वैभव एवं उन्नति की बातें सुनकर दुखी होता है वह निश्चय से ही रौद्रध्यानी है।

हिंसा के उपकरणों का संचय करना, क्रूर दुष्ट परिणाम वाले जीवों का पालन पोषण करना, उनकी सहायता करना, हृदय में निर्दयभाव का धारण करना और इन सभी बातों से प्रसन्न होना रौद्रध्यान है।

यह रौद्रध्यान चारों गति के जीवों के होता है। इसका उत्कृष्ट काल भी अन्तर्मुहूर्त मात्र है। इसके बाद एक पदार्थ को छोड़कर दूसरे पदार्थ को विषय करने लगता है। यह रौद्रध्यान पाँचवें गुणस्थान तक होता है। अर्थात् आदि के पांच गुणस्थान वर्त्ती जीवों के पाया जाता है। यह ध्यान नरकगति का कारण है। रौद्रध्यान के समय यदि बन्ध हो तो नरकगति का बन्ध होता है।

शंका—आपने पाँचवें गुणस्थान वाले के रौद्रध्यान बताया है, सो कैसे? पाँचवें गुणस्थान में हिंसा झूठ आदि पांच का त्याग होता है। वह जीव हिंसा में आनन्द कैसे मानेगा। चौथे गुणस्थान वाला भी हिंसा का त्यागी न होने पर भी हिंसादि को बुरा समझता है, वह भी हिंसादि में हर्ष नहीं मानता, फिर इनके रौद्रध्यान कैसे होगा?

समाधान—धन, धान्यादि परिग्रह की रक्षा के लिए, तथा धर्मायतन चैत्यालय व किसी संयमी जन पर अन्यायी दुष्ट मनुष्यों का बलात् आक्रमण होने पर उनकी रक्षा के लिए, तथा स्वराष्ट्र पर किसी अन्यायी राजा का आक्रमण होने पर उसे विफल करने के लिए युद्ध करते समय चौथे व पांचवें गुणस्थानवर्त्ती सम्यग्दृष्टि व अणुव्रती श्रावक के चित्त में भी रौद्रध्यान का होना संभव है क्योंकि अणुव्रती श्रावक के भी केवल संकल्पी त्रस हिंसा का त्याग होता है, विरोधी आदि हिंसा का त्याग नहीं होता है; इसलिए आत्मरक्षा धर्म रक्षा व न्यायरक्षादि के निमित्त वह युद्ध कर सकता है।

शंका—जब सम्यग्दृष्टि के तथा अणुव्रती श्रावक के रौद्रध्यान होता है, और रौद्रध्यानी का नरक मे गमन होना बताया है तो क्या वह नरक मे भी गमन करेगा?

समाधान—रौद्रध्यान के निमित्त से जो नरक गमन बताया है वह मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से कहा गया है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि और श्रावक तो देवगति का ही बन्ध करता है। सम्यक्त्व देवायु के अतिरिक्त किसी अन्य आयु के बन्ध का कारण कैसे हो सकता है? पहले आर्त्तध्यान के प्रकरण में भी इस विषय का विवेचन कर आये हैं।

मृषानन्दनामा रौद्रध्यान

असत्यकल्पनाजालकश्मलीकृतमानसः ।
चेष्टते यज्जनस्तद्धि मृषारौद्रं प्रकीर्तितम् ॥ १६ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ—जो मनुष्य झूठे कल्पनाजाल से मलिन चित्त होकर पाप पूर्ण चेष्टायें करता रहता है, उसे निश्चय से मृषानन्द रौद्रध्यान कहते हैं। और भी कहा है।

विधाय वञ्चकं शास्त्रं मार्गमुद्दिश्य निर्दयम् ।
प्रपात्य व्यसने लोकं भोक्ष्येऽहं वांछितं सुखम् ॥ १७ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ—रौद्रध्यानी मनुष्य सन्मार्ग का उल्लंघन कर पाप मार्ग का इस प्रकार चिन्तन करता है कि मैं ठगाई के शास्त्र बनाकर, असत्य निर्दयता के पोषक मार्ग को चलाकर, लोगों को अनेक आपत्ति और कष्टों में डालकर अपने अभीष्ट सुखका अनुभव करूंगा।

मैं अपनी बुद्धि के कौशल से ऐसे शास्त्र की रचना करूंगा, जिससे सब मनुष्य मेरे जाल में आजावें, मैं अपने वाक् चातुर्य से इनको अपने वश में करलूंगा, और इन से रुपया पैसा आदि ऐंठ लूंगा। मैं ऐसी युक्तियों का उपयोग करूंगा जिससे मनुष्यों को सन्मार्ग से हटाकर असन्मार्ग में लगा दूंगा इत्यादि प्रकार से भोले जीवों को ठगना और ऐसा करके प्रसन्न होना मृषानन्द नामा रौद्रध्यान है।

चौर्यानन्दनामा रौद्रध्यान

चौर्योपदेशबाहुल्यं चातुर्यं चौरकर्मणि ।
यच्चौर्यैकपरं चेतस्तच्चौर्यानन्द इष्यते ॥ २४ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ—जिसकी चोरी के उपदेश देने में अधिक प्रवृत्ति होती है जो चोरी के कार्यों में चातुर्य प्रकट करता है तथा जो चोरी करने में तत्पर रहता है, उसके चौर्यानन्द नामा तीसरा रौद्रध्यान होता है। और भी कहा है—

यच्चौर्याय शरीरिणामहरहश्चिन्ता समुत्पद्यते,
कृत्वा चार्यमपि प्रमोदमतुलं कुर्वन्ति यत्संततम् ।
चौर्येणापि हृते परैः परधने यज्जायते संभ्रम-
स्तच्चौर्यप्रभवं वदन्ति निपुणा रौद्रं सुनिन्दास्पदम् ॥ २५ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ—जिन प्राणियों के चित्त में हमेशा चोरी के लिए तत्परतावनी रहे तथा चोरी करके जो हर्ष मानता रहे, जो परधन का हरण करने वाले दूसरे चोर के कार्य में प्रसन्नता प्रकट करे, इत्यादि चोरी सम्बन्धी कामों में आनन्द मानने वाले के चौर्यानन्द नामा रौद्रध्यान होता है।

मैं सेना बनाकर अमुक जगह में बहुकाल से संचित किये हुए धन को, विपुल रत्नराशि को अनेक उपायों से अतिशीघ्र हरण कर लाऊंगा तथा डाका डालकर सम्पूर्ण मनुष्यों को भयभीत कर सम्पूर्ण धन लूट लाऊंगा, ऐसा मुझमे सामर्थ्य है, इस प्रकार विचार करने वाले के चौर्यानन्दनामा तीसरा रौद्रध्यान होता है।

परिग्रहानन्द रौद्रध्यान

बह्वारंभपरिग्रहेषु नियतं रक्षार्थमभ्युद्यते,
यत्संकल्पपरम्परां वितनुते प्राणीह रौद्राशयः ।
यच्चालम्ब्य महत्त्वमुन्नतमना राजेत्यहं मन्यते,
तत्तुर्यं प्रवदन्ति निर्मलधियो रौद्रं भवाशंसिनाम् ॥ २६ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ—इस संसार में यह प्राणी बहुत आरम्भ और परिग्रह की रक्षा के लिये उद्यम करता है और रुद्र परिणाम धारण करके अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प उत्पन्न करता रहता है। तथा अपने चित्त में अपने को महान् समझकर मैं राजा हूं, अर्थात् मैं सब कुछ कर सकता हूं, यह सारी सम्पत्ति मेरी है इस प्रकार के विचार करना और इनसे प्रसन्न होना परिग्रहानन्द रौद्रध्यान है।

इस संसार मे जितनी भी उत्तम वस्तुएँ हैं—रत्न भण्डार, देवांगनाओं को तिरस्कृत करनेवाली रमणियां, सुन्दर उपवन, वाटिका, प्रासाद आदि हैं—वे सब वीर पुरुषो के उपभोग करने योग्य होती हैं; इसलिए मैं उनका स्वामी हूं; क्योकि मेरे समान इस संसार में और कौन वीर है, इस प्रकार विचार करना परिग्रहानन्द नामा रौद्रध्यान है।

मैं अमुक व्यापार करूंगा, उसमें इतना धन आवेगा, उससे अमुक घोड़े, हाथी, मोटर, वायुयान आदि खरीदूंगा, सुन्दर बाग लगवाऊंगा। सुन्दर भवन का निर्माण करवाऊंगा, जिसमें सब प्रकार की विषय सेवन की सामग्री रखूंगा, उनकी रक्षा के लिए अमुक २ उपाय करूंगा, किसकी ऐसी शक्ति है जो मेरी सम्पत्ति की तरफ दृष्टि भी डाल सके, इत्यादि आरम्भ और परिग्रह में रुद्र आशय धारण करने वाले के परिग्रहानन्द नामा रौद्रध्यान होता है।

रौद्रध्यान के बाह्य चिह्न

क्रूरता दण्डपारुष्यं वञ्चकत्वं कठोरता।
निस्त्रिंशत्वं च लिङ्गानि रौद्रस्योक्तानि सूरिभिः ॥ ३७ ॥
विस्फुलिङ्गनिभे नेत्रे भ्रू वक्रा भीषणाकृतिः।
कम्पः स्वेदादिलिङ्गानि रौद्रे बाह्यानि देहिनाम् ॥ ३८ ॥ (ज्ञाना० अ० २६)

अर्थ—क्रूरता, दण्ड देने में कठोरता, वंचकता (ठगना), कठोरता, निर्दयता, इस प्रकार के दूसरों को पीड़ा पहुंचाने वाले विचार तथा उनसे होने वाले कार्य जिसके होते हैं, उसके रौद्रध्यान समझना चाहिए।

जिसके नेत्र अग्नि के समान लाल हों, भौंहे टेढ़ी हों, जिसकी मुख की आकृति डरावनी हो, जिसका शरीर क्रोध से कांप रहा हो, शरीर पर पसीना हो इत्यादि शरीर मे क्रोधादि कषाय के विकृत लक्षण दिखाई दें तो उन्हें रौद्रध्यान के चिह्न समझना चाहिए।

रौद्रध्यान का कारण और फल

रौद्रध्यान कृष्ण लेश्या के बल से उत्पन्न होता है नरक में जाना इसका फल है। और यह पांचवें गुणस्थान तक रहता है। अर्थात् आदि के पांच गुणस्थानवर्त्ती जीवों के पाया जाता है। और इसका काल अन्तर्मुहूर्त्त मात्र है। यह क्षायोपशमिक भाव है।

यद्यपि रौद्रध्यानी का नरक में गमन बताया है, तथापि यह कथन सम्यग्दृष्टि और संयतासंयत की अपेक्षा से नहीं समझना चाहिए। क्योंकि सम्यग्दृष्टि के देवायु का ही बन्ध होता है। और अणुव्रती भी देवआयु के सिवा अन्य आयु का बंध नहीं करता है। इसलिए रौद्रध्यानी का नरकगति मे गमन मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से ही कहा गया है। इसका हम आर्त्तध्यान और हिंसानन्द नामक रौद्रध्यान में विशेष विवेचन कर आये हैं सो वहां से जान लेना चाहिए।

इस प्रकार आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान इन दो अप्रशस्तध्यान का वर्णन हुआ। अब धर्मध्यान का वर्णन करते हैं।

धर्मध्यान का स्वरूप

अथ प्रशममालम्ब्य विधाय स्ववशं मनः।
विरज्य कामभोगेषु धर्मध्यानं निरूपय ॥ १ ॥ (ज्ञाना० अ० २७)

अर्थ—हे आत्मन्! सबसे पहले तू प्रशम (मन्द कषाय से उत्पन्न अपूर्व शान्ति) का आलम्बन कर, मन को अपने वश में कर तथा काम और भोगो से-पांच इन्द्रियों के विषयों के सेवन से-विरक्त होकर धर्मध्यान में प्रवृत्त हो।

आत्मा के हितकर दो ध्यान हैं, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। उनमें से धर्मध्यान में प्रवृत्ति करने वाले आत्मा को सबसे प्रथम कषाय मन्द करना चाहिए। जब तक कषाय की मन्दता नहीं होती, तब तक आत्मा में शान्ति नहीं आसकती। जिस आत्मा के अन्दर कषाय रूप अग्नि की भट्टी दहकती रहती है, वहां शान्ति रूप शीतल जल का निवास नहीं हो सकता। इन दोनों का परस्पर मे विरोध है। जहां पर शान्ति-जल का निवास रहता है, उसी आत्मा मे धर्मवासना रूप कल्पवृक्ष का अंकुर जमता है। इसलिए हे आत्मन्! अनादि काल से इस कषाय रूप भट्टी में से दहकती हुई क्रोधादि ज्वालाओं से अनन्त काल तक तूने घोर संताप ज्वर का अनुभव कर अचिन्त्य दुःख भोगे हैं जिनका वर्णन करना भी अशक्य है। अब उन दुःखो से बचकर शान्ति-सुधा का पान करने की यदि तेरा इच्छा है तो उन कषायों को मन्द करता चला जा। उस शान्ति-सुधा के प्राप्त होने पर धर्मध्यान रूप कल्पवृक्ष तेरी आत्मा मे अंकुरित हो उठेगा और ज्यो २ शान्ति-रस का उसमें सिंचन होता रहेगा त्यों त्यो वह धर्मध्यान-कल्पवृक्ष पनपता रहेगा और वह स्वर्गादि सुख रूप पुष्प देकर मोक्ष रूप फल को फलेगा, जिसका रसास्वादन कर तू सदा के लिए सुखी हो जावेगा।

शान्ति-सुधा रस का पान करने में बाधक, मन मे अशान्ति उत्पन्न करने वाले काम-भोग हैं। स्पर्शनेन्द्रिय व रसनेन्द्रिय के विषय को काम और घ्राणेन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय के विषय को भोग कहा है। इन पांचों इन्द्रियों के विषय से मनमे व्याकुलता उत्पन्न होती है। और जब तक व्याकुलता रहती है, मन मे शांति नहीं आती इसलिए विषय-सेवन से विरक्त होना परमावश्यक है। जिसके अन्तःकरण मे अशुभ कषाय का प्रादुर्भाव न होकर शुभ कषाय तथा मन्द कषाय होजाती है और कामभोगो से उदासीनता होकर जिसका मन अपने वश में हो जाता है, वह महात्मा धर्मध्यान का पात्र बन जाता है।

धर्मध्यान का ध्याता कौन है ?

ज्ञानवैराग्यसंपन्नः संवृतात्मा स्थिराशयः ।
मुमुक्षुरुद्यमी शान्तो ध्याता धीरः प्रशस्यते ॥ २ ॥ (ज्ञाना० अ० २७)

अर्थ—जो आत्मा यथार्थ वस्तु-तत्त्व का ज्ञाता और विषय भोगों से विरक्त है, जिसका मन और इन्द्रियां स्ववश में हैं, जिसका चित्त चञ्चलता से रहित-स्थिर है, जिसे मोक्ष की अभिलाषा है, तथा आलस्य हीन-उद्यम शील है, जिसके हृदय को क्रोधादि कषायें अशान्त नहीं कर रही हैं-परमशान्त है तथा विकार उत्पन्न करने वाले कारण जिसकी आत्मा में क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकते हैं, ऐसा धैर्यवान् मनुष्य ही धर्मध्यान के लिए प्रशंसनीय माना गया है। उपर्युक्त गुणों का धारक उत्तम मनुष्य ही धर्मध्यान का आराधक होता है।

धर्मध्यान की सिद्धि के लिए चार भावनाएँ निरन्तर चित्त में धारण करनी चाहिए। उनका चिन्तन करना परम-हितकारी है। मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य ये चार भावनाएँ हैं।

मैत्री भावना

जीवन्तु जन्तवः सर्वे क्लेशव्यसनवर्जिताः ।
प्राप्नुवन्तु सुखं त्यक्त्वा वैरं पापं पराभवम् ॥ ७ ॥ (ज्ञाना० अ० २७)

अर्थ—संसार के सब जीव क्लेश व आपदाओं से वर्जित रहकर जीवें, तथा आपस के वैर, पाप और अपमान को छोड़ कर सदा सुख पावें, इस प्रकार की भावना को मैत्री भावना कहते हैं।

अखिल विश्व के जितने भी सूक्ष्म, बादर, त्रस और स्थावर जीव हैं, वे सब मेरे बन्धु हैं, उनके साथ मेरा अनेक बार कौटुम्बिक सम्बन्ध रहा है। उनको सुख पहुचाना मेरा परम कर्त्तव्य है। जिस प्रकार किसी आत्मीय बन्धु को कष्ट मे पड़ा हुआ देखकर मनुष्य उसके कष्ट दूर करने की शक्ति न होने पर भी उसको सुखी देखना चाहता है; वैसे ही मैत्री भावना का चिन्तन करने वाला सब जीवों को क्लेशादि से रहित सदा सुखी रहने की भावना करता है। उसके परिणामों की विशुद्धि होती है, और धर्मध्यान में प्रवृत्ति होती है। इस मैत्री भावना से आत्मा में सब जीव से वैरभाव का नाश होता है और अद्भुत शान्ति का प्रादुर्भाव होता है, जिसके बल से आत्मा अपूर्व पुण्य का उपार्जन कर सद्गति का पात्र होता है।

कारुण्य भावना

दैन्यशोकसमुत्त्रासे रोगपीड़ार्दितात्मसु ।
वधबन्धनरुद्धेषु याचमानेषु जीवितम् ॥ ८ ॥
क्षुत्तृट्श्रमाभिभूतेषु शीताद्यैर्व्यथितेषु च ।
अविरुद्धेषु निस्त्रिंशैर्यात्यमानेषु निर्दयम् ॥
मरणार्त्तेषु जीवेषु यत्प्रतीकारवाञ्छया ।
अनुग्रहमतिः सेयं करुणेति प्रकीर्तिता ॥ १० ॥ (ज्ञाना० अ० २७)

अर्थ—जो प्राणी दीनता, शोक, त्रास तथा रोग पीड़ा आदि से पीड़ित हों; जिनका घात होता हो, बन्धन में बंधे हों, कारावास में रुके हुए हों, अथवा हमें कोई न घाओ इस प्रकार जीवन की याचना करते हों, तथा भूख प्यास परिश्रमादि से कष्ट पा रहे हों, शीत उष्णादि की बाधा से पीड़ित हों, दुष्ट लोगों से निर्दयता पूर्वक सताये जाते हुए मरण के दुःख को प्राप्त हो रहे हों उन सब दुःखी जीवों को देखकर, उनकी यह अवस्था सुनकर, उनके दुःख दूर करने के उपाय करने की जो बुद्धि होती है, उसे कारुण्य भावना कहते हैं ।

आत्महितैषी मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य है कि किसी मनुष्य को भूख प्यास आदि दुःख से पीड़ित देखकर उसको अन्न जलादि योग्य वस्तु देकर उसके कष्ट को दूर करे । यदि कोई कुलीन सद्गृहस्थ आर्थिक परिस्थिति ठीक न होने के कारण अपने कुटुम्ब का पालन पोषण करने में अत्यन्त कष्ट का अनुभव कर रहा हो, लज्जावश अन्य से याचना करने की अपेक्षा मृत्यु का आलिंगन करना श्रेष्ठ समझता हो, ऐसे मनुष्यों को गुप्त धनादि सहायता देकर उनके कष्ट को मिटाना धार्मिक महानुभावों का कर्त्तव्य है । उनकी आजीविका का प्रबन्ध करना, उनकी सन्तान के लिए शिक्षा दीक्षादि का प्रबन्ध कर धर्म में प्रवृत्त करवाना पुण्य बन्ध का कारण है । किसी का हृदय इष्ट-वियोग के कारण शोक दावानल से जला रहा हो, उसके शोक को उपदेश द्वारा दूर करने का उपाय करना चाहिए तथा उचित उपायों से उसके चित्त में शान्ति पहुंचाना चाहिए । कोई अपनी दुष्टता से शारीरिक शक्ति और धनादि के मद में उन्मत्त होकर असहाय जीवों को त्रास दे रहे हों, वध करते हों, बन्धन में डाल रहे हों, तो उनसे उद्धार करने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करना दयावान धर्म-प्रिय पुरुषों का परम धर्म है । कई लोग धूर्त वञ्चक पुरुषों के द्वारा पथभ्रष्ट होकर धर्म के निमित्त, बलिदानादि के निमित्त, यज्ञादि के निमित्त मूक-दीन-जीवों का वध करते हैं, उन्हें धर्म का स्वरूप समझाकर हिंसा के पाप से बचाना चाहिए । वे मूक जीव अपनी बोली में ...क और समर्थ पुरुषों से अपने जीवन की भिक्षा मांगते हैं ।

शक्तिशाली मनुष्यों के कर्त्तव्य हैं कि उचित उपायों द्वारा उनकी रक्षा करें। कई लोग अपनी क्रूरता के कारण एकान्त सुनसान भयानक जङ्गल में छिप कर रहने वाले मृगादि पशुओं की शिकार करते हैं। यह उनकी वीरता नहीं किन्तु कायरता है, जो आप शस्त्र-अस्त्र से सुसज्जित हो शस्त्र-अस्त्र हीन गरीब अनाथ पशुओं को छिपकर मारते हैं। उन निरपराधी जीवों को मारकर अपनी वीरता प्रकट करने वाले लोगों को समझाकर या अन्य उचित उपायों का अवलम्बन लेकर उनकी रक्षा करना महान् पुण्य बन्ध का कारण है। यदि कोई रोग से पीड़ित हो तो उसके लिए औषधि का प्रबन्ध करना, उसकी परिचर्या करना, उसके पास में बैठ कर उसे सान्त्वना देना, उसको शिक्षादि देकर उसके दुःख मे समवेदना प्रकट करना, यदि उसे किसी आवश्यक वस्तु की आवश्यकता हो तो उसको सहायता देना परम धर्म का कारण होता है। इसी प्रकार किसी अन्य दुःख से पीड़ित जीवों को दुःख से छुड़ाने का प्रयत्न करना कारुण्य भावना है। अपने निमित्त से किसी जीव को कष्ट न पहुचाना तथा उनको दुःख से उद्धार करने का सामर्थ्य न होने पर उनके दुःख विनाश की भावना करना भी कारुण्य भावना है। इस भावना से जीव तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध करता है। यदि तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं भी हुआ तो भी उसके सातिशय पुण्य का बन्ध होता है, जिससे परम्परा उसका अभ्युदय होते हुए मोक्ष का भागी बनता है। इसलिए कारुण्य भावना आत्मा का हित करने मे माता के समान है ऐसा समझकर इसका सदा अभ्यास करना चाहिए।

प्रमोद भावना

तपः श्रुतयमोद्युक्तचेतसां ज्ञानचक्षुपाम्।
विजिताक्षकपायाणां स्वतत्वाभ्यासशालिनाम् ॥ ११ ॥
जगत्त्रयचमत्कारिचरणाधिष्ठितात्मनाम्।
तद्गुणेषु प्रमोदो यः सद्भिः सा मुदिता मता ॥ १२ ॥ (ज्ञाना० अ० २७)

अर्थ—जिनके ज्ञान-चक्षु प्रकट हुआ है, अर्थात् जो समस्त पदार्थों को चर्म-चक्षु से नहीं देखते, किन्तु ज्ञान से उनकी वास्तविक अवस्था को जानते हैं, जो तपश्चरण, श्रुताभ्यास और यम पालन में उद्यमशील रहते हैं, जिन्होंने इन्द्रियो और कपायों को अपने वश में कर लिया है तथा आत्मा के अभ्यास मे तल्लीन हैं, संसार को चमत्कृत करने वाले तपश्चरण में जिनका आत्मा तन्मय हो रहा है, ऐसे पुरुष पुंगवो के गुणों मे प्रमोद उत्पन्न होना प्रमोद भावना है।

यह निश्चित सिद्धान्त है कि जो मनुष्य जैसी भावना करता है, वह कालान्तर में अभ्यास द्वारा उसी प्रकार का बन जाता है। सब प्राणी अपने आप को उन्नत और गुणवान् बनाना चाहते हैं। इसलिए उन्हें अपने अनुकूल आदर्श की ही खोज करना चाहिए। जो अपने

जीवन को पवित्र बनाना चाहता है एवं जो परोपकारी अपूर्व विद्वान तथा श्रुत का पारगामी बनना चाहता है, उसका कर्त्तव्य होजाता है कि वह विशिष्ट ज्ञानशाली सत्पुरुषो की सङ्गति करे। उनका समागम होने पर अपने को धन्य माने और आनन्द में ऐसा विभोर और उन्मत्त हो जावे, जैसा कि मयूर बादलो को देखकर आनन्द में मग्न होकर नाचने लगता है। ज्ञानवान् और सरल प्रकृति वाले सत्पुरुप की सङ्गति आत्मा को विवेक शील,और मंजुल स्वभाव बनाती है। आगमाभ्यासी तथा सच्चरित्र के आराधक संयमी जनो का समागम आत्मा मे विशुद्धि उत्पन्न कर आगम रहस्य के ज्ञाता और संयम पालन मे क्षम बनाता है। कपाय और इन्द्रिय को अपने काबू मे रखने वाले महात्मा का योग सौभाग्य से मिलता है, उनका सङ्गम होने पर अपना अहोभाग्य समझना चाहिए। उनके संसर्ग से विपय और कपाय से विरक्तता का संस्कार आत्मा में उत्पन्न होता है। तपश्चरण का अनुष्ठान करने वालों की महिमा अनुपम है। आत्मा के साथ अनादि काल से लगा हुआ कर्म-मल का प्रक्षालन तपस्या से ही हो सकता है। इसलिए तपस्वी, विवेकशील-विद्वान-संयमी आदि महापुरुषों का सम्मेलन होने पर आनन्द का अनुभव करना प्रमोद भावना है।

माध्यस्थ्य भावना

क्रोधविद्धे पु सत्वेषु निस्त्रिंशक्रूरकर्मसु।
मधुमांससुरान्यस्त्रीलुब्धेष्वत्यन्तपापिषु ॥ १३ ॥
देवागमयतिव्रातनिन्दकेष्वात्मशंसिषु।
नास्तिकेषु च माध्यस्थ्यं यत्सोपेक्षा प्रकीर्त्तिता ॥ १४ ॥ (ज्ञाना० अ० २७)

अर्थ—जो प्राणी क्रोध स्वभाव वाले हो, निर्दय और क्रूर कर्म करने वाले हों। मधु, मांस, मदिरा और पर स्त्री के लम्पटी हो व्यसनी हों, अत्यन्त पापी हों तथा देव शास्त्र गुरु के निन्दक हों, अपने आत्मा की प्रशंसा करने वाले हों, तथा नास्तिक हो, ऐसे जीवों पर माध्यस्थ्य धारण करना उपेक्षा (माध्यस्थ्य) भावना है।

जिनके विचार हमारे विचारों से मेल न खाते हों, जिनका आचरण हमारे आचरण के प्रतिकूल हो, जो अकारण ही हम से विरोध रखते हों, क्रोध और मान के वशीभूत होकर हमारा अनिष्ट करने के लिए उद्यत हों, धर्म के विरोधी हों, देव और गुरुओं के निन्दा करने वाले हों, जिनका आचरण निन्दनीय हो, निर्दयी और कुत्सित घृणित कार्यों के करने वाले हों, मद्य पीने में आसक्त हों, मांस भक्षी हों, परस्त्री गामी हों, अभक्ष्य-निन्दनीय पदार्थों का भक्षण करने वाले हों, व्यसनी हों, इत्यादि विपरीत व्यवहार वाले मनुष्यों से राग द्वेष न कर मध्यस्थ भाव धारण करना ही उचित है। क्योंकि ऐसे व्यक्तियों से राग द्वेष करने से आत्मा का बहुत अहित होता है। राग और द्वेष के

अभाव का नाम उपेक्षा है। यह उपेक्षा आत्मा में परम शान्ति उत्पन्न करती है। राग द्वेष से उत्पन्न हुई आकुलता की अग्नि उपेक्षा रूप शीतल जल की वृष्टि से शान्त हो जाती है और आत्मा में अनुपम शान्ति, सुख का सञ्चार करती है; अतः इस उपेक्षा (माध्यस्थ्य) भावना का सतत चिन्तन व आचरण करना चाहिए।

अब इन भावनाओं का फल दिखाते हैं:—

एताभिरनिशं योगी क्रीडन्नत्यन्त निर्भरम्।
सुखमात्मोत्थमत्यक्षमिहै वास्कन्दति ध्रुवम् ॥ १६ ॥
भावनास्वासु संलीनः करोत्यध्यात्मनिश्चयम्।
अवगम्य जगद्वृत्तं विषयेषु न मुह्यति ॥ १७ ॥ (ज्ञाना० अ० २७)

अर्थ—इन ऊपर कही गई चार भावनाओं में सतत रमण करने वाला योगी इसी लोक मे आत्मा से उत्पन्न हुए अनुपम सुख का आस्वादन करता है। तथा इन भावनाओ मे तल्लीन रहने वाला संयमी संसार के वृत्तान्त को भलीभांति समझ कर अध्यात्म तत्त्व का निश्चय करता है और विषयों में मुग्ध नहीं होता है।

यह भावनायें मनुष्य को आत्मीय शान्ति देने वाली हैं। इनसे आत्मा के विभाव भावों के नाश होने में सहायता मिलती है रागद्वेप के निमित्त से आत्मा में अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प होते हैं। इन भावनाओं के बलसे उनका शमन होकर आत्मा में निष्कम्पता आती है। योगी की मोह-निन्द्रा शान्त होती है और योग-निद्रा उत्पन्न होती है।

अब ध्यान की सिद्धि के लिए योग्य और अयोग्य स्थानो का निरूपण करने के लिए प्रवृत्ति करते हुए प्रथम ध्यान के अयोग्य स्थानों का स्वरूप दिखाते हैं—

यत्रायमिन्द्रियग्रामो व्या सङ्गस्तेन विप्लवम्।
नाश्नुवीत तमुद्देशं भजेताध्यात्मसिद्धये ॥ (यशस्तिलक आ० ८)

अर्थ—ध्यान की सिद्धि के इच्छुक को उचित है कि जिस स्थान पर इन्द्रिय-समूह और चित्तवृत्ति उच्छृंखलता का अनुभव न करे, ऐसे स्थान को वह आत्मध्यान की सफलता के लिए स्वीकार करे।

ध्यान के अयोग्यस्थान

म्लेच्छाधमजनैर्जुष्टं दुष्टभूपालपालितम् ।
पाखण्डिमण्डलाक्रान्तं महामिथ्यात्ववासितम् ॥ २३ ॥
कौलिकापालिकावासं रुद्रक्षुद्रादिमन्दिरम् ।
उद्भ्रान्तभूतवेतालं चण्डिकाभवनाजिरम् ॥ २४ ॥
पण्यस्त्रीकृतसंकेतं मन्दचारित्रमन्दिरम् ।
क्रूरकर्माभिचाराढ्यं कुशास्त्राभ्यासवञ्चितम् ॥ २५ ॥
क्षेत्रजातिकुलोत्पन्नशक्तिस्वीकारदर्पितम् ।
मिलितानेकदुःशीलकल्पिताचिन्त्यसाहसम् ॥ २६ ॥
द्यूतकारसुरापानविटवन्दिव्रजान्वितम् ।
पापिसत्वसमाक्रान्तं नास्तिकासारसेवितम् ॥ २७ ॥
क्रव्यादकामुकाकीर्णं व्याधविध्वस्तश्वापदम् ।
शिल्पिकारुकविक्षिप्तमग्निजीविजनाश्रितम् ॥ २८ ॥ (ज्ञाना० अ० २७)

अर्थ—जिस स्थान मे म्लेच्छ व पापीजन रहते हो, जो स्थान दुष्ट राजा (जमीदार) के अधिकार में हो, पाखण्डी लोगों से घिरा हुआ हो, जहां महामिथ्यात्व की वासना हो, कुल देवता व योगिनी का स्थान हो, रुद्र या क्षुद्र देवता का मन्दिर हो, जिस स्थान पर उद्धत होकर भूत बेताल नाचते हों, चण्डिका के मन्दिर का आंगन हो, व्यभिचारिणी स्त्रियों का जार पुरुषों से मिलने का जो संकेत किया स्थान हो, शिथिल चारित्र वाले पाखण्डियों का मन्दिर हो, तथा जहां क्रूर एवं हिंसक कर्म होता हो, जहां कुशास्त्रों का अभ्यास होता हो, यह हमारा स्थान है—यहां पर अन्य का प्रवेश सर्वथा वर्जित है ऐसा अभिमान का अभिप्राय जहां पर हो, जहां पर अनेक दुःशील कुत्सित पुरुषों ने मिलकर कोई दुःसाहस का कार्य किया हो, जो स्थान द्यूत क्रीडा करने वाले जुआरी, मद्यपायी, व्यभिचारी और बन्दीजन इत्यादि के समूह से युक्त हो, पापी जीवों से घिरा हुआ हो, तथा नास्तिक मनुष्यों से सेवित हो, मांसभक्षी और कामी लोगों से व्याप्त हो, व्याधों—शिकारियों

ने जहां जीववध किया हो, तथा शिल्पी (सिलावट कारीगर) कारुक आदि (छीपे मोची आदि) के कार्य से जहां चित्त को विक्षेप होता हो, जो स्थान श्रमजीवी मनुष्यों (लोहार, सुनार, ठठेरे आदि) से युक्त हो—ऐसे चित्त मे विकार या खेद उत्पन्न करने वाले स्थानों को ध्यान के अयोग्य समझना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि ध्यान के लिए वे स्थान अयोग्य माने गये हैं जहां पर चित्त में अशान्ति उत्पन्न हो, इन्द्रियां विषयो में प्रवृत्त होने लगें, कषाय का प्रादुर्भाव हो तथा विकार उत्पन्न करने वाले कारण जहां पर उपस्थित हो, हिंसा आदि पाप कार्यों में जहां पर प्रवृत्ति होती हो, मिथ्याज्ञान और दुराचरण की वासना वाले मनुष्यों का प्रचार हो, स्त्री, नपुंसक और पशुओ का गमनागमन जहां होता हो—इत्यादि बुरी वासना और इन्द्रिय तथा मन को विकृत करने के साधन जहां हो, वे स्थान ध्यान के अयोग्य बताये गये हैं।

जिस स्थान पर दशमशकादि क्षुद्र जन्तुओं का आधिक्य हो, जहां असह्य शीत वा उष्ण हो, ऐसे स्थान भी ध्यानाभ्यास के लिए वर्जित बतलाये गये हैं।

जिस स्थान मे तृण, कंटक तथा सर्प की बांबी, चींटी आदि के बिल हो, जहां ऊँचे नीचे पत्थर तथा कीचड़ हो, जहां पर राख तथा उच्छिष्ट (जूठन) पड़ी हो, जो हड्डी, रक्त, मलमूत्रादि से दूषित हो ऐसे स्थान भी ध्यान करने वाले को त्याग देना चाहिए।

जहां कौवे, उल्लू, मार्जार, (बिल्ली) गीदड़, गधे आदि का शब्द होता हो, ऐसा स्थान ध्यानाभिलाषी के ध्यान में विघ्न करने वाला होता है। ऐसे ही अन्य भी स्थान जो ध्यान मे विघ्न करने वाले हो, उन्हें भी त्याग देना चाहिए।

इस प्रकार ध्यान के अयोग्य स्थान का निरूपण करने के बाद अब ध्यान के योग्य स्थान का वर्णन करते हैं—

ध्यान के योग्यस्थान—

सिद्धक्षेत्रे महातीर्थे पुराणपुरुषाश्रिते।
कल्याणकलिते पुण्ये ध्यानसिद्धिः प्रजायते ॥ १ ॥ (ज्ञाना० अ० २८)

अर्थ—जिस स्थान से तीर्थंकरादि महापुरुष सिद्ध हुए हैं, वह सिद्ध क्षेत्र, तथा पुराण पुरुष अर्थात् तीर्थंकरादि पुण्यवान् पुरुषों ने जहां आश्रय लिया हो, वह महातीर्थ, जो तीर्थंकर महाप्रभुओं की पवित्र पञ्चकल्याणक भूमि हो, ऐसे स्थान ध्यानसिद्धि के कारण माने गये हैं।

ध्यान की सिद्धि के लिए परिणामों की पवित्रता कारण है। परिणामों की पवित्रता के लिए अन्यान्य कारणों के साथ क्षेत्र की शुद्धि भी आवश्यक है। अयोग्य क्षेत्र भावों को बिगाड़ देता है। यही कारण है कि ध्यान के लिए योग्यायोग्य स्थान का बहुत विचार किया जाता है। योग्य स्थान पर चित्त में निर्मलता और स्थिरता आजाती है, अतः वहां पर ध्यान की सिद्धि सहज में हो जाती है। ध्यान के अभ्यास तथा उसकी पूर्णता के लिए सिद्धक्षेत्र सर्वोत्तम स्थान माना गया है। जहां पर देवाधिदेव तीर्थंकरदेव ने तथा अन्य महापुण्यवान पुरुष-पुंगवों ने निवास किया है, उस महातीर्थ भूमि की पवित्र रज चित्त को निर्मल बनाने में अद्वितीय कारण है। वहां चित्त की प्रसन्नता व स्वच्छता होना स्वाभाविक है। जिन स्थानों पर तीर्थंकर महाप्रभु के कल्याणक हुए हैं, वह कल्याण-भूमि ध्यान की सिद्धि में सहायक हो तो उसमें क्या आश्चर्य की बात है? पांचों कल्याणकों की पावन भूमि आत्मा में शुद्धि का संचार करती है इसी लिए यह तीर्थ कहलाते हैं। ध्यान के योग्य और भी स्थान हैं जैसे—

सागरान्ते वनान्ते वा शैलशृङ्गान्तरेऽथवा।
पुलिने पद्मखण्डान्ते प्राकारे शालसङ्कटे ॥ २ ॥
सरितां सङ्गमे द्वीपे प्रशस्ते तरुकोटरे।
जीर्णोद्याने स्मशाने वा गुहागर्भे विजन्तुके ॥ ३ ॥
सिद्ध कूटे जिनागारे कृत्रिमेऽकृत्रिमेऽपि वा।
महर्धिकमहाधीरयोगी संसिद्धिवांछिते ॥ ४ ॥
मनः प्रीतिप्रदे शस्ते शङ्काकोलाहलच्युते।
सर्वर्त्तु सुखदे रम्ये सर्वोपद्रववर्जिते ॥ ५ ॥
शून्यवेश्मन्यथग्रामे भूगर्भे कदलीगृहे।
पुरोपवनवेद्यन्ते मन्डपे चैत्यपादपे ॥ ६ ॥
वर्षातपतुषारादिपवनासारवर्जिते।
स्थाने जागर्त्यविश्रान्तं यमी जन्मार्त्तिशान्तये ॥ ७ ॥ (ज्ञाना. अ: २८)

अर्थ—संयमी ध्यान द्वारा जन्म मरण रूप संसार की पीड़ा को शान्त करने के लिए निम्नलिखित स्थानों में निरन्तर सावधान

चित्तवाला होकर रहता है, अर्थात्-निम्नाङ्कित स्थान ध्यान की सिद्धि में प्रशस्त माने गये हैं।

समुद्र का तट, वन की मध्य भूमि, पर्वत का शिखर, नदी का तट, कमल वन का मध्य भाग, कोट का ऊर्ध्व भाग, वृक्षों के समूह से व्याप्त भूमि, नदियों का सङ्गम स्थान, द्वीप (टापू), प्रशस्त (शरीर बाधा रहित सुन्दर) वृक्ष की कोटर, पुराना बगीचा, स्मशान का एकान्त भाग, जन्तु रहित पर्वत की गुफा, सिद्ध कूट, कृत्रिम अथवा अकृत्रिम जिन चैत्यालय (मन्दिर), जहां महाऋद्धि के धारक महाधीर, वीर योगीश्वर सिद्धि की वांछा करते हैं-ऐसे स्थान, मन को प्रसन्न करने वाले स्थान, शङ्का और कोलाहल से वर्जित स्थान, छहों ऋतु में सुख देने वाला स्थान, रमणीय तथा सब उपद्रवों से रहित स्थान, शून्य गृह तथा शून्य ग्राम, भूमि के भीतर का गृह (तलघर) केलों के वृक्षों का मध्य वर्तीस्थान तथा नगर के उपवन की वेदी (पाली) का मध्य का भाग, वर्षा, आतप (घाम), हिम, शीतादि तथा प्रचंड पवनादि से वर्जित-ऐसे स्थान ध्यान की सिद्धि के लिए उपयुक्त माने गये हैं।

सारांश यह है कि जिस स्थान पर चित्त में उत्साह और शान्ति प्रकट हो; चित्त में निर्मलता और स्थिरता की वृद्धि हो, इन्द्रियाँ अपने वश में रहें, शरीर को बाधा पहुंचाने वाले शीत उष्ण वर्षा तथा प्रचण्ड आंधी की बाधा से वर्जित हो, ऊँचा नीचा स्थल न हो, किन्तु समतल भूभाग हो, वाह्य जङ्गल का प्रदेश, समुद्र का तट, नदी का किनारा हो, इत्यादि एकान्त क्षोभ रहित, इन्द्रिय और मन की एकाग्रता का साधक स्थान ध्यान के लिए प्रशस्त माना गया है।

जहां रागादि दोषों का निरन्तर ह्रास हो, कषाय का प्रादुर्भाव न हो, इन्द्रिय-विषयों का संसर्ग न हो, वह स्थान ध्यान के लिए उचित माना गया है।

ध्यान के उपयोगी आसन

दारुपट्टे शिलापट्टे भूमौ वा सिकतास्थले।
समाधिसिद्धये धीरो विदध्यात्सुस्थिरासनम् ॥ ९ ॥
पर्यङ्कमर्धपर्यङ्कं वज्रं वीरासनं तथा।
सुखारविन्दपूर्वे च कायोत्सर्गश्च सम्मतः ॥ १० ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—समाधि (ध्यान) की सिद्धि के लिए धीर पुरुष काठ के तख्ते पर, शिला पर, समतल भूमि पर, बालू रेत के स्थान में सम्यक् प्रकार स्थिर आसन लगावे। पर्यंकआसन, अर्धपर्यंकआसन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, पद्मासन और कायोत्सर्ग (खड्गासन)

ये आसन ध्यान के योग्य माने गये हैं।

तात्पर्य यह है कि जिस आसन से सुख पूर्वक बैठे हुए मुनि अपने मन को निश्चल रख सकें और शरीर को कष्ट न हो, ऐसा ही आसन ध्यान करते समय स्वीकार करना चाहिए। यही कहा है :—

कायोत्सर्गश्च पर्यङ्कः प्रशस्तं कैश्चिदीरितम्।
देहिनां वीर्यवैकल्यात्कालदोषेण सम्प्रति ॥ १२ ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—कई आचार्यों ने इस समय काल दोष से प्राणियों के वीर्य की विकलता होने से अर्थात् स्वाभाविक शारीरिक शक्ति की हीनता होने के कारण कायोत्सर्ग (खड्गासन) और पर्यंकासन (पालथी) ये दोनों आसन ध्यान के लिए प्रशस्त माने हैं।

प्राचीन काल में योगीश्वर वज्रकाय अर्थात् उत्तम संहनन वाले थे। वे महापराक्रमी, सब अवस्थाओं में अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थिति मे निश्चल रहते थे। उन्होंने सब प्रकार के कठिन आसनों द्वारा ध्यान लगाकर शाश्वत सुख को पाया था। उनके चित्त को सुर, असुर, शत्रु तथा क्रूर सिंहादि तिर्यंचों के भयानक उपसर्ग भी चञ्चल करने मे कभी समर्थ नहीं हुए। सोही कहा है।

कैश्चिज्ज्वालावलीढा हरिशरभगजव्यालविध्वस्तदेहाः।
केचित्क्रूरारिदैत्यैरदयमतिहताश्चक्रशूलासिदण्डैः ॥
भूकम्पोत्पातवातप्रबलपविघनवातरुद्धास्तथाऽन्ये।
कृत्वा स्थैर्यं समाधौ सपदि शिवपदं निःप्रपञ्चं प्रपन्नाः ॥ १६ ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—पुरातन कालवर्ती कई महामुनि अग्नि की ज्वालाओं से दग्ध होकर ध्यान में दृढ़ रहने के कारण तत्काल मोक्ष को प्राप्त हुए। कई मुनीश्वर सिंह, अष्टापद, हस्ती, सर्पादि से विध्वस्तशरीर शीघ्र मोक्षपथ के अनुयायी बने। कितने ही योगीश्वर क्रूरशत्रु दैत्यादि से निर्दयतापूर्वक चक्र,त्रिशूल,तलवार,दण्डादि शस्त्रों द्वारा प्रतिहत हुए समाधि में स्थिर रहकर तुरन्त शिव स्थान के पथिक बने। कई ऋषीश्वरों ने भूकम्पन, प्रबल पवन, वज्रपात मेघसमूहादि के उपसर्ग को शान्ति से सहकर सिद्धिपथ का अनुसरण किया। अन्य अनेक परमर्षियों ने नाना प्रकार के उपसर्गों को सहकर समाधि मे स्थिरता धारण कर अति शीघ्र शाश्वत शिवपद की उपलब्धि की। इस प्रकार के महामुनीश्वरों (उत्तम संहनन वालों) के लिए आसन का नियम नहीं है। पूर्वकाल के यतीश्वरों के बल वीर्य की तुलना वर्त्तमान काल के साधु कदापि नहीं

कर सकते; इसलिए पुरातन मुनियों की स्थिरता की समानता का दंभ करना उचित नहीं है। उन्हें तो अपनी शक्ति के अनुसार ही ध्यान के उपायों का अवलम्बन लेना चाहिए। क्योंकि—

स्थानासनविधानानि ध्यानसिद्धे र्निबन्धनम्।
नैकं मुक्त्वा मुनेः साक्षाद्विक्षेपरहितं मनः ॥ २० ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—स्थान और आसन ये दो ध्यान सिद्धि के उपाय हैं। इनमें से एक भी छोड़ दिया जावे तो मुनि का मन विक्षेप रहित नहीं होता है।

सारांश यह है कि काल दोष से इस समय संहनन (शक्ति) की कमी के कारण प्रतिकूल कारण का सम्पर्क होने से चित्त में शीघ्र क्षोभ उत्पन्न हो जाता है; इसलिए चित्त की स्थिरता के लिए अनुकूल बाधा रहित स्थान तथा प्रमाद निवारणार्थ सुखदेनेवाला आसन ग्रहण करना चाहिए। तभी तो ध्यान की सिद्धि हो सकती अन्यथा नहीं।

ध्यान करने का पात्र

संविग्नः संवृतो धीरः स्थिरात्मा निर्मलाशयः।
सर्वावस्थासु सर्वत्र सर्वदा ध्यातुमर्हति ॥ २१ ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—जो मुनि संसार के दुःखों से भयभीत हैं तथा संसार को बढाने वाली क्रियाओं से निवृत्त होने से संवर को प्राप्त हुए हैं, विकार के कारणों का संयोग मिलने पर जिनके चित्त में विकार नहीं होता है; अतः जो धीर हैं, जिनकी आत्मा में स्थिरता है, जिनका निर्मल आशय है, अर्थात् जिनके भाव उज्जवल हैं, ऐसे मुमुक्षु सब अवस्थाओं, सब स्थानों में और सर्वदा ध्यान करने के योग्य हैं।

सारांश यह है कि पहले जो ध्यान के योग्य स्थान और आसन का निरूपण किया है, उनके सिवा अन्य आसन तथा अन्य स्थानों में भी यदि मुनि का चित्त स्थिरता का अनुभव करने लगे तो फिर स्थानों और आसनों के नियम को मानने की आवश्यकता नहीं है।

ध्यान के समय दिशा का विधान

पूर्वाशाभिमुखः साक्षादुत्तराभिमुखोऽपि वा ।
प्रसन्नवदनो ध्याता ध्यानकाले प्रशस्यते ॥ २३ ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—ध्यान के समय में ध्यान करनेवाला मुनि प्रसन्न मुख होकर साक्षात् पूर्व दिशा अथवा उत्तर दिशा में मुख करके ध्यान करें, यह प्रशंसनीय कहा है। किन्तु फिर भी

चरणज्ञानसम्पन्ना जिताक्षा वीतमत्सराः ।
प्रागनेकास्ववस्थासु सम्प्राप्ता यमिनः शिवम् ॥ २४ ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—पूर्व समय में चारित्र और ज्ञान से सम्पन्न, जितेन्द्रिय तथा मात्सर्य भाव रहित मुनीश्वर अनेक अवस्थाओं से मोक्ष को प्राप्त हुए ऐसे मुमुक्षुओं के लिए पूर्व तथा उत्तर दिशा के सन्मुखता का कुछ भी नियम नहीं है।

धर्म्यध्यान के अधिकारी

मुख्योपचारभेदेन द्वौ मुनी स्वामिनौ मतौ ।
अप्रमत्तप्रमत्ताख्यौ धर्मस्येतौ यथायथम् ॥ २५ ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—धर्म्यध्यान के अधिकारी मुख्य और उपचार के भेद से छठे और सातवें गुणस्थान के मुनीश्वर माने गये हैं। मुख्याधिकारी तो सातवें अप्रमत्तगुणस्थान वर्ती मुनीश्वर होते हैं और उपचार से छठे प्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनीश्वर होते हैं।

जिनमें सब प्रकार के कष्टों की सहिष्णुता है जो कठोर परीषहों को सहन करने का सामर्थ्य रखते हों, देवदानवादि के भयङ्कर उपसर्ग जिनकी आत्मा में विकार उत्पन्न नहीं कर सकते हों, जो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर सकते हों, कर्मागमन के द्वारों को बन्द करने में तत्पर हों, पूर्व ज्ञान के धारक हों, वह यतीश्वर इस धर्म्यध्यान के धारक होते हैं; क्योंकि ऐसे मुनिराज ही सातिशयअप्रमत्त होकर श्रेणी चढ़ना प्रारम्भ करते हैं।

जो विकल श्रुत अर्थात् पूर्वज्ञान रहित हैं, भावश्रुत के धारक है, जो श्रेणी के नीचे ही प्रवृत्ति करते रहते हैं। ऐसे प्रमत्तसंयमी मुनि भी सूत्र मे धर्म ध्यान के ध्याता मान गये हैं। किन्तु इन्हें उपचार से धर्म्यध्यान के अधिकारी कहा गया है।

धर्म्यध्यान के ध्याता के चार भेद

किं च कैश्चिच्च धर्मस्य चत्वारः स्वामिनः स्मृताः।
सद्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्ता यथायोग्येन हेतुना ॥ २८ ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—कई आचार्यों ने धर्म्यध्यान के स्वामी चार भी माने हैं सम्यग्दृष्टि, अणुव्रती श्रावक, प्रमत्त मुनि और अप्रमत्त मुनि।

इसका तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन के बिना धर्म्यध्यान नहीं हो सकता यद्यपि सम्यग्दृष्टि के अन्य ध्यान भी होते हैं। कहीं कहीं तीसरे गुणस्थान मे धर्म्य ध्यान का होना बतलाया गया है।

ध्यातारस्त्रिविधा ज्ञेयास्तेषां ध्यानान्यपित्रिधा।
लेश्याविशुद्धियोगेन फलसिद्धिरुदाहृता ॥ २९ ॥ (ज्ञाना. अ. २८)

अर्थ—धर्म्यध्यान के ध्याता के दूसरे प्रकार से तीन भेद भी होते हैं अर्थात् जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट। इस ध्यान के भी इसी तरह तीन भेद होजावेंगे। लेश्याविशुद्धि के योग से फलसिद्धि मानी गई है।

जघन्य धर्म्यध्याता चौथे गुणस्थानवर्त्ती और पञ्चमगुणस्थानवर्त्ती संयतासंयत (अणुव्रती श्रावक) है। मध्यम धर्म्यध्यान का ध्याता छठे गुणस्थानवर्त्ती मुनि है तथा उत्तम धर्म्यध्यान का ध्याता अप्रमत्त गुणस्थानवर्त्ती मुनि है। इस प्रकार धर्म्य ध्याता के समान धर्म्यध्यान के भी तीन भेद होते हैं। जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट। धर्म्यध्यान के फल की प्राप्ति लेश्या की विशुद्धि के अनुसार होती है। ज्यों ज्यों लेश्या की विशुद्धि होती जाती है त्यों त्यो धर्म्यध्यान में उत्कृष्टता आती जाती है।

धर्म्यध्यान के ध्याता की मुद्रा

पर्यंकदेशमध्यस्थे प्रोत्ताने करकुड्मले।
करोत्युत्फुल्लराजीव सन्निमे च्युतचापले ॥ ३४ ॥

नासाग्रदेशविन्यस्ते धत्ते नेत्रेऽतिनिश्चले।
प्रसन्ने सौम्यतापन्ने निष्पन्दे मन्दतारके ॥ ३५ ॥ ज्ञाना. अ. २८

अर्थ—ध्यान करने वाला पर्यंकदेश के मध्य भाग में दोनों हाथों की हथेली ऊपर नीचे रखे और उसके नेत्र चपलता रहित खिले हुए कमल पुष्प के समान खुले रहें। उन स्थिर नेत्रो को नासा के अग्रभाग में लगावे। वे नेत्र सौम्य गुण से पूरित तथा प्रसन्न हों और मन्द तारावाले उन नेत्रों में निष्पन्दता हो।

तात्पर्य यह है कि ध्यान के लिए सबसे सुगम पर्यंकासन है। अतः पर्यंकासन (लगाकर) अर्थात् पालथी मांडकर अपने दोनों हाथों को उलटे (हथेली पर हथेली) रखे। बायें हाथ की हथेली को नीचे और दाहिने हाथ की हथेली को उसके ऊपर स्थापित करे। शरीर को सधा हुआ रखे। अपने सौम्य और प्रसन्न दोनों नेत्रों को नासिका के अग्रभाग में प्रवृत्त करे। नेत्र की तारायें निश्चल हों। दोनों भौंहें विकार रहित हों—टेढी न होकर सीधी हों। दोनों ओष्ठ मिले हुए हों और मुख कमल उस सरोवर के समान विकार-चञ्चलता रहित हो, जिस (सरोवर) में सब मत्स्य मछलियाँ सो रही हों। हृदय में करुणा स्रोत बह रहा हो, मन में संवेग और वैराग्य भाव उछलता हो, तथा शरीर की आकृति चित्राम की मूर्त्तिवत् निश्चल हो। जिसका अन्तःकरण विवेक रूप समुद्र की लहरों से निर्मल हो रहा हो। जिसके हृदय से रागादि पिशाच विज्ञान-मन्त्र से निकाल दिये गये हों। जो सागर के समान गम्भीर, मेरु के सदृश अचल हो। जिसके मन के सब विकार और शरीर सम्बन्धी सब क्रिया नष्ट हो गई हों। ऐसा निष्कम्प हो कि समीपवर्ती चतुर मनुष्य को भी ऐसा भ्रम होने लगे कि यह पाषाण की प्रतिमा है अथवा चित्राम की मूर्त्ति है। इस प्रकार ध्यान करने वाले की मुद्रा समझना चाहिए।

ध्यान की सिद्धि के बाह्य कारणों में प्राणायाम भी अत्यन्त उपकारक माना गया है; इसलिए इसका भी यहां संक्षेप से वर्णन करते हैं।

प्राणायाम की उपयोगिता

प्राणवायु की साधना करने को प्राणायाम कहते हैं। जैनेतरमतों में प्राणायाम के साधन का विस्तृत वर्णन मिलता है। परन्तु उनके प्रयोजन तथा स्वरूप में भेद है। उन्होंने समाधि के आठ अङ्गों में प्राणायाम को भी एक अङ्ग माना है किन्तु उनका उद्देश्य प्राणायाम द्वारा लौकिक सिद्धियां प्राप्त करना भी है। किन्तु जैन शास्त्रों ने लौकिक सिद्धियों को हेय माना है। यहां तो प्राणायाम का केवल इतना ही उपयोग है कि इसके द्वारा मन निश्चल हो जाय जिससे कि वह आत्म-सिद्धि में समर्थ होसके। आत्मा का अंतिम ध्येय परम पुरुषार्थ (मोक्ष) है। उसके पाने में यदि प्राणायाम का उपयोग होसके तो अवश्य करना चाहिये; नहीं तो उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। तात्पर्य यह है कि

न की सिद्धि और मन की स्थिरता के लिए ही प्राणायाम उपयोगी है सो ही कहा है :—

सुनिर्णीतसुसिद्धान्तैः प्राणायामः प्रशस्यते ।
मुनिभिर्ध्यानसिद्ध्यर्थं स्थैर्यार्थं चान्तरात्मनः ॥ १ ॥ (ज्ञाना. अ. २९)

अर्थ—ध्यान की सिद्धि के लिए तथा चित्तवृत्ति की स्थिरता के लिए सुनिर्णीत उत्तम सिद्धान्तों से मुनीश्वरों ने प्राणायाम को प्रशंसनीय बताया है ।

प्राणायाम के भेद

त्रिधा लक्षणभेदेन संस्मृतः पूर्वसूरिभिः ।
पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम् ॥ ३ ॥ ज्ञाना. अ. २९

अर्थ—पूर्वाचार्यों ने पूरक, कुंभक और रेचक के भेद से प्राणायाम के तीन भेद माने हैं ।

पूरक का स्वरूप

द्वादशान्तात्समाकृष्य यः समीरः प्रपूर्यते ।
स पूरक इति ज्ञेयो वायुविज्ञानकोविदैः ॥ ४ ॥ ज्ञाना. अ. २९

—तालु के छिद्र से अथवा बारह अंगुल पर्यंत से वायु को खींचकर यथाशक्ति अपने शरीर में पूरण करने को (भरने को) पूरक कहते हैं । ऐसा वायुविज्ञान वेत्ताओं का मत है ।

कुम्भक का स्वरूप

निरुणद्धि स्थिरीकृत्य श्वसनं नाभिपंकजे ।
कुम्भवन्निर्भरः सोऽयं कुम्भकः प्रकीर्त्तितः ॥ ५ ॥ ज्ञाना. अ. २९

अर्थ—उस पूरक वायु को नाभि कमल में स्थिर करके भरे हुए घड़े की तरह रोके रहने को कुम्भक कहते हैं। अर्थात् जो वायु खेंचकर भरी गई है, उसे नाभि कमल मे थांभे रहना—दूसरी जगह जाने न देना कुम्भक कहलाता है।

रेचक का स्वरूप

निःसार्यतेऽतियत्नेन यत्कोष्ठाच्छ्वसनं शनैः।
स रेचक इति प्राज्ञैः प्रणीतः पवनागमे ॥ ६ ॥ ज्ञाना. अ. २६

अर्थ—जो कोष्ठ मे भरी हुई वायु है, जिसको नाभि कमल में रोक रखा है, उसको धीरे धीरे नाक से निकालना रेचक है ऐसा प्राणायाम शास्त्र के ज्ञाता विद्वान् कहते हैं।

प्राणायाम करने वाले को बडा सावधान रहना आवश्यक है। अज्ञानतावश इससे बड़ी २ हानियाँ होती देखी गई हैं। प्राणायाम करते समय मुख द्वारा श्वासोच्छ्वास लेना बन्द रखना चाहिए। वायु को एक तरफ के नथुने (नाक के छिद्र) से तालुवे के छेद तक अथवा बारह अंगुल दूर तक की वायु को शनैः शनैः खींचना चाहिए। इस वायु को तब तक खींचते रहना चाहिए जब तक अपनी शक्ति कार्य कर सके। इसके अनन्तर दोनो नाक के छिद्रों को बन्द कर देना चाहिए। उस खींची हुई वायु को नाभि कमल में स्थिर करके थांभे रहना चाहिए। अपनी शक्ति के अनुसार ही थांभना उचित है। शक्ति से अधिक देर तक थांभे रहने से हानि की सम्भावना रहती है।

इसलिए रोकने की शक्ति का ध्यान रखकर उतने समय तक ही कुम्भक करना चाहिए। पश्चात् एक तरफ के नाक के छेद को बन्द कर अर्थात जिस ओर के नाक के छेद से वायु खींची है उधर के नाक के छेद को बन्द कर दूसरी ओर के नाक के छेद से वायु धीरे धीरे निकालना चाहिए। इस प्राणायाम का अभ्यास करने वाले को ब्रह्मचर्य पालन करने के साथ साथ खान पान आदि में संयम रखना चाहिए। बहुत लघु-पाचन-पदार्थ का भोजन करना ही प्राणायाम मे योग्य है। प्राणायाम के ज्ञाता के समक्ष ही प्राणायाम का अभ्यास करना ठीक माना गया है। इस प्राणायाम से शरीर के आरोग्य के साथ बुद्धि की निर्मलता और मन की एकाग्रता होती है, तथा आत्मा की शक्ति का विकास होता है।

परमेश्वर वायु

नाभिस्कन्धाद्विनिष्क्रान्तं हृत्पद्मोदरमध्यगम्।
द्वादशान्ते सुविश्रान्तं तज्ज्ञेयं परमेश्वरम् ॥ ७ ॥ ज्ञाना. अ. २६

अर्थ—नाभि स्कन्ध से निकला हुआ हृदय कमल के मध्य भाग से होकर ब्रह्मशान्त (तालुरन्ध्र) में विश्रान्त (ठहरा) हुआ जो पवन है, उसे परमेश्वर जानना चाहिए; क्योंकि वह वायु सब वायु का स्वामी है।

नभि से निकल कर हृदय कमल में होता हुआ जो वायु तालु रन्ध्र मे जाकर ठहरता है, उस वायु की परमेश्वर संज्ञा बताई है। उसकी चाल, गति, तथा देह मे स्थिति को जानकर आत्मा का काल, आयु तथा शुभ अशुभ फल के उदय का ज्ञान होता है। इस वायु का यत्न पूर्वक प्रमाद रहित होकर निरन्तर अभ्यास करने से योगी जीव की सब चेष्टाओं को जानता है।

प्राचीन आचार्यों ने भी तालुरन्ध्र से प्राणवायु को खींचकर उसका धारण करना पूरक तथा उस पूरक की हुई वायु को नाभि के मध्य रोक रखना कुम्भक और उस रुकी हुई वायु को धीरे धीरे बाहर निकालना रेचक है, इस प्रकार माना है।

उक्त प्रकार प्राणवायु का अभ्यास करने वाला योगी सावधान होकर प्राणवायु के साथ मन को धीरे धीरे हृदय कमल की कर्णिका में प्रविष्ट करके नियन्त्रण करे। इस प्रकार सतत अभ्यास करते रहने पर चित्त स्थिर होता है। चित्त के स्थिर होने पर अन्तः करण से विषय वासना नष्ट हो जाती है। मन मे विकल्पो का प्रादुर्भाव नहीं होता है। तथा आत्मा मे विशेष ज्ञान का प्रकाश होता है।

इस प्रकार भावना करते रहने पर अन्तः करण से अज्ञानान्धकार क्षण भर मे विलीन होता है। इन्द्रियाँ मद हीन हो जाती हैं और कषाय शत्रु का क्षय होने लगता है।

इस पवन साधन के अभ्यास से ऐसा ज्ञान होता है कि इस श्वास रूप वायु का विश्राम तो कहां है; नाड़ियाँ कितनी और कौन कौन हैं, उन नाड़ियो की पलटना कैसे होती है, इसकी मण्डलगति कौनसी है, तथा इसकी प्रवृत्ति क्या है? इसके अभ्यास की प्रबलता से सम्पूर्ण जगत् का वृत्तान्त प्रत्यक्षसा प्रतीत होने लगता है।

जो योगी प्राणायाम का साधन करते हैं, उन्हे पृथ्वीमण्डल, जलमण्डल, तेजोमण्डल और वायुमण्डल का निश्चय करना चाहिए, क्योंकि इनका निश्चय होते पर ध्यान को समीचीन सिद्धि होती है।

मंडल चतुष्टय का स्वरूप

घोणाविवरमध्यास्य स्थितं पुरचतुष्टयम्।
पृथक् पवनसंवीतं लक्ष्यलक्षणभेदतः॥ १६॥ ज्ञाना. अ. २६

अर्थ—नासिका के छिद्र को आश्रित करके उक्त चार मण्डल (पृथिवी मण्डल,जल मण्डल,तेजो मण्डल व वायु मण्डल) स्थित हैं। वे लक्ष्य और लक्षण के भेद से भिन्न २ हैं। अर्थात् इनका लक्षण पृथक् पृथक् है।

आशय यह है कि उक्त चार मण्डल अचिन्त्य हैं। अर्थात् इनका चिन्तन करना दुष्कर है। तथा इनका प्रत्यक्ष होना अति कठिन है। किन्तु महान् अभ्यास के बल से इनका बड़े कष्ट से स्वसंवेदन होता है। अर्थात् सतत अभ्यास करने से इनका स्वानुभव होने लगता है। इनका क्रम भी इसी प्रकार है। सबसे प्रथम पृथ्वीमण्डल को, तदन्तर जलमण्डल को जानना चाहिए। इसके पश्चात् वायुमण्डल और सबके अन्त में वृद्धिगत अग्निमण्डल को जानने का क्रम है।

पृथ्वी मण्डल का स्वरूप

क्षितिबीजसमाक्रान्तं द्रुतहेमसमप्रभम् ।
स्याद्वज्रलांछनोपेतं चतुरस्रं धरापुरम् ॥ १९ ॥ ज्ञाना. अ. २९

अर्थ—जो पृथ्वी-बीजाक्षर से संयुक्त है, पिघले हुए सोने के समान पीत कान्ति वाली है, तथा वज्रचिह्न से उपलक्षित और चौकोर है वह पृथ्वी मण्डल है।

जल मण्डल का स्वरूप

अर्धचन्द्रसमाकारं वारुणाक्षरलक्षितम् ।
स्फुरत्सुधाम्बुसंसिक्तं चन्द्राभं वारुणं पुरम् ॥ २० ॥ ज्ञाना. अ. २९

अर्थ—जिस का आकार अर्धचन्द्र के समान है, जो जल बीजाक्षर से संयुक्त है, स्फुरायमान अमृतजल से सींचा हुआ है, तथा चन्द्र समान कान्ति का धारक है, वह जल मण्डल होता है।

वायु मंडल का स्वरूप

सुवृत्तं बिन्दुसंकीर्णं नीलाञ्जनघनप्रभम् ।
चञ्चलं पवनोपेतं दुर्लक्ष्यं वायुमंडलम् ॥ २१ ॥ ज्ञाना. अ. २९

अर्थ—जो गोलाकार है, बिन्दुओं से व्याप्त है, नीलाञ्जन घन के समान नील वर्ण है, चञ्चल है और वायु बीजाक्षर सहित है तथा दुर्लक्ष्य है, जिसका दर्शन अति दुष्कर है वह वायुमण्डल होता है।

अग्निमंडल का स्वरूप

स्फुलिंगपिंगलं भीममूर्ध्वज्वालाशतार्चितम् ।
त्रिकोणं स्वस्तिकोपेतं तद्बीजं वह्निमंडलम् ॥ २२ ॥ ज्ञाना. अ. २६

अर्थ—जिसका अग्नि के स्फुलिंग (अग्नि के उछलते हुए कण) के समान चमकीला पीतवर्ण है, जो भीमरूप–रौद्ररूप है, ऊँची उड़ती हुई अग्नि की सैंकड़ों ज्वालाओं से जो युक्त है, जो त्रिकोण आकार वाला तथा स्वस्ति (साथिया) सहित और अग्नि बीजाक्षर से मण्डित है वह अग्नि मण्डल होता है।

पृथ्वी मंडल पवन को पहचानने के चिह्न

घोणाविवरमापूर्य किञ्चिदुष्णं पुरन्दरः
वहत्यष्टाङ्गुलः स्वस्थः पीतवर्णः शनैः शनैः ॥ २४ ॥ ज्ञान. अ. २६

अर्थ—नासिका के छेद को भले प्रकार वायु से भरकर कुछ उष्णता लिए आठ अंगुल बाहर निकलता हुआ, स्वस्थ अर्थात् चांचल्य रहित, मन्द मन्द बहता हुआ जो पवन हो उसे पृथ्वी मण्डल वायु कहते हैं। इसका स्वामी इन्द्र है।

सारांश यह है कि प्रथम नासिका के छेद से वायु को भरले, तदन्तर उसको शनैः छोड़े। यदि वह निकलती हुई वायु कुछ गर्म हो, आठ अंगुल बाहर निकलती हुई प्रतीत हो, जिसमे चपलता न हो और जो मन्द गति से बहती हो, वह पृथ्वी मण्डल वायु है ऐसा समझना चाहिए।

जल मंडल वायु के चिह्न

त्वरितः शीतलोऽधस्तात्सितरुग् द्वादशाङ्गुलः ।
वरुणः पवनस्तज्ज्ञैर्वहनेनावसीयते ॥ २५ ॥ ज्ञाना. अ. २६

अर्थ—जो शीघ्र गति वाला हो, शीतल हो, कुछ नीचे की ओर बहता हो, जिसकी कान्ति श्वेत हो, बारह अंगुल तक बहता हो इस प्रकार बहने वाले पवन को पवन-शास्त्र के ज्ञाता विद्वानों ने जलमण्डल वायु कहा है। तात्पर्य यह है कि नासिका के रन्ध्र से निकलते हुए जिस पवन में शीघ्र गति हो, शीतलता हो, जो नीचे की ओर बहता हो, जिसकी प्रभा (दीप्ति) श्वेत हो, नाक के छेद से लेकर बारह अंगुल प्रमाण दूर प्रदेश तक जिसकी गति हो ऐसे वायु को जल मण्डल वायु कहते हैं।

पवन मण्डल वायु के चिह्न

तिर्यग्वहत्यविश्रान्तः पवनाख्यः षडङ्गुलः ।
पवनः कृष्णवर्णोऽसौ उष्णः शीतश्च लक्ष्यते ॥ २६ ॥ ज्ञाना. अ. २६

अर्थ—जो वायु निरन्तर तिरछा बहता रहे, जो छह अंगुल पर्यन्त बहे, जिसका वर्ण कृष्ण (श्याम) हो, तथा जो शीत और उष्ण रूप हो, ऐसे वायु को वायुमण्डल कहते हैं।

अग्निमण्डल वायु का स्वरूप

बालार्कसन्निभश्चोर्ध्वं सावर्त्तश्चतुरंगुलः ।
अत्युष्णो ज्वलनाभिख्यः पवनः कीर्त्तितो बुधैः ॥ २७ ॥ ज्ञाना. अ. २६

अर्थ—जो वायु उदय होते हुए सूर्य के सदृश (रक्त) वर्ण वाला हो, कुछ ऊँचे की ओर जिसकी गति हो, जो आवर्त्त (चक्र) सहित हो अर्थात् जो गोल चक्कर लगाता हुआ बहे, जो नासिका के छेद से चार अंगुल दूर तक बहे, जो अत्यन्त उष्णता लिए हुए हो, उसे विद्वानों ने अग्निनामक वायु कहा है।

इन वायुओं का उपयोग

मनुष्य को स्तम्भनादि कार्य करने हो तो पृथ्वी मण्डल की वायु शुभ रूप है। समस्त प्रकार के उत्तम कार्य करने हो तो जल मण्डल की वायु उत्तम मानी गई है। चल कार्य अथवा मलिन कार्यों के करने में पवन मण्डल की वायु श्रेष्ठ मानी गई है और वशीकरणादि कार्यों में अग्नि मण्डल की वायु श्रेयस्कर होती है।

वायु का शुभाशुभ फल

जिस समय पृथ्वी मण्डल पवन चलता हो, उस समय मनमें जो कार्य करना विचारा हो उसकी सिद्धि की सूचना करता है। यदि उससे धन, राज्य, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, राज्यादि की प्राप्ति का विचार किया हो तो उसको सफलता ही होती है।

यदि जल मण्डल वायु नाक से बह रहा हो तो वह विभूति सहित अभीष्ट फल तथा चीजादि की प्राप्ति कराता है। पुत्र, स्त्री आदि इष्ट वस्तुओं का संयोग करता है।

यदि अग्नि मण्डल का वायु नाक से निकल रहा हो तो यह दाह स्वभाव वाला वायु जीवों के भय, शोक, दुःख, पीड़ा, विघ्न-परम्परा और विनाश की सूचना करता है।

यदि पवन मण्डल का वायु चल रहा हो तो यह कृषि सेवा वाणिज्यादि से होने वाले सब सिद्ध फलों का नाश प्रकट करता है। यह वायु मृत्यु, भय, कलह, वैर तथा त्रास चिन्ता आदि को सूचित करता है।

स्वरोदय का विशेष स्वरूप

सूर्योदय के समय जो स्वर चलता हो, उससे ही शुभ अशुभ का ज्ञान होता है। शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा द्वितीया और तृतीया को प्रातः काल सूर्योदय के समय वाम (बायाँ) स्वर चलता हो तो श्रेष्ठ माना गया है। इसके पश्चात् तीन दिन (चतुर्थी पञ्चमी और षष्ठी) तक दक्षिण स्वर (दाहिना स्वर), फिर तीन दिन तक वामस्वर पुनः तीन दिन दक्षिण इस प्रकार तीन तीन दिन बदल बदल कर पूर्णिमा पर्यन्त स्वर का चलना शुभ माना गया है। तथा कृष्णपक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया व तृतीया को दक्षिण स्वर, फिर तीन दिन वामस्वर, पुनः तीन दक्षिण स्वर इस प्रकार तीन२ दिन स्वर का बदल २ कर अमावस्या तक चलना अच्छा माना गया है। इसके विपरीत चले तो अशुभ समझना चाहिए।

सूर्योदय के समय यदि चन्द्रस्वर (वामस्वर) प्रारम्भ हुआ हो तो सूर्यास्त के समय सूर्यस्वर (दक्षिणस्वर) होना श्रेष्ठ बताया है। यदि सूर्योदय के समय सूर्यस्वर (दक्षिणस्वर) चलता हो तो अस्त समय चन्द्रस्वर (वामस्वर) अच्छा माना गया है।

समझदार को चाहिए कि शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के दिन सूर्योदय के समय नाड़ी (स्वर) के द्वारा शुभाशुभ को यत्नपूर्वक देखे।

उसको किस प्रकार विचारे यह आगे बताते हैं।

प्रथम दिवस में यदि पवन विपरीत चले, अथवा स्वर उलटा चले तो चित्त में उद्वेग उत्पन्न होता है। दूसरे दिन विरुद्ध चले तो धन की हानि की सूचना करता है। तीसरे दिन विपरीत बहे तो परदेश गमन को बतलाता है। और पांच दिन विपरीत बहे तो क्रम से इष्ट प्रयोजन का विनाश, विभ्रम, अपने पद से भ्रष्टता, महायुद्ध और दुःख ये पांच फल होते हैं। तथा इसी प्रकार आगे के पांच पांच दिन का फल अशुभ समझना चाहिए।

इस प्राणायाम का अभ्यासी मनुष्य घोड़े हस्ती आदि के शरीर में स्वेच्छा से प्रवेश कर सकता और निकल सकता है। जिसके शरीर मे प्रवेश करता है, उसके शरीर से निर्लेप रहता है। किन्तु आचार्य कहते हैं कि दूसरे शरीर में प्रवेश करना निकलना आदि क्रिया कौतुक मात्र है और अत्यन्त कठिनता से साध्य है। यही कहा है।

> कौतुकमात्रफलोऽयं परपुरप्रवेशो महाप्रयासेन ।
> सिद्ध्यति न वा कथंचिन्महतामपि कालयोगेन ॥ १०० ॥
> स्मरगरलमनोविजयं समस्तरोगक्षयं वपुःस्थैर्यम् ।
> पवनप्रचारचतुरः करोति योगी न सन्देहः ॥ १०१ ॥ ज्ञाना. अ. २६

अर्थ—पवन साधन करते करते ऐसा सामर्थ्य उत्पन्न होता है कि जिसके बल से पर पुर प्रवेश (दूसरे के शरीर में प्रवेश) आदि हो सकता है। यह सब कौतुक मात्र है। इससे कोई आत्महित नहीं होता इसका सिद्ध होना भी बहुत कठिन है। किन्तु वायु का प्रचार करने में चतुर इसके अभ्यासी योगीजन काम विष से युक्त मन पर विजय प्राप्त करते हैं, इससे समस्त शारीरिक रोगों का क्षय करते हैं और शरीर में स्थिरता की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार ध्यान के उपकारक साधनों का निरूपण करके अब धर्म्यध्यान का वर्णन करते हैं :—

धर्म्यध्यान का स्वरूप

> एयग्गेण मणं णिरुंभिऊण धम्मं चउव्विहं झाहि ।
> आणापायविवायविचओ य संठाणविचयं च ॥ २०१ ॥ मूला. पञ्चा.

अर्थ—पांचों इन्द्रियों के व्यापार को रोक करे, मानसिक संकल्प विकल्पादि अनेक विचारों मे भ्रमण करते हुए मन को थांभ

कर, सत्य-असत्य वचन की प्रवृत्ति का निरोध करके तथा शरीर की गमनागमनादि क्रियाओं का त्याग कर अपने मन को जगदपाय आदि में लगा देना धर्म्यध्यान है। इसके चार भेद हैं—१ आज्ञाविचय, २ अपायविचय, ३ विपाकविचय और ४ संस्थानविचय।

आज्ञाविचय धर्म्यध्यान

वस्तुतत्वं स्वसिद्धान्तं प्रसिद्धं यत्र चिन्तयेत्।
सर्वज्ञाज्ञाभियोगेन तदाज्ञाविचयो मतः॥ ६॥ (ज्ञाना. अ. ३३)

अर्थ—सर्वज्ञ देव की आज्ञानुसार अपने सिद्धान्त आगम में प्रसिद्ध वस्तु के स्वरूप का चिन्तन करना आज्ञाविचय नामक ध्यान होता है।

आज्ञाविचय नामक धर्म्य ध्यान में विश्वतत्त्व के हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष-ज्ञाता सर्वज्ञ देव की आज्ञा-उपदेश का विचय-विचार-चिन्तन किया जाता है। सर्वज्ञदेव द्वारा प्रतिपादित तत्त्व अतिसूक्ष्म है, वह छद्मस्थ-अल्पज्ञ के प्रत्यक्ष ज्ञान गोचर नहीं होता है। उसमें हेतुओं से कोई बाधा नहीं आती है। हेतुओं के द्वारा उसके खण्डन करने की चेष्टा करना किसी तरह उचित नहीं है। उसे तो आज्ञा मानकर ही स्वीकार करना चाहिये। कहा भी है—

"सूक्ष्मं जिनोदितं तत्व हेतुभिर्यन्न हन्यते।
आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथा वादिनो जिनाः॥"

अर्थ—श्री जिनेन्द्र सर्वज्ञ देव द्वारा प्रतिपादित तत्त्व हेतुओं से बाधित नहीं होता वह तो आज्ञा सिद्ध होने के कारण ही ग्राह्य है। सर्वज्ञ की आज्ञा को प्रमाण मानकर ही उसे स्वीकार करना चाहिए; क्योंकि सर्वज्ञ देव के केवलज्ञान में वस्तु जैसी झलकती है वे उसको वैसा ही प्रतिपादन करते हैं; उनके राग द्वेष का सर्वथा अभाव होगया है; इसलिए वे अन्यथावादी नहीं हैं, वस्तु का अयथार्थ कथन करने वाले नहीं हैं। वस्तु के अयथार्थ कथन करने के दो कारण हैं-अज्ञान और कषाय (राग द्वेष)। वस्तु का पूर्ण ज्ञान न होने से वस्तु का यथार्थ कथन नहीं होसकता तथा वस्तु का यथार्थ ज्ञान होने पर भी राग या द्वेष के वश विपरीत कथन होता है। जिसके ये दोनों कमियां नष्ट होगई हों वही यथार्थ उपदेश दे सकता है। जिनेन्द्र देव में ये दोनों ही बातें नहीं पाई जाती, इसलिए वे यथार्थ वक्ता हैं। उनके उपदिष्ट तत्वों का चिन्तन करना धर्म्यध्यान माना गया है। प्रमाण, नय और निक्षेप आदि से निर्णय किया हुआ वस्तुस्वरूप ही वास्तविक तत्त्व है। वह उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से संयुक्त है। ऐसा तत्त्व सर्वज्ञ कथित स्याद्वादनय से सिद्ध है।

तात्पर्य यह है कि धर्म्यध्यान में श्रुत निरूपित शब्द और अर्थ का चिन्तन करना चाहिए। श्रुतज्ञान सर्वज्ञ देव की दिव्यध्वनि से प्रतिपादित तत्त्वों को विषय करने वाला है। इसमें विश्व विद्याओं का समावेश है। इसमें संसार के समस्त पदार्थों का प्रकाश है। यह ग्यारह अंग, चौदह पूर्व और अंग बाह्य, प्रकीर्णक द्वारा समस्त विद्या और कला कौशल आदि का विशद व्याख्यान करने वाला है। यह श्रुतज्ञान अपार और अत्यन्त गम्भीर है; क्योंकि इसके अर्थ का अवगाहन सामान्य मनुष्य नहीं कर सकता है। चार ज्ञान के धारक गणधर भगवान ही इसमें प्रवेश कर सके हैं। यह पूर्वापरविरोध रहित है, महा पुण्यतीर्थ है; जो इसमें प्रवेश करता है वह अति पवित्र होजाता है। इसलिए इसका ध्यान करने से आत्मा में पवित्र भाव उत्पन्न होते हैं।

मिथ्या मत के मद से उद्धत एकान्तमतानुयायी लोगों के मिथ्यात्व विष का नाश करने वाला एक श्रुतज्ञान ही है। जो मनुष्य इस श्रुतज्ञान का अवगाहन करलेता है वही मिथ्यात्व विष का वमन करने में समर्थ होता है। इसके चार भेद हैं-प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। इस श्रुतज्ञान की महिमा का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं—

वाग्देव्याः कुलमन्दिरं बुधजनानन्दैकचन्द्रोदयं
मुक्तेर्मङ्गलमग्रिमं शिवपथप्रस्थानदिव्यानकम्।
तत्वाभासकुरङ्गपञ्चवदनं भव्यान्विनेतुं क्षमं
तच्छ्रोत्राञ्जलिभिः पिबन्तु गुणिनः सिद्धान्तवार्द्धेः पयः ॥ २० ॥ (ज्ञाना. प्र. ३३)

अर्थ—जो सरस्वती देवी के रहने का कुलगृह है, विद्वज्जनों के आनन्द को उत्पन्न करने के लिए अद्वितीय चन्द्रमा का उदय है, मुक्ति का मुख्य मङ्गल है, मोक्ष मार्ग में प्रयाण करने का दिव्य पटह (नगाड़े) का नाद है, तत्त्वाभास (मिथ्यातत्त्व-एकान्तमार्ग) रूप मृग का हनन करने के लिए सिंह के समान है, भव्यों को सुमार्ग की शिक्षा देने में समर्थ है-ऐसे सिद्धान्तरूपी समुद्र के जल को हे गुणीजनों ! कर्णरूपी अंजलियों से पान करो।

ऐसे अनुपम श्रुतज्ञान द्वारा निरूपित शब्दार्थ का एकाग्रचित्त से चिन्तन करना आज्ञाविचय नाम का धर्म्यध्यान है।

अथवा जिनेन्द्र देव की आज्ञा का प्रकाश करने के लिए उपाय का चिन्तन करना भी आज्ञाविचय नाम का धर्म्यध्यान है।

जिसका अन्तःकरण सम्यग्दर्शन से विशुद्ध है तथा जो स्वसिद्धान्त व अन्यसिद्धान्त के रहस्य का ज्ञाता है, जिसने सर्वज्ञ प्रणीत धर्मास्तिकायादि सूक्ष्म पदार्थों का नय और प्रमाण से निश्चय कर लिया है तथा जो अन्य भव्य जीवों को अपने श्रुतज्ञान के सामर्थ्य

से नय प्रमाण और निक्षेप द्वारा यथार्थ वस्तु-स्वरूप समझाने में तत्पर है उसके आज्ञाविचय नाम का धर्म्यध्यान होता है।

अपायविचय धर्म्यध्यान

अपायविचयं ध्यानं तद्वदन्ति मनीषिणः।
अपायः कर्मणां यत्र सोऽपायः स्मर्यते बुधैः ॥ १ ॥ ज्ञाना. अ. ३४

अर्थ—जिसमें कर्मों के नाश का उपाय चिन्तन किया जाता है उसे अपायविचय नामक धर्म्यध्यान कहते हैं।

मिथ्यात्व, अज्ञान और असच्चारित्र के निमित्त से यह जीव अनादि काल से संसार समुद्र में गोते लगा रहा है और वचनातीत दुःखों को भोगता हुआ अत्यन्त दुःखी होगया है। उस दुःख का विनाश करने वाला एक रत्नत्रय ही है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय ही मिथ्यात्व, अज्ञानादि अन्य कर्मों का क्षय कर शान्ति सुख का देनेवाला है।

अनादि काल से भयानक दुःख रूप दावानल से प्रज्वलित भव कानन मे भ्रमण करते हुए मैंने अब सम्यग्ज्ञान रूप तट पाया है, यदि अब भी वैराग्य और विवेक ज्ञान (भेद ज्ञान) रूप पर्वत के शिखर से गिरूंगा तो संसार रूप अन्ध कूप मे अवश्य पड़ जाऊंगा। और कर्मबन्ध का कारण मिथ्यात्व और अविरति रूप नाग मुझे डस लेंगे, जिनसे छुटकारा पाना बड़ा अशक्य होगा। इसलिए मुझे सावधान हो जाना चाहिए। एक तरफ तो कर्मों की सेना है, और दूसरी ओर विपक्ष मे मै अकेला हूं। यदि मैं असावधान रहा तो इसका फल अनन्त दुःख होगा। इसलिए मेरा कर्त्तव्य है कि मैं रत्नत्रयरूप शस्त्र को धारण किये रहूं। इस प्रकार चिन्तन करना अपायविचय धर्म्यध्यान है।

अथवा ऐसा चिन्तन करे कि इन जीवों के ज्ञान नेत्र मिथ्यादर्शन रूपी अन्धकार से ढक गये हैं, इसलिए अज्ञानवश ये कुचारित्र का आचरण कर रहे हैं। आत्मा को बन्धन मे डालने वाली अनेक कुक्रियाएँ कर रहे हैं और संसार परम्परा की वृद्धि कर रहे हैं। ये भोले जीव किस उपाय से इस कुमार्ग से निवृत्त हो सकेंगे इस प्रकार चिन्तन करने को राजवार्तिक मे 'सन्मार्गापायचिन्तनमपायविचयः' सन्मार्गापाय (सन्मार्ग के त्याग से होने वाली हानि) का चिन्तन करना अपायविचय नामक धर्म्यध्यान कहा गया है।

अथवा, मिथ्यादर्शन से जिनकी बुद्धि विक्षिप्त होती है, ऐसे मिथ्यादृष्टियो के द्वारा बताये हुए कुमार्ग से ये भोले जीव कैसे हटाये जावें। इस उन्मार्ग पर चलकर ये जीव घोर कर्मों का बन्ध कर रहे हैं। किस उपाय से उन्मार्ग से इनको अलग किया जावे—ऐसे विचार करने को राजवार्तिक में 'असन्मार्गापायचिन्तमपायविचयः' अर्थात् असत्यमार्ग से निवृत्त करने के लिए चिन्तन करना अपायविचय धर्म्यध्यान कहा है।

अथवा ये जीव राग द्वेष से मलीन चित्त वाले कुदेव, विषयाभिलाषी तथा परिग्रह धारक कुगुरु और हिंसादि पापों एवं रागादिकों का समर्थन करने वाले एकान्तमत के पोषक कुशास्त्रों का तथा इन तीनों के अनुयायिओं का सेवन करके महापाप बन्ध कर रहे हैं। बेचारे ये भोले जीव इससे किस प्रकार छूटें ऐसा चिन्तन करना भी अपाय विचय धर्म्यध्यान है।

अथवा इन संसारी जीवों की पाप जनक शारीरिक क्रियायें, स्व पर के अहितकारी-पापोत्पादक वचन और अशुभ मानसिक भावना किस प्रकार छूटे इस प्रकार चिन्तन करने को भी अपायविचय धर्म्यध्यान कहते हैं।

ध्यान में किस प्रकार चिन्तन करे :—

कोऽहं ममास्रवः कस्मात्कः बन्धः क्व निर्जरा।
का मुक्तिः किं विमुक्तस्य स्वरूपं च निगद्यते ॥ ११ ॥ ज्ञाना.अ. २४

अर्थात्—मैं कौन हूं? मेरे कर्मों का आस्रव किस कारण से होता है? कर्मों का बन्ध कैसे होता है? निर्जरा का कारण क्या है? मुक्ति क्या वस्तु है? तथा मुक्त जीव का स्वरूप क्या है?

इन प्रश्नों का उत्तर मनुष्य अपने अन्तःकरण में विचारे। इनका चिन्तन कर उपादेय तत्त्व को ग्रहण करे और हेय तत्त्व को छोडदे। हेय तत्त्व (आस्रव बन्ध) का स्वरूप क्या है, उनके कारण कौन २ हैं, तथा उनका फल जीव को किस प्रकार भोगना पड़ता है इत्यादि विचार करें। संवर और निर्जरा उपादेय तत्त्व हैं। इनका स्वरूप,कारण और फलादि का भी इसी तरह चिन्तन करना चाहिए। इसी तरह मुक्ति के विषय में भी नाना प्रकार के प्रश्नों को उठा कर विचार करना चाहिए। ऐसे विचारों से आत्मा का अशुभोपयोग नष्ट होता है। अशुभोपयोग आत्मा के लिए बड़ा अहितकर है।

अशुभोपयोग संसार का कारण है। यद्यपि शुभोपयोग भी बन्ध का कारण है फिर भी वह परम्परा मोक्ष का कारण बन सकता है; इसलिए जब तक शुद्धोपयोग की प्राप्ति न होती, तब तक वह उपादेय है। शुद्धोपयोग के प्राप्त होने पर तो वह भी हेय ही माना गया है। इसलिए धर्म्यध्यान में चिन्तन किया जाता है कि मेरा आत्मा कर्म मल से मलिन होने के कारण अनेक दुःखों का अनुभव कर रहा है;लेकिन ये दुःख मेरा स्वरूप नहीं हैं,कर्मयोग जन्य पीड़ा हैं। मोक्ष मेरा स्वरूप है। यदि मैंने अपने आत्मा को जान लिया तो संसार भर को जान लिया मैं ही सर्वज्ञ हूं, मैं सवदर्शी हूँ, मैं निरञ्जन हूं। समस्त संसार के अनन्त पदार्थ मेरे विशाल ज्ञान में झलकते हैं। इसलिए मुझे एक निजात्मा का अवलोकन और मनन चिन्तन करना चाहिए। इसका अवलोकन होने पर समस्त संसार का अवलोकन और इसका प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर सम्पूर्ण ससार भर का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। कहा भी है—

"एको भावः सर्वभावस्वभावः सर्वे भावाः एकभावस्वभावः ।
एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः ॥"

अर्थ—एक पदार्थ सम्पूर्ण पदार्थों के स्वभाव रूप है और सम्पूर्ण पदार्थ एक पदार्थ का स्वभावरूप है। जिसने एक पदार्थ का पूर्ण ज्ञान कर लिया, उसने सम्पूर्ण पदार्थों को भी जान लिया है।

जिसने आत्मा को स्पष्ट जान लिया है, उसने संसार के समस्त पदार्थ का ज्ञान प्राप्त कर लिया समझना चाहिए। आत्मा को जब अपने सब गुणों का स्पष्ट अनुभव हो जाता है, तब वह संसार के समस्त द्रव्य और गुण पर्यायों को भी स्पष्ट जान लेता है। क्योंकि आत्मा में एक ज्ञान गुण ऐसा है, जिसमें समस्त लोक के पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं। आत्मा अपने ज्ञान गुण को स्पष्ट जानता है, तब उसमें प्रतिबिम्बित हुए सम्पूर्ण लोक के पदार्थों को भी वह स्पष्ट जानता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो एक आत्मा को जानता है, वह सब पदार्थों को जानता है।

जब तक मेरा बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध रहेगा, तब तक मेरा अपने आत्म-स्वरूप में स्थित रहना स्वप्न में भी सम्भव नहीं है; इसलिए मुझे अपने आत्मस्वरूप में ही स्थित रहना चाहिए, इस प्रकार मोक्ष मार्ग में स्थिर रहने का उपाय चिन्तन करना तथा कर्म के क्षय का चिन्तन करना और आत्म-सिद्धि (मोक्ष) के लिए उपायों का चिन्तन करना अपाय विचय नामक धर्म्यध्यान माना गया है।

इस प्रकार अपायविचय धर्म्यध्यान का वर्णन करके अब विपाकविचय नामक धर्म्यध्यान के तीसरे भेद का निरूपण करते हैं।

विपाक विचय का स्वरूप

स विपाक इति ज्ञेयो यः स्वकर्मफलोदयः ।
प्रतिक्षणसमुद्भूतश्चित्ररूपः शरीरिणाम् ॥ १ ॥ (ज्ञाना. अ. ३५)

अर्थ—संसार के समस्त प्राणियों के पूर्वोपार्जित अपने शुभाशुभ कर्मों का जो सुख दुःखादिरूप फल उदय में आता है, उसे विपाक कहते हैं। यह सम्पूर्ण जीवों के क्षण क्षण में उदय में आता है। और उसके ज्ञानावरणादि अनेक भेद हैं।

यह जीव अनादि काल से कर्मबन्धन से बद्ध है इसके प्रत्येक समय में ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का उदय रहता है और द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के निमित्त को पाकर अपने स्वभाव के अनुसार नियम से सुख दुःखादि फल को देता है।

कर्मों का फल अनेक रूप मे इस प्राणी को प्राप्त होता है। यह विभिन्न गतियों में नाना प्रकार के सुख दुःख भोगता रहता है। यह अपने आपको भूला हुआ कभी शांति को प्राप्त नहीं होता। कर्म अनेक तरह से हमे सताते हैं। नरक के महादुःख, तिर्यंचगति की वध बंधनादि पीड़ा, देवगति के मानसिक संताप और मनुष्य जन्म की इष्ट वियोगादि वेदनाएँ सभी कर्म विपाक के वैचित्र्य हैं। धनी-दरिद्र, विद्वान्-मूर्ख, सुन्दर-असुन्दर आदि सभी पर्यायें कर्मों का ही फल है। संसार में जो साताजनित थोड़ा बहुत सुख प्राप्त हो जाता है वह भी कर्म कृत ही है।

कर्मों की दश अवस्थायें हैं—बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण उपशम, निधत्त, और निकाचित।

बन्ध—जीव और कर्मों के मिलने को बन्ध कहते हैं। उदय—अपनी स्थिति को पूरी करके कर्मों के फल देने को उदय कहते हैं। उदीरणा- तप आदि निमित्तों से स्थिति पूरी किये बिना ही कर्मों के फल देने को उदीरणा कहते हैं। सत्त—जब तक कर्म आत्मा के साथ सम्बन्ध रखते हैं तब तक उनकी सत्ता कहलाती है। उत्कर्षण—जिस कर्म की जितनी स्थिति बांधी हो, उतनी से अधिक हो जाने को उत्कर्षण कहते हैं। अपकर्षण—कर्मों की बन्धी हुई स्थिति के घट जाने को अपकर्षण कहते हैं। संक्रमण—किसी कर्म के सजातीय एक भेद से दूसरे भेद रूप हो जाने को संक्रमण कहते हैं। उपशम—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से कर्म की शक्ति के प्रकट न होने को उपशम कहते हैं, अर्थात जब कर्मों की उदीरणा नहीं होती है तब उदय भी नहीं होता है, तब उपशम होता है। निधत्त—संक्रमण और उदीरणा न होने को अर्थात जो कर्म प्रकृति बांधी हो वह न दूसरे रूप हो और न उसकी, उदीरणा हो उसे निधत्त कहते हैं। निकाचित—बांधी हुई कर्म प्रकृतियों की स्थिति का घटना, बढ़ना, परस्प होना और उदीर्ण होना ये चारों बातें न हो उसे निकाचित कहते हैं।

विपाक विचय शुक्ल ध्यान मे कर्मो की विभिन्न प्रकृतियों के विभिन्न गुणस्थानो मे उदय, बंध और सत्ता आदि का भी विचार किया जा सकता है, इसलिए यहां भी इनका विचार करना आवश्यक है। सर्व प्रथम यहां यह बतलाया जाता है कि किस गुणस्थान मे कितनी२ कर्म प्रकृतियो का बन्ध होता है।

पहले मिथ्यात्व गुण स्थान मे ११७ प्रकृतियों का बन्ध होता है। कर्मों की सब मिला कर १४८ प्रकृतियां हैं। इनमें से स्पर्शादिक २० प्रकृतियो का स्पर्शादिक ४ में और ५ बन्धन एवं ५ संघातों का पांच शरीरो में अन्तर्भाव हो जाता है। इस कारण भेद विवक्षा से सब १४८ और अभद विवक्षा से १२२ प्रकृतियां हैं। इनमें से अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति इन दोनों का बन्ध नहीं होता है। क्योंकि इन दोनो की सत्ता सम्यक्त्व परिणामो से मिथ्यात्व प्रकृति के तीन खण्ड करने पर होती है। इसलिये अनादि मिथ्यादृष्टि की बन्ध योग्य प्रकृतियां कुल १२० हैं। इनमें से मिथ्यात्व-गुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति, आहारक शरीर और आहारक अङ्गोपांग इन तीन प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है। क्योंकि इन तीनों का बन्ध सम्यग्दृष्टियों के ही होता है। इस तरह पहले गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

दूसरे सासादन गुणस्थान मे 'एक एक सौ' अर्थात् १०१ प्रकृतियो का बन्ध होता है। अर्थात् ऊपर कही हुई ११७ प्रकृतियों में से मिथ्यात्व, हुडकसंस्थान, नपुंसक वेद, नरक गति, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकायु, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन, एकेन्द्रियजाति, विकलत्रय तीन, स्थावर, आताप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण इन सोलह प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है।

तीसरे मिश्रगुण स्थान में ७४ प्रकृतियों का बन्ध होता है। दूसरे गुणस्थान में जिन १०१ प्रकृतियो का बन्ध होता है, उनमें से अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, न्यग्रोध संस्थान, स्वातिसंस्थान, कुब्जक संस्थान, वामन संस्थान, वज्रनाराजसंहनन, नाराच संहनन, अर्द्ध नाराच संहनन, कीलित संहनन, अप्रशस्त विहायोगति, स्त्री वेद, नीच गोत्र तिर्यंग्गति, तिर्यंग्गत्यानुपूर्वी, तिर्यगायुः और उद्योत इन २५ व्युच्छिन्न प्रकृतियो के घटाने से शेप रही ७६। इनमे से मनुष्यायु और देवायु ये दो और घटा देनी चाहिए। क्योकि इस गुणस्थान मे किसी भी आयुकर्म का वन्ध नहीं होता है। इस तरह ७४ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

चौथे गुण स्थान में ७७ प्रकृतियों का बन्ध होता है। ऊपर कही हुई ७४ और मनुष्यायु देवायु तथा तीर्थंकर ये तीन कुल ७७।

पाचवे गुणस्थान मे ६७ प्रकृतियों का बन्ध होता है। चौथे गुणस्थान की ७७ प्रकृतियों में से अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, मनुष्य गति, मनुष्य गत्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, औदारिक शरीर, औदारिक अङ्गोपांग और वज्रऋषभनाराच संहनन, ये दश व्युच्छिन्न प्रकृतिया घटा देने से ६७ रह जाती है।

छठे गुणस्थान मे ६३ प्रकृतियो का बन्ध होता है। ऊपर के ६७ मे से प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, इन चार को घटा देने से ६३ रहती हैं।

सातवें गुणस्थान में ५६ प्रकृतियों का बन्ध होता है। छठे गुणस्थान की ६३ बन्ध प्रकृतियों मे से अस्थिर, अशुभ, असाता अयशः कीर्ति, अरति और शोक के घटाने से शेप रही ५७, इनमे आहारक शरीर और आहारक अङ्गोपाग इन दो के मिलाने से ५६ होती है।

आठवें गुणस्थान में ५८ प्रकृतियों का बन्ध होता है। ऊपर की ५६ मे से देवायु को घटाने से ५८ प्रकृतियां बन्ध योग्य रहती हैं

नवमे गुणस्थान मे २२ प्रकृतियो का बन्ध होता है। ऊपर की ५८ मे से नीचे लिखी ३६ व्युच्छिन्न प्रकृतियों को घटाने से २२ रहती हैं। निद्रा, प्रचला, तीर्थंकर, निर्माण प्रशस्त विहायोगति, पंचेन्द्रिय जाति, तेजस शरीर, कार्माण शरीर, आहारक शरीर, आहारक अङ्गोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, वैक्रियक शरीर, वैक्रियक अङ्गोपांग, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, अगुरु लघुत्व, उपघात परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, हास्य, रति, जुगुप्सा, और भय।

दशवें गुणस्थान में १७ प्रकृतियों का बन्ध होता है। ऊपर की २२ में से पुरुष वेद, और संज्वलन क्रोध, मान, माया लोभ को घटाने से १७ रहती हैं।

ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में केवल एक सातावेदनीय प्रकृति का बन्ध होता है। दशवें में जिन १७ प्रकृतियों का बन्ध होता है, उनमें से ज्ञानावरणीय की ५ दर्शनावरणीय की ४, अन्तराय की ५, यशःकीर्ति और उच्चगोत्र इन १६ को घटाने से एक सातावेदनीय रह जाती है। अन्त के चौदहवें गुणस्थान में किसी भी प्रकृति का बन्ध नहीं होता है। वह बंध रहित अवस्था है। इस तरह सब गुणस्थानों की बन्ध प्रकृतियां बतलाई। निश्चयनय मे आत्मा को कर्म बन्ध से रहित जानना चाहिये।

अब आगे यह बतलाते हैं कि किस गुणस्थान मे कितनी कितनी प्रकृतियों का उदय होता है :—

मिथ्यात्व गुणस्थान मे ११७ प्रकृतियो का उदय होता है। १२२ में से सम्यक्प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व, आहारक शरीर, आहारक अङ्गोपाग और तीर्थंकर प्रकृति इन पाच प्रकृतियो का उदय इस गुणस्थान मे नहीं होता। दूसरे गुणस्थान मे १११ प्रकृतियो का उदय होता है। पहले गुणस्थान की ११७ में से मिथ्यात्व, आताप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण और नरकगत्यानुपूर्वी इन ६ प्रकृतियों का उदय नहीं होता है। तीसरे गुणस्थान में १०० प्रकृतियो का उदय होता है। दूसरे गुणस्थान की १११ प्रकृतियो मे से अनन्तानुबन्धी ४ एकेन्द्रियादिक ४ और स्थावर १ इन ६ व्युच्छिन्न प्रकृतियो के घटाने से शेष रही १०२, उनमें से नरकगत्यानुपूर्वी के बिना (क्योंकि यह दूसरे गुणस्थान में घटाई जा चुकी है) शेष की तीन आनुपूर्वी घटाने से (क्योंकि तीसरे गुणस्थान मे मरण न होने से किसी भी आनुपूर्वी का उदय नहीं है) शेष रही ९९ और एक सम्यग्मिथ्यात्व का उदय यहां मिला—इस तरह इस गुणस्थान मे १०० प्रकृतियो का उदय होता है। चौथे गुणस्थान में 'सौ चौ' अर्थात् १०४ प्रकृतियो का उदय होता है। ऊपर की १०० प्रकृतियो मे से व्युच्छिन्न प्रकृति सम्यग्मिथ्यात्व के घटाने पर रही ९९, इनमे चार आनुपूर्वी और १ सम्यक्प्रकृति इन पांच के मिलाने से १०४ हुई। पांचवें गुणस्थान मे ८७ प्रकृतियों का उदय होता है। पूर्व की १०४ प्रकृतियों मे से अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, देवायु, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकायु, वैक्रियक शरीर, वैक्रियक अङ्गोपांग, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय, और अयशःकीर्ति इन सत्तरह व्युच्छिन्न प्रकृतियों के घटाने से ८७ रहती हैं। छठे गुणस्थान मे ८१ प्रकृतियो का उदय होता है। पिछली ८७ मे से प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, तिर्यग्गति, तियगायु, उद्योत और नीच गोत्र इन आठ व्युच्छिन्न प्रकृतियो के घटाने से शेष रही ७९, इनमें आहारक शरीर, और आहारक अङ्गोपांग मिलाने से ८१ प्रकृतियां होती हैं। सातवे मे ७६ प्रकृतियो का उदय होता है। पिछली ८१ में से आहारकशरीर, आहारकअङ्गोपांग, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचला, और स्त्यानगृद्धि के घटाने से ७६ प्रकृतियां रहती हैं। आठवे में ७२ प्रकृतियो का उदय होता है। पिछली ७६ मे से सम्यक्त्व प्रकृति, अर्द्धनाराच, कीलक और असंप्राप्तसृपाटिका इन चार का उदय नहीं होता है। नवमे गुणस्थान मे ६६ का उदय होता है। पिछली ७२ मे

से हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा इन छह को घटाने से ६६ रहती हैं। दशवें गुणस्थान मे ६० प्रकृतियो का उदय होता है। पिछली ६६ मे से स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक वेद, संज्वलन क्रोध मान, माया इन छह को घटाने से ६० रहती हैं। ग्यारहवें गुणस्थान में ५६ का उदय होता है। पिछली ६० में से एक संज्वलन लोभ का उदय यहां घट जाता है। बारहवें में ५७ का उदय होता है। पिछली ५६ में से वज्रनाराच और नाराच घटाने से ५७ होती हैं। तेरहवें गुणस्थान मे ४२ प्रकृतियों का उदय होता है। पिछली ५७ मे से ज्ञानावरणीय की ५ अन्तराय की ५ दर्शनावरणीय की ४ निद्रा और प्रचला इस तरह १६ व्युच्छिन्न प्रकृतियों के घटाने से ४१ रही, इनमे तीर्थंकर की अपेक्षा से एक तीर्थंकर प्रकृति को मिलाने से ४२ हुई। चौदहवें गुणस्थान में १२ का उदय रहता है। पिछली ४२ में से इन तीस व्युच्छिन्न प्रकृतियों के घटाने से १२ रहती हैं। वेदनीय, वज्रवृषभनाराच, निर्माण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुःस्वर, प्रशस्तविहायोगति, अप्रशस्तविहायोगति, औदारिक शरीर, औदारिक अङ्गोपांग, तैजसशरीर, कार्माणशरीर, समचतुरस्रसंस्थान, न्यग्रोध, स्वाति, कुब्जक, वामन, हुडक, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, अगुरलघुत्व, उपघात, परघात, उच्छ्वास और प्रत्येक। शेष बारह प्रकृतियां ये हैं—वेदनीय, मनुष्यगति, मनुष्यायु, पंचेन्द्रिय जाति, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्त, आदेय, यशः कीर्ति, तीर्थंकर, और उच्च गोत्र इस तरह चौदह गुणस्थानों की रचना है। निश्चय से तेरा निज आत्मा इन भव कर्मों के उदय से भिन्न सिद्ध स्वरूप है।

इसी तरह चौदह गुणस्थानों में जितनी २ प्रकृतियों का उदय बतलाया है, ठीक उतनी उतनी ही प्रकृतियों की उदीरणा होती है। अन्तर सातवें, आठवें, नववें, दशवें, ग्यारहवें और बारहवें मे केवल ३ प्रकृतियो का पड़ता है और तेरहवें में ६ का। वह इस तरह कि वहां सातवें मे ७६ प्रकृतियों का उदय होता है, और यहां ७३ की उदीरणा होती है। क्योकि चौदहवें गुणस्थान मे उदय तो १२ प्रकृतियों का रहता है, परन्तु उदीरणा वहां नहीं है। इसलिये उन १२ प्रकृतियो को तेरहवें गुणस्थान की ३० प्रकृतियों में मिलाने से उनकी संख्या ४२ होगई। जिनमें से तीन साता, असाता, और मनुष्यायु तो छठे गुणस्थान में उदीरित होती हैं और शेष ३९ की तेरहवें में उदीरणा होती है। बीच के सातवें आठवें, नववें, दशवें, ग्यारहवें, और बारहवें मे इन्हीं तीन प्रकृतियों के कम हो जाने से उदीरित प्रकृतियों की संख्या क्रम से ७३, ६९, ६३, ५७, ५६, ५४ हो जाती है।

अब यहां यह बात बतला देना भी आवश्यक है कि किस गुणस्थान मे कितनी प्रकृतियों की सत्ता मौजूद रहती है। वह इस प्रकार है।

बांधे हुए कर्म जब तक उदय मे नहीं आते हैं किन्तु ज्यों के त्यों बद्ध बने रहते हैं तब तक उस अवस्था को सत्ता कहते हैं। पहले और चौथे गुणस्थान मे १४८ प्रकृतियों की सत्ता है। दूसरे गुणस्थान में तीर्थंकर, आहारक शरीर और आहारक अङ्गोपांग इन तीन को छोड़ कर १४५ की सत्ता है। तीसरे में तीर्थंकर प्रकृति को छोड़कर और पांचवें में नरकायु को छोड़कर १४७ प्रकृतियों की सत्ता है। छठे, सातवें में और उपशम श्रेणी के आठवें नववें दशवें और ग्यारहवें मे नरकायु और तिर्यंगायु को छोड़कर १४६ की सत्ता है। क्षायिकश्रेणीवाले आठवें

नवमें, दशवें और ग्यारहवें में नरकायु और तिर्यंगायु को छोड़कर १४६ की सत्ता है। क्षपकश्रेणीवाले आठवें नवमें गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी, ३ मिथ्यात्व और ३ आयु (देव पशु और नारक) को छोड़कर १३८ की सत्ता है। क्षपकश्रेणीवाले दशवें में १०२ की सत्ता है। नववे मे १३८ का सत्त्व है, उसमें से ये ३६ व्युच्छिन्न प्रकृतियां घटाने से १०२ होती है—तिर्यंगगति १ तिर्यंगगत्यानुपूर्वी, १ विकल त्रय ३, निद्रानिद्रा, १ प्रचलाप्रचला १, स्त्यानगृद्धि १, उद्योत १, आतप १, एकेन्द्रिय १, साधारण १, सूक्ष्म १, स्थावर १, अप्रत्याख्यानावरण ४, प्रत्याख्यानावरण ४, नोकषाय ६, संज्वलन क्रोध १, मान १, माया १, नरकगति १, नरकगत्यानुपूर्वी १, बारहवें मे १०१ प्रकृतियों की सत्ता है। पिछली १०२ में से एक सूक्ष्मलोभ की सत्ता घट जाती है। आगे तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में 'पन्द्रह टालसौ' सौ मे से पन्द्रह कम अर्थात् ८५ प्रकृतियो की सत्ता है। उपर्युक्त १०१ में से ज्ञानावरणीय की ५ अन्तराय की ५, दर्शनावरणीय की ४, निद्रा १, और प्रचला १ ऐसे १६ घटाने से ८५ रहती हैं। चौदहवें गुणस्थान में अन्त के समय से पूर्व समय में ७२ और अन्त में १३ की सत्ता नष्ट करके अविनाशी सिद्ध होते हैं।

कर्मों के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ आत्मा का भाव जीवों के सुख का साधन होता है तथा कर्मों की तीव्रता से उत्पन्न हुआ आत्मीय भाव जीव के अशुभ फल देने में समर्थ होता है। इस प्रकार भाव के बाह्य निमित्त को पाकर कर्म का उदय सुख दुःखादि देने मे समर्थ होता है। सारांश यह है कि जिस समय आत्मा के शान्त व विवेक-ज्ञानमय भाव हों और उस समय अशुभ कर्मों का उदय भी हो तो वह दुःखादि देने में समर्थ नहीं होता है, और उस समय यदि शुभ कर्म का उदय हो तो वह सुखादि देने मे अधिक शक्तिमान होता है। यदि उस समय आत्मा मे अशान्ति हो और परपदार्थों में ममत्वादि रूप परिणति हो तो उस समय अशुभ कर्म अति तीव्र फल देने मे समर्थ होता है।

ऊपर लिखे अनुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव रूप बाह्य निमित्त को पाकर कर्म का उदय शुभ तथा अशुभ फल प्रदान करने मे समर्थ होता है।

कर्म की मूल प्रकृतियाँ ज्ञानावरण दर्शनावरणादि के भेद से आठ हैं।

ज्ञान को ढकने वाला ज्ञानावरण कर्म पांच प्रकार का है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पांचों ज्ञानों को ढकने के कारण मतिज्ञानावरणादि नाम से उसके पांच भेद हो गये हैं।

जो आत्मा के दर्शन गुण को ढकता है, उसको दर्शनावरण कहते हैं, उसके नौ भेद हैं। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शनादि दर्शन के नौ भेद पहले कह आये हैं, उनको ढकने वाले कर्म भी नौ हैं-चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरणादि।

मधु लपेटी तलवार की धार के समान सुख और दुःख देनेवाला वेदनीय कर्म है। इसके दो भेद हैं—सातावेदनीय और असातावेदनीय। सातावेदनीय कर्म के उदयवश प्राणी देवेन्द्र, नागेन्द्र और चक्रवर्ती आदि के सुखों को भोगता है और असातावेदनीय कर्म के उदय से शारीरिक और मानसिक अनेक प्रकार के दुःखों को भोगता है।

मोहनीय कर्म के दो भेद हैं–दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से जीव का सम्यग्दर्शन गुण विकृत होजाता है। सम्यग्दर्शन के विकृत होजाने से यह जीव कभी अपने स्वरूप का श्रद्धान नहीं कर सकता और इससे संसार के भयङ्कर दुखों को भोगता रहता है। इसके मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति ये तीन भेद होते हैं।

चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से जीव क्षणभर के लिए भी चारित्र को धारण नहीं कर सकता है।

यह जीव संयम प्राप्त करके भी जिसके उदय से उसके पालन मे प्रमाद करता है, तथा संयम से गिर जाता है, वह भी चारित्र मोहनीय कर्म का फल ही है। इसका आशय यह है कि जब चारित्र मोहनीय कर्म का मन्दोदय होता है, तब संयम पालन में प्रमाद होता है और चारित्र मोहनीय का तीव्र उदय होने पर संयम से पतित होता है।

जिस कर्म के उदय से आत्मा अमुक काल पर्यन्त प्राप्त हुए शरीर में रुका रहता है, उसे आयु कर्म कहते हैं। उसके चार भेद हैं–देवायु, मनुष्यायु, तिर्यंचायु और नरकायु। देवायु के कारण जीव सुखास्वादन में चञ्चल चित्तवाले, महाप्रभावसंयुक्त देवों के शरीर में स्थित रहता है। मनुष्यायु के कारण जीव मनुष्यावस्था प्राप्त कर सुख दुःख का अनुभव करता हुआ अनेक प्रपंचों से काल बिताता है। तिर्यंच आयु के विपाक से जीव त्रस स्थावर रूप अनेक पर्यायो मे नियत काल पर्यन्त वचनागोचर दुःखो का अनुभव करता हुआ स्थित रहता है। तथा नरकायु के विपाक से जीव घोर दुःखो से परिपूर्ण नरकपृथिवियों मे नारकी के शरीर में सागरों पर्यन्त अवस्थित रहता है।

नाम कर्म का उदय जीव के गति, जाति आदि अनेक नाम उत्पन्न करता है। उसके गतिजातिशरीरादि ९३ भेद हैं।

गोत्र कर्म का उदय उच्च और नीच गोत्र मे जीवों के जन्म का कारण होता है।

आठवाँ अन्तराय कर्म है, वह जीवों के दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न डालता है। अर्थात् दान करने की इच्छा होते हुए और दान देने की सामग्री होने पर भी दान नहीं देने देता है। लाभ (वस्तु प्राप्ति का भरसक उद्योग करने पर भी उसका लाभ) नहीं होने देने वाला कर्म लाभान्तराय कर्म है। तथा भोग और उपभोग के सब साधन होते हुए भी वस्तु का भोग व उपभोग करने में विघ्न करने वाला कर्म भोगान्तराय व उपभोगान्तराय है। इसी प्रकार जीव के पराक्रम में बाधा करने वाला कर्म वीर्यान्तराय है।

इस प्रकार इन आठ कर्मों के विपाक का वर्णन किया गया है। तीव्र शक्ति वाले भी आठ कर्म ये तपश्चरणादि के द्वारा मन्द शक्ति वाले करदिये जाते हैं। अर्थात्-तप संयम आदि का आराधन कर ज्ञानावरणादि कर्मों के तीव्र अनुभाग को क्षीण करके मन्द अनुभाग कर दिया जाता है। तथा संवर के धारक अति विशुद्ध परिणाम विशिष्ट तपस्वीजन उग्र तपस्या का आचरण कर अत्यन्त विशुद्ध परिणामों द्वारा गुण श्रेणी निर्जरा का आश्रय लेकर बिना पके कर्मों को पकाकर निर्जरा करते हैं। जैसे कच्चे आम्रादि फल पाल में डालकर शीघ्र पका लिए जाते हैं, वैसे ही आगामी उदय में आने वाले कर्मों के अनुभाग को तपस्या के बल से क्षीण कर उनकी पहले ही निर्जरा करदी जाती है।

इस धर्म्यध्यान के बल से योगीश्वर द्रव्य क्षेत्रादि उत्कृष्ट सामग्री को पाकर तपश्चरण के बल से कर्मों का क्षय करते हैं।

उक्त प्रकार स्वरूप वाले अनेक भेदो से विशिष्ट कर्मों का उदय प्रत्येक समय मे जीवों के हुआ करता है, उसके फल को विचारता हुआ योगी शान्तमोही विपाकविचय धर्म्यध्यान द्वारा दहन करने के योग्य होजाता है।

इस प्रकार विपाकविचय नामक धर्म्यध्यान के तीसरे भेद का वर्णन किया, अब संस्थानविचय नामक ध्यान के चौथे भेद का वर्णन करते हैं—

संस्थानविचय धर्म्यध्यान

लोक के संस्थान (आकार) का जिसमें चिन्तन होता है, उसे संस्थानविचय नामक धर्म्यध्यान कहते हैं।

लोक का स्वरूप

अनन्तानन्तमाकाशं सर्वतः स्वप्रतिष्ठितम् ।
तन्मध्येऽयं स्थितो लोकः श्रीमत्सर्वज्ञवर्णितः ॥ १ ॥ (ज्ञाना. अ. ३६)

अर्थ—सब तरफ-ऊँचे-नीचे-पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण सब ओर अनन्तानन्त प्रदेशवाला आकाश है। इसका कहीं पर भी अन्त नहीं है। वह स्वप्रतिष्ठित है-किसी के आधार पर नहीं है, आप अपने ही आश्रय है। उसके बीच में यह लोक स्थित है, ऐसा श्रीमत्सर्वज्ञ देव ने वर्णन किया है। यह किसी अल्पज्ञ का वचन नहीं है। श्री सर्वज्ञदेव ने अपने केवलज्ञान द्वारा जैसा अवलोकन किया वैसा ही कहा है।

अनन्त आकाश के मध्य लोक स्थित है। इसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य पाये जाते हैं, इसलिए इसे लोक कहते हैं। यह लोक आकाश के मध्य में इस प्रकार स्थित है, जैसे कि घर के मध्य में छींका लटका रहता है। केवल इतना अन्तर है

कि छींका के तो आधार है और यह निराधार है। इस लोक के चारों ओर घनोदधि नामक वातवलय है। उसके आधार पर यह लोक स्थित है। घनोदधि वातवलय के चारों ओर घनवातवलय वायु है, उसके आधार पर घनोदधिवातवलय है। तथा घनवातवलय के चारों ओर तनुवातवलय है, उसके आधार पर घनवातवलय है। और तनुवातवलय आकाश के आधार पर है और आकाश स्वप्रतिष्ठित है। इसका आधार भूत कोई दूसरा द्रव्य नहीं है। क्योंकि आकाश सबसे अनन्त है, इससे अधिक परिमाणवाला दूसरा कोई नहीं है।

यह लोक तीन भागों में विभक्त है। ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। अधोलोक का आकार वेत्रासन (मोढ़े) के आकार समान है। मध्यलोक झालर के आकार समान और ऊर्ध्वलोक मृदंग के आकार समान है।

यह सम्पूर्ण लोक पांव फैलाकर तथा कटि (कमर) पर हाथ रखकर खड़े हुए पुरुष के आकार समान है। नीचे पांव से लेकर कटि पर्यन्त के भाग के समान आकार वाला अधोलोक है। इसकी ऊँचाई सात राजू प्रमाण है। अधोलोक नीचे सात राजू चौड़ा है, पश्चात् क्रम से घटता हुआ कटि पर्यन्त भाग में अर्थात् अधोलोक के अन्तिम भाग में एक राजू चौड़ा रह गया है। इसके नीचे एक राजू प्रमाण क्षेत्र में केवल निगोद जीव राशि है, और ऊपर के शेष छह राजू प्रमाण क्षेत्र में सात नरक पृथिवियां हैं। जिनमें नारकी जीव निवास करते हैं। इस प्रकार अधोलोक सात राजू प्रमाण क्षेत्रवाला है। इसके ऊपर मध्यलोक है। इसकी चौड़ाई तो एक राजू प्रमाण है। जिसमें असंख्यात द्वीप समुद्रों का समावेश है। इसकी ऊँचाई मेरु प्रमाण—एक लाख योजन प्रमाण है। इसके ऊपर मेरु की चूलिका के अग्रभाग में एक बालाग्रभाग के अन्तर पर सौधर्म स्वर्ग का ऋजु विमान है। यहां से ऊर्ध्वलोक का प्रारम्भ होकर तनुवातवलय के अन्तिम भाग में ऊर्ध्वलोक का अन्त होता है। इसकी ऊंचाई भी सात राजू प्रमाण है। और चौड़ाई मध्यलोक के अन्तिम भाग में एक राजू है, उससे क्रमशः बढ़ता हुआ ब्रह्म स्वर्ग में पांच राजू प्रमाण चौड़ा होगया है। फिर यहां से क्रमशः घटता हुआ अन्त में एक राजू प्रमाण चौड़ा रह जाता है। इस प्रकार यह मध्यलोक चौदह राजू प्रमाण ऊँचा है। इसके मध्यभाग में एक राजू प्रमाण चौड़ी और चौदह राजू प्रमाण ऊँची त्रसनाली है। इस त्रसनाली में ही त्रस जीव निवास करते हैं इसके बाहर मारणान्तिक समुद्घात, उपपाद समुद्घात और केवली समुद्घात को छोड़कर त्रसजीव नहीं रहते हैं।

अधोलोक में छह राजू के अन्दर जो सात भूमियां हैं उनमें नारकों का निवास है और वे निवासस्थान (बिल) अत्यन्त भयानक होते हैं। रत्नप्रभा नामक प्रथम पृथिवी से लेकर चार पृथिवियों के तथा धूम प्रभा नामक पांचवी पृथ्वी के ऊपर के एकलाख बिल (नारकियों के निवास स्थान) वज्राग्नि के समान स्वाभाविक रूप से अत्यन्त उष्ण हैं। उनकी उष्णता इतनी उग्र है कि मेरुसमान एक लाख योजन प्रमाण लोहे का गोला यदि वहां डाला जावे तो वह तत्काल पिघल सकता है।

पांचवीं नरक भूमि के नीचे भाग के दो लाख और छठी तथा सातवीं भूमि के एक लाख बिल अत्यन्त शीत युक्त हैं। वे भी इतने ठंडे हैं कि उनमें भी मेरुप्रमाण एक लाख योजन प्रमाण लोहे का गोला डाला जावे तो अति शीघ्र विशीर्ण होजाता है अर्थात् अणुप्रमाण

खंड २ होकर बिखर जाता है। उनमें इतना भयङ्कर शीत है।

हिंसा, असत्य, चोर्य, अब्रह्म और बहुत आरम्भादि उग्र पाप करने वाले महापातकी तथा मिथ्यात्व, अविरति, क्रोधादि तथा रौद्र ध्यान रूप अत्यन्त उग्र परिणाम के धारक, कृष्ण लेश्या के वशीभूत क्रूर जीव उन नरकों में जन्म लेते हैं।

उन नरकों में तलवार की धार के समान अत्यन्त तीखे पत्तोंवाले वृक्ष जगह जगह पर हैं। अत्यन्त उग्र घाम की पीड़ा से बचने के लिए नारकी जीव उन वृक्षों की छाया का आश्रय लेने जाते हैं तो वृक्षों से तलवार की धार से भी तीखे पत्ते उन पर गिरते हैं और उनके शरीर के खंड २ होजाते हैं।

वहां पर रुधे, गले बसा (चर्बी) रुधिर पीप आदि का कीचड़ हो रहा है तथा पीप, सड़े हुए रुधिर, चर्बी आदि से भरी नदी सी बहती है, जिसमें वज्र के समान मुखवाले कीड़े रहते हैं, उनमें नारकी गिराये जाते हैं। उन वज्रमुख कीड़ों के काटने से उनके शरीर में असह्य वेदना होती है। उससे दुःखित होकर बाहर भागते हैं तब उन्हें गीदड़, सिंह, व्याघ्र जन्तु नोच नोच कर खाते हैं। तथा ऊपर से गिद्ध उल्लू, काकादि तीक्ष्ण वज्रसमान चोंच के धारक पक्षी उन्हें तीक्ष्ण चोंचो से चीथ डालते हैं।

वहां पर अतितीक्ष्ण वज्रसमान कांटे वाले शाल्मलि आदि वृक्ष हैं। उनपर नारकी जीव औंधे मुख, ऊपर पांव कर लटकाये जाते हैं। और उन कांटो पर रगड़ कर खैंचे जाते हैं। जब वे असह्य वेदना से पीड़ित होकर चिल्लाते विलाप करते हुए नीचे गिरते हैं, तब वज्र समान दहकती हुई अग्नि वाली विशाल भट्टियों में गिरते हैं। जिनमें लोहे के वज्रसमान कांटे बिछे रहते हैं और जिनमें लोहा पिघलाया जाता है। उनमें वे बारम्बार उछलते गिरते रहते हैं। उनका अणु समान खंड २ होकर बिखर जाता है और पुनः मिल जाता है। वे अनपवर्त्य आयुष्य वाले हैं; इसलिए आयु पूर्ण किये बिना उनका मरण नहीं होता है।

तीसरी पृथ्वी पर्यन्त अम्बावरीषादि असुर कुमार जाति के देव जाते हैं, और उन्हें पूर्वविरोध स्मरण दिलाकर परस्पर नारकियों से लड़ाते हैं। तब नारकी अति क्रुद्ध होकर एक दूसरे को मारने को दौड़ते हैं। कोई सिंहादि का रूप बनाकर दूसरे को खाने लगता है। कोई गिद्धादि पक्षी बनकर नोचने लगता है। कोई करोत बन जाता है और दूसरे नारकी उस करौत को थाम कर तीसरे अपने विरोधी नारकी को कतरने लगता है। कोई तलवार बरछी आदि शस्त्र बनकर अपने शत्रु नारकी को छिन्न भिन्न कराने में कारण बनता है।

वहां की अत्युग्र गर्मी से भयङ्कर प्यास लगती है कि समुद्रों के पानी से भी प्यास शान्त न हो सके; किन्तु वहां एक बूंद भी पानी नहीं मिलता। इसके विपरीत उन्हें पूर्वपाप का स्मरण दिलाकर वे असुर कुमार जाति के देव उन्हें पिघलाया हुआ लोहा और सीसा

पिलाते हैं। वहां क्षुधा इतनी होती है कि संसार भर के अन्न भक्षण कर जाने पर भी शान्त न हो, तथापि वहां एक दाना भी नहीं मिलता।

यह स्मरण रहे कि नारक भूमि में तिर्यंच प्राणी नहीं होते हैं। नारकी विक्रिया से तिर्यंच और शस्त्रादि का रूप धारण कर लेते हैं। वे नारकी शुभ विक्रिया करना चाहें तो भी नहीं कर सकते। हिंसक सिंह शूकर गिद्धादि तिर्यंच जीव रूप तथा शस्त्रादि रूप विक्रिया कर सकते हैं। उनके अपृथक् विक्रिया होती है। अर्थात् एक शरीर से नारकी एक विक्रिया कर सकता है। नारकी अपने एक शरीर से दो या अधिक विक्रिया नहीं कर सकता है। वहां पर तिर्यंचादि जन्तु न होने से वास्तविक मांस रुधिरादि भी नहीं होते; किन्तु वहां की भूमि के पुद्गल वैसे ही दुर्गन्धादि के धारक होते हैं।

वहां की भूमि का स्वाभाविक स्पर्श इतना कठोर होता है कि तीक्ष्णातितीक्ष्ण शस्त्र से भी अधिक दुःखप्रद होता है। सहस्रों बिच्छुओं के एक साथ डंक मारने से जितना दुःख होता है, उससे भी सहस्र गुणित दुःख वहां की भूमि के स्पर्श से होता है।

वहां की भूमि का रस इतना कटु (कडुवा) व घिनौना होता है कि हालाहल विष भी उसकी उपमा धारण नहीं कर सकता।

वहां का गन्ध इतना भयानक होता है कि असंख्य सड़े हुए पंचेन्द्रिय शरीरों से निकलने वाला दुर्गन्ध भी उसकी समानता नहीं कर सकता।

वहां का वर्ण (रूप) भी महाभयानक होता है। जिस पक्षी के पंख नोच लिये गये हों और इसलिए जिसका लिङ् रूप आकार होगया हो, उससे भी असंख्यगुणित असुन्दर वहां की भूमि का वर्ण (रूप) है।

वहां पर असह्य, प्रतीकार रहित सम्पूर्ण रोग एक साथ नारकियों के शरीर में उत्पन्न होते हैं। जिनकी पीड़ा का वर्णन करना वचन शक्ति से बाहर है।

वहां के नारकियो के हुंडक संस्थान है। अर्थात् उनका प्रत्येक अङ्ग उपांग बेडोल और बीभत्स (भयानक) है। उनके नेत्र अग्नि की चिनगारी के समान हैं। जिससे वे अत्यन्त क्रूर मालुम होते हैं तथा उनके सदा आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान ही रहता है।

वहां नित्य आर्त्तनाद-रोने चिल्लाने की कठोर ध्वनि सुनाई देती है और गीदड़ शार्दूल आदि क्रूर प्राणी के आकार दिखाई देते रहते हैं।

वहां पर जन्म लेते ही नारकी अन्तर्मुहूर्त्तमें परिपूर्णावयव होजाता है और उस रुद्र-भयङ्कर स्थान को देखकर अत्यन्त शङ्काकुल होकर मनमें सोचने लगते हैं कि यह भूमि कैसी है। मैं कौन हूं ?, मैं किन कर्मों के कारण यहां लाकर गिराया गया इत्यादि। इसके पश्चात्

विभङ्गावधि (कुअवधि) ज्ञान से वे जानते हैं कि हिंसादि पाप कर्मों के करने मे उत्पन्न हुए रौद्रध्यान से मैं इस नरक समुद्र में पड़ा हूं । ऐसा जानकर उसे अत्यन्त दुःसह पश्चाताप होता है।

वह नारकी जीव विचारता है कि मैंने मनुष्य जन्म भी पाया था, किन्तु उसको विषयाशा मे व्यतीत करदिया, कषायों में और रौद्रध्यान के कार्यों में लगा रहा, जिससे आज मुझे यह घोर भयानक दुःख भोगने के लिए बाध्य होना पड़ा है। वे महापुरुष धन्य हैं; जिन्होंने मनुष्य जन्म को पाकर सम्यक्त्वरत्न को अपनाया है, तथा संसार के भोग-भुजंगो से उद्विग्न होकर विषयवासना से चित्त को हटाया और कामाग्नि को ब्रह्मचर्य-जल से बुझाकर जन्ममरणादि की पीड़ा को शान्त करने के लिए तपस्या का आचरण किया है। अपने शरीर पर-धैर्य धारण कर भयानक उपसर्गरूप अग्नि की वृष्टि की परवाह न कर उन्नत कर्म किये हैं। धर्म्य ध्यान व शुक्लध्यान द्वारा कर्मेंधन को भस्म कर जिनने अनुपम शान्ति सुख की प्राप्ति की है, वे महात्मा धन्य हैं, उनका जीवन धन्य है।

उन महापुरुषो के द्वारा दिये गये उपदेशों की मैंने अवज्ञा की तथा परुष (कठोर) और कटु शब्दो से उनकी निन्दा की।

अविद्या और विषय लालसा से शून्य हृदय हुए मैंने निर्दोष, निरपराध त्रस और स्थावर जीवो का घात किया। परधन की लालसा के वशीभूत हुए तथा परस्त्री संगम की लम्पटता और रौद्रध्यान में तत्पर हुए मैंने चिरकाल तक दुष्कर्म किये, जिसके फलस्वरूप इस अनन्त यातना के कारण दुरन्त नरक सागर मे आकर पड़ा हूं।

हाय! मैं जब स्वतंत्र था, तब भी मैंने आत्महित के कार्य नहीं किये। अब मैं सर्वथा परतन्त्र हूं। शुभकर्म तथा पुरुषार्थ से वर्जित हूं, अब मैं क्या कर सकता हूं।

मैंने अपने शारीरिक बल के गर्व से उद्धत होकर अनेक दीन प्राणियो को सताया, धनिको का धन लूटा, अनेक अनीतिपूर्ण कार्यों मे प्रवृत्ति की। पुर नगरादि में अग्नि लगाई, जल,स्थल और गगनचारी जीव जन्तुओ का वध किया। धन के मद में उन्मत्त होकर अनेक दुर्व्यसनो का सेवन किया। मुनि, श्रावक और सधर्मी बन्धुओ को आहारादि दान न देकर, खोटे पाप कर्मों मे अभिमान वश धन का व्यय किया। छल कपट तथा अन्याय से गरीबो का धन ग्रहण किया। उन दुष्कर्मों का स्मरण भी करौत के समान मेरे चित्त को भेदन करता है।

स्त्री, पुत्र, बन्धुगण, भृत्यादि अब कहां गये, जिनके लिए मैंने अपनी आत्मा का घात करनेवाले अनेक पापकृत्य किये। वे मेरे साथ एक कदम भी नहीं आये, मैं अकेला ही उन दुष्कर्मों का फल भोग रहा हूं।

इस प्रकार वह नारकी जीव विचारता है और अपने चित्त में अत्यन्त व्याकुल होकर दुःख का अनुभव करता है।

मध्यलोक का वर्णन

मध्यलोक झालर के समान आकारवाला है। इसका विस्तार एक राजू प्रमाण है। इसमें असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। उन द्वीप और समुद्रों के मध्य जम्बू द्वीप है। वह वलय (चूड़ी) के समान गोल है। उसका विस्तार एक लाख योजन प्रमाण है। उसके मध्यभाग में एक लाख योजन ऊँचा मेरु पर्वत है। जम्बू द्वीप मे भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं। उन क्षेत्रो को विभक्त करने वाले हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी ये छह कुलाचल हैं।

जम्बूद्वीप को चारों ओर से घेरे हुए (वेढे हुए) लवण समुद्र है। उसका विस्तार दो लाख योजन का है। उसको चारों ओर से घेरे हुए धातकी द्वीप है। उसका विस्तार चार लाख योजन का है। उसमे जम्बूद्वीप से दूनी रचना है। अर्थात् चौदह क्षेत्र और बारह कुलाचल हैं। उसको चारो ओर से घेरे हुए कालोदधि है। उसका विस्तार आठ लाख योजन का है। उसको चारों ओर से वेढे हुए पुष्कर द्वीप है। इस प्रकार एक दूसरे को वेढे हुए दूने २ विस्तारवाले असंख्यात द्वीप समुद्र हैं।

पुष्करद्वीप के ठीक मध्यभाग में चारो ओर गोलाकार मानुषोत्तर पर्वत है। उस मानुषोत्तर पर्वत के पूर्व अढाई द्वीप हैं–जम्बू द्वीप, धातकीखंडद्वीप और पुष्करार्ध। इन ढाई द्वीपों मे और दो समुद्रो मे मनुष्य पाये जाते हैं। मानुषोत्तर पर्वत के आगे मनुष्यो का गमन नहीं है। केवल तिर्यंच निवास करते है, वहां मनुष्य नहीं रहते हैं। अढाईद्वीप और दो समुद्र नरक्षेत्र कहलाता है। वह क्षेत्र अतिसुन्दर है तथा नदी, क्षेत्र पर्वतादि से शोभित है। उस मनुष्यक्षेत्र मे आर्य और म्लेच्छ दो प्रकार के मनुष्य हैं। क्षेत्र–जनित गुणों के कारण आर्य क्षेत्र के निवासी आर्य कहे जाते हैं और म्लेच्छक्षेत्र के निवासी मनुष्य म्लेच्छ कहलाते हैं।

अढाई द्वीप मे पन्द्रह कर्मभूमियां और भोगभूमियां हैं तथा लवण समुद्र व कालोदधि मे अन्तर्द्वीप हैं, वे म्लेच्छ भूमियां हैं।

लवण समुद्र के आठ दिशाओ मे आठ, तथा उनके मध्य मे आठ और हिमवान् तथा शिखरी पर्वत इन दोनों पर्वतों के किनारो पर चार तथा दोनों विजयार्ध पर्वतो के किनारो पर चार, इस प्रकार कुल चौबीस अन्तर्द्वीप हैं। इसी प्रकार चौबीस अन्तर्द्वीप लवणोदधि के बाह्य पार्श्वभाग मे भी होते हैं। इतने ही ४८ अन्तर्द्वीप कालोदधि मे भी होते हैं। दोनो समुद्रो के अन्तर्द्वीप कुल मिला कर ९६ होते हैं। ये सब कुभोग भूमियां हैं। इनमे रहने वाले मनुष्यों की म्लेच्छ संज्ञा होती है। अर्थात् ये अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ कहे जाते हैं।

इस मध्यलोक मे व्यन्तरदेव भी निवास करते हैं। पर्वत की गुफाओं में, वृक्षो पर, शून्यगृहो मे, कूप, बावड़ी, सरोवर आदि

अनेक स्थानो मे व्यन्तर रहते हैं।

इस मध्यलोक में तीर्थंकरादि पुण्यवान् महापुरुष जन्म लेते हैं। क्षायिक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति भी यहां ही होती है। क्योंकि कर्मभूमि मे उत्पन्न हुआ मनुष्य ही केवली तथा श्रुतकेवली के पादमूल मे दर्शनमोहनीय कर्म का क्षपण (नाश) प्रारम्भ करता है। क्षपण करते समय यदि मरजावे तो पहले चारों आयु मे से जिस आयु का बन्ध कर लिया हो, वहां जाकर निष्ठापन (समाप्ति) करता है। अर्थात् चारों गतियो मे जाकर दर्शनमोहनीयकर्म का क्षपण समाप्त कर क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है। चारित्र का धारण भी कर्मभूमिज मनुष्य ही कर सकता है। अन्य कोई नहीं कर सकता। चारित्र साक्षात मोक्ष का साधन है, इसके बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान निष्फल हैं, पंगु हैं। उस सर्वोत्तर चारित्र की प्राप्ति भी मनुष्य के ही होती है। सर्वाभ्युदय (स्वर्गादि प्राप्ति) और मोक्ष के कारणभूत संयम का आराधन भी कर्मभूमि का मनुष्य ही करता है। जिन महात्माओ ने मनुष्य जन्म पाकर रत्नत्रय की आराधना की है,उन्होने ही अपने मनुष्य जन्म को सफल किया है।

आकाश मे जो ज्योतिषी देवो के विमान हैं, वे सब एकसौ दस योजन के मोटे क्षेत्र में आजाते हैं। जम्बूद्वीप के समतल भूमि भाग से सातसौ निव्वे योजन ऊँचे से ज्योतिश्चक्र प्रारम्भ होता है। और नौसौ योजन ऊँचे पर समाप्त होजाता है। इस एकसौ दस योजन परिमाण क्षेत्र मे ज्योतिषी देवों के विमान हैं, उनमें से अढाई द्वीप और दो समुद्र के अन्दर के क्षेत्रवर्ती जो विमान हैं, वे नित्यगतिमान् हैं और इसके बाहर के विमान स्थिर हैं, वे गति नहीं करते हैं। इस सम्पूर्ण ज्योतिश्चक्र का मध्यलोक मे निवास है। इस प्रकार मध्य लोक के स्वरूप का चिंतवन करना संस्थान विचय धर्म्यध्यान कहलाता है।

ऊर्ध्वलोक का वर्णन

इनके ऊपर मेरु पर्वत की चूलिका के बालमात्र के अन्तर पर सौधर्म ऐशान स्वर्ग युगल का प्रारम्भ होता है। उन ऊर्ध्वलोक निवासी देवों को वैमानिक देव कहते हैं। वैमानिक देव दो प्रकार के हैं,कल्पोपपन्न और कल्पातीत। जिनमे इन्द्रादि भेदो की कल्पना होती है उन्हें कल्पोपपन्न कहते हैं और जहां इन्द्रादि भेदों की कल्पना नहीं है उन्हें कल्पातीत कहते है। उनमें सौधर्म ऐशान आदि से लेकर अच्युत स्वर्ग तक सोलह स्वर्ग हैं। वे कल्पोपपन्न हैं। इनके ऊपर देव कल्पातीत हैं। उनमे दो दो स्वर्गों के आठ युगल हैं। और वे युगल एक के ऊपर एक हैं। अर्थात् सौधर्म ऐशान कल्पयुगल के ऊपर सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्पयुगल है। इसके ऊपर ब्रह्म ब्रह्मोत्तर कल्पयुगल है। पुनः इसके ऊपर लान्तव, कापिष्ट है। इसके ऊपर शुक्र और महाशुक्र कल्पयुगल है। इस प्रकार शतार, सहस्रार तथा आनत, प्राणत और आरण, अच्युत स्वर्गों के कल्प युगल एक के ऊपर एक हैं। इन सोलह स्वर्गों के आठ युगलों के ऊपर नवग्रैवेयक हैं। इन नौ ग्रैवेयकों के तीन २ के समुदाय रूप

अधोग्रैवेयक, मध्यमग्रैवेयक और उपरिमग्रैवेयक है। इनके ऊपर नव अनुदिश विमान हैं। आठ दिशाओं में आठ और एक मध्य में स्थित है। इनके ऊपर पञ्च अनुत्तर विमान हैं। चार दिशाओं में चार (विजय वैजयन्त जयन्त और अपराजित) विमान तथा इन चारों के मध्य में सर्वार्थसिद्धि नाम का विमान है। उसके ऊपर पैंतालीस लाख योजन प्रमाण वाली सिद्धशिला है। इस सिद्धशिला का आकार उलटे छत्र के समान है। इसकी मध्य में आठ योजन की मोटाई है और फिर क्रमशः हीन होती हुई अन्त मे अंगुल के असंख्यात भाग प्रमाण अर्थात् मक्खी के पंख के समान पतली है।

उन देवो के निवासस्थान विमानो मे रात दिन का विभाग नहीं होता है। क्योकि वहां सूर्य चन्द्रमा नही हैं, किन्तु वहा पर नेत्रों को आह्लाद देनेवाले रत्नों का उत्कृष्ट प्रकाश निरन्तर रहता है। उन स्वर्गों मे वर्षा, शीत और गर्मी आदि ऋतुओ के परिवर्त्तन से समय का परिवर्त्तन नहीं होता है, किन्तु सदा अतिशय सुख देने वाला वसन्तऋतुसा ही काल बना रहता है।

वहा पर उत्पात, भय, सन्ताप, शत्रु-चौरादि-जन्य त्रास, क्षुद्र जीव तथा दुर्जन स्वप्न मे भी नहीं दिखाई देते, निरन्तर सुख-सुधा रस का पान होता रहता है।

उन स्वर्ग के विमानों की भूमि कही २ तो चन्द्रकान्तमणि से निर्मित है, तथा कहीं २ मूंगे के पत्र समान रत्नों से रची हुई है और कहीं २ नीलमणि आदि नाना प्रकार के सुन्दर उज्ज्वल रत्नो से निर्माण की गई है। स्वर्गों की बावड़ियां माणिक्य की किरणों के समूह से दसो दिशाओ को रञ्जित कर रही हैं। तथा सुवर्ण कमलो से आच्छादित तथा रत्नो के सोपान-सीढ़ियों से सुशोभित हैं।

वहां के सरोवर निर्मल स्फटिक मणि समान स्वच्छ जल से भरे हैं, जिनमें हंस सारस आदि सुन्दर पक्षी मधुर ध्वनि कर रहे हैं, तथा मनोरम दिव्य रूपवती देवांगनाएँ उनके घाटो को अतिरंजित कर रही हैं।

स्वर्गों की देवांगनाएँ छत्र, चँवर, ध्वजादि से अलंकृत विमानो मे बैठ कर अपने नियोगी देवो के साथ यत्र तत्र विचरती हैं तथा नन्दन वनादि में, मन्दार वृक्षो की वीथियो मे (गलियों में) विहार क्रीड़ा करती हैं। वहां यक्ष और किन्नर जाति के देव देवाङ्गनाएँ आनन्द में मग्न होकर मधुर गान कर रहे हैं।

उन स्वर्गों के देव क्रीडा-पर्वत के कुञ्जो में, क्रीड़ा-वन मे, मन्दार-चम्पक-अशोक-मालती आदि के उपवनो मे मन्द सुगन्ध पवन से आमोदित हुए पुष्पो के चुनने का कौतुक करते हैं तथा जल-क्रीडा मे अतिचतुर देवांगनाओ के साथ जलक्रीड़ा विहार करते हैं। कोई २ देवाङ्गनाएँ वीणा लेकर सुन्दर स्वर से गीत गाने लगती हैं और कोई मुरज लेकर मधुर ध्वनि से आलापती हैं।

उन स्वर्गों में कल्पवृक्ष पर बैठी हुई कोकिलाएँ और चैत्य-मन्दिरों में सुरसुन्दरियां सललित सुस्वर गान करती हैं, उनको सुनकर देवों के अन्तःकरण मे आनन्दोल्लास होता है।

स्वर्गों में पञ्चवर्णों के महारत्नों से निर्माण किये सात २ खन के अत्यन्त मनोज्ञ, सम्पूर्ण सुख-सामग्री-परिपूर्ण प्रासाद हैं-महल हैं, वापिका है तथा सङ्गीतादि से सम्पन्न अट्टालिकाएँ हैं।

स्वर्गों की पुरियां सुन्दर कोट, खाई, बड़े २ दरवाजे और ऊँचे २ तोरण तथा चैत्यवृक्ष और देवों के सुन्दर २ भवनों से अति शोभित हैं। वे नगरियां देवों के महल के अग्रभाग में लगे हुए रत्नों के पुञ्जों से अतिरञ्जित हो रही हैं इसलिए वे आकाश मे सर्वदा इन्द्र धनुष की शोभा को धारण किये रहती हैं।

वहां पर देवों की हस्ती, अश्व, रथ, प्यादे, वृषभ (बैल), गन्धर्व, नर्त की ये सात प्रकार की सेना हैं। आभियोग्य जाति के देव हस्ती अश्वादि वाहनरूप वैक्रियिक शरीर बना कर देवेन्द्र की सेवा करते हैं। वहां पर सेना युद्ध के काम में नहीं आती; क्योंकि देवेन्द्र से युद्ध करने का सामर्थ्य किसी देव का नहीं है। अतः वहां पर सेना केवल प्रभुत्व तथा ऐश्वर्य का प्रदर्शन करने के लिए होती है।

स्वर्ग की देवांगनाएँ विनय गुण सहित तथा अपनी इच्छानुकूलरूप बनाने में प्रवीण हैं, महाऋद्धि की महिमा से परिपूर्ण हैं, हाव भाव विलास में चतुर हैं। मानो वे शृंगार रस को एकत्र करके निर्माण की गई हैं। ऐसी अप्सराएँ स्वर्ग को आनन्द मय बना रही हैं। गीत, नृत्य और वादित्र मे उनकी नैसर्गिक दक्षता है। नूपुर की झनकार और कोकिल समान कण्ठ-ध्वनि से देवों के मन को आनन्दित करती रहती हैं।

स्वर्गों के देव हार, केयूर, अङ्गद, कुण्डल, मुकुट आदि सुन्दर दिव्य अलंकार से विभूषित, अपनी महामनोहर ललित आकृति से देवांगना के मन को प्रफुल्लित करते हैं और सदा मनोविनोद की सामग्री से परिपूर्ण उपवन वाटिका आदि मे निरा विहार करते हुए सागरों पर्यन्त काल को सुख पूर्वक बिताते हैं।

वहां पर (स्वर्गों में) कोई दुःखित, दीन, वृद्ध, रोगी, गुणहीन, विकलाङ्गी, निर्धन नहीं दिखाई देता है। सब सदा कल्पवृक्षों से मनोवांछित भोगसामग्री को पाकर सुख मे मग्न रहते हैं।

स्वर्गों में देवों का जन्म उपपाद शय्या में होता है, जो कि अत्यन्त भव्य, कुन्द-पुष्प समान कोमल है, तथा सुन्दर महारत्नों से निर्मित विमान के एक भाग मे संपुटाकार एक मनोरम प्रदेश है; जो समस्त इन्द्रियों के सुख सामग्री से सुसज्जित है, जहां नित्य उत्सव होता

रहता है, गीत, नृत्य, वादित्रों की लीलाओं से परिपूर्ण हैं, तथा 'जय जय' जीव जीव अर्थात तुम्हारी जय हो, तुम सदा जीवित रहो, इस
प्रकार के शब्दों से व्याप्त रहता है। ऐसे स्थान मे उत्पन्न होने वाले देवों का संस्थान (आकार) अति सुन्दर होता है। उनका शरीर सप्तधातु
से वर्जित होता है। उनके शरीर की प्रभा से दशो दिशाएँ जगमगा उठती हैं। उनका शरीर शिरीष कुसुम के समान अति कोमल तथा
सुलक्षणों से लक्षित होता है। अणिमा महिमा आदि गुणों से विभूषित होता है। वे अवधिज्ञान आदि ज्ञान और अनेक चतुराइयो के धारक
होते हैं। तथा चन्द्रमा के समान अन्य जन को शान्ति और आह्लाद देने वाले होते हैं। उनका चित्त शुभ है तथा अचिन्त्य महिमा से सहित हैं
तथा भय क्लेश पीड़ा और चिन्ता से रहित है। उनके उत्सव प्रतिदिन वृद्धिगत होते रहते हैं। उनके शरीर वज्र समान दृढ़ हैं व पराक्रमशील
हैं। देव अपने पूर्वभव सञ्चित पुण्य के योग से स्वर्ग में उपपाद शय्या में इस प्रकार जन्म लेते हैं, जैसे कोई सुख समुद्र के मध्यभाग से
निकला ही हो। वे अन्तर्मुहूर्त मात्र मे नवयौवन युक्त शरीर,की सम्पत्ति से विभूषित होते हैं।

उनके जन्म की सूचना फल फूल से भरे हुए तथा कोमल पत्तों से परिपूर्ण और कोकिल के सुमधुर आलाप से ध्वनित वृक्षों से
होती है। वे देव उपपाद शय्या मे ऐसे उत्पन्न होते हैं जैसे कोई सोता हुआ उठे।

जन्म लेते ही वे देव सावधान होकर चारों ओर दृष्टिपात करते हैं और ऐसा विचार करते है कि अहो ! यह क्या इन्द्रजाल
है ? अथवा मुझे क्या स्वप्न आ रहा है ? यह कोई मायानिर्मित भ्रम है ? यह दिखाई देने वाला दृश्य तो बड़ा आश्चर्यजनक है? चित्त मे सन्देह
होता है, लेकिन निश्चय नहीं होता है कि यह वास्तव में क्या है ?

यह वस्तु अतिरमणीय है, सेवन करने योग्य है, यह सराहने के योग्य है, यह हितकर है, यह प्रिय व भव्य (सुन्दर) है, चित्त
को प्रसन्न करने वाली है। यह आनन्द को अंकुरित करने वाला और सुख का आगार है। यह स्थान सब महाऋद्धियों की महिमा से परिपूर्ण,
महर्द्धिक देवों से पूजनीय, सात प्रकार की सेना से सुसज्जित, देवेन्द्र के सभामण्डप के समान शोभित हो रहा है।

फिर वह देव सोचता है कि जो ये लोग सम्मुख खड़े हैं, वे मुझे देखकर ही आनन्द मय क्रियाएँ कर रहे हैं। ये अति पवित्र
और उज्ज्वलाकार हैं। अत्यन्त विनीत सराहने योग्य और अत्यन्त प्रेम मे मग्न हैं, अत्यन्त प्रीति दिखा रहे हैं।

यह कौनसा देश (स्थान) है जो सुख की खानि है, विशाल महिमा का आश्रय है, तथा सम्पूर्ण लोगों से अभिनन्दित है ?

यह नगर अत्यन्त विशाल है और वन,उपवन,सरोवर,वापिकादि से सुशोभित है। तथा अपनी विभूति से विश्वभर को तिरस्कृत
करके ध्वजा के हिलते हुए वस्त्रों से मानो नाच ही रहा है।

पृ० कि० ३

इस प्रकार उपपाद शय्या मे तत्काल उत्पन्न हुए देवेन्द्र के अभिप्राय को उसस्थान के मन्त्री देव अवधिज्ञान रूपी दिव्य नेत्रों से जानकर बड़े विनय से झुककर नमस्कार करके कहते हैं कि 'हे' देव ! हम सेवकों पर प्रसन्न हूजिये, हम पर प्रसाद पूर्ण दृष्टिपात कीजिए, तथा हमारे पूर्वापर परिपाटि के प्रकाश करनेवाले वचनों को सुनिए।

हे नाथ ! आपने यहां उत्पन्न होकर हम को धन्य बनाया है। हमारा जन्म आज सफल हुआ है। आपके जन्म लेने से यह स्वर्ग पवित्र होगया है। हे पुण्य के भण्डार ! आपकी जय हो, आप चिरकाल तक जीवित रहो। आपका यहां जन्म धारण करना पुण्यरूप है। आप अब इस सम्पूर्ण स्वर्ग के स्वामी हूजिए।

यह आपका छत्र है। यह पूजनीय आप का सिंहासन है। यह चमरों का समूह है। ये विजय पताकाएँ हैं। और ये आपकी अग्र महिषी (पट्ट देवियाँ) हैं। इनकी उत्तम देवाङ्गनाएँ सेवा करती हैं।

हे नाथ ! यह आपका महा मनोहर ऐरावत देव हस्ती है। जो अणिमा, लघिमा, गरिमा आदि अष्ट गुणो के ऐश्वर्य से विश्व का तिरस्कार करने वाली शोभा को धारण करता है।

हे स्वामिन् ! यह आपकी सात प्रकार की देवसेना है। उसमे यह मदोन्मत्त हाथियो की सेना है। इधर मनके समान वेगवाले अश्वो की सेना है। ये स्वर्ण-निर्मित ऊँचे ऊँचे रथों की सेना है। ये प्यादों की सेना इधर उधर चल फिर रही है। ये ऊँचे स्कन्धों से सुन्दर वृषभों की सेना है। इधर ये गन्धर्वों और नर्त्तकियों की सेना चित्त को प्रफुल्लित कर रही है। ये सात प्रकार की देवसेना पूर्ववर्त्ती देवेन्द्रो से पालन की गई हैं, आपके चरण युगल को नमस्कार करती हैं और आपकी विनीत भाव से स्तुति कर रही हैं, दिव्य-सेवक समूह से शोभित यह सम्पूर्ण स्वर्ग का साम्राज्य आप के पवित्र पुण्य से सम्मुख स्थित है और ये सब देव आपको नमस्कार कर रहे हैं।"

इस प्रकार अत्यन्त स्नेहयुक्त अतिप्रिय बोलने वाले मत्री के पूर्वापर का वर्णन करने के पश्चात् वह सौधर्मस्वर्ग का इन्द्र उसी समय अवधिज्ञान का उपयोग कर समस्त पूर्वापर परिपाटी को जान लेता है। अर्थात् अवधिज्ञान रुपी नेत्र से सब वृत्तान्त को प्रत्यक्ष जान लेता है। और जानकर मन ही मन सोचता है कि अहो ! मैंने पूर्वकाल में महा दुष्कर तपश्चरण किया था, तथा जीवित रहने की इच्छा रखने वाले प्राणियों को अभय दान दिया था, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप का साधन किया था, देवाधिदेव सर्वज्ञ जिनेश्वर देव की आराधना की थी। इन्द्रियो के विषय वन का दहन किया था। ब्रह्मचर्य का सेवन कर काम-शत्रु का निपात किया था। क्षमा-मार्दवादि धर्म रूप परशु द्वारा कषाय रूपी वृक्षों का छेदन किया था। राग शत्रु का नियन्त्रण किया था। ये सब उन्हीं का प्रभाव है।

इसके अनन्तर वह देवेन्द्र पुनरपि विचारता है कि सम्यक्चारित्र रूपी शीतलजल का सिंचन किये बिना यह प्राणियो की रागादि रूप अग्नि ज्वाला सैंकडो जन्मों मे भी शान्त नहीं हो सकती। उस सम्यक्चारित्र की प्राप्ति तो यहां असंभव है। इसलिए अव मुझे क्या करना चाहिए? इस देवों के निवास क्षेत्र स्वर्गलोक मे सम्यग्दर्शन की योग्यता है; अतः मेरे स्वार्थ की सिद्धि करने के लिए तत्त्वार्थ की श्रद्धा रखना ही श्रेयस्कर है, तथा अर्हंत देव के चरणयुगल की निश्चल भक्ति ही मेरे कल्याण को करनेवाली है। इसलिए यहां स्वर्गलोक के विमानो मे चैत्य वृक्षों पर अथवा अन्य मेरु आदि के उपवनो में जो जिनेन्द्र भगवान के प्रतिविम्ब हैं, उनका प्रथम ही इस १.। मे उत्पन्न हुए जल-गन्धाक्षत कल्पवृक्ष के पुष्प-नैवेद्य-दीप-धूप-फलादि अष्ट द्रव्य समूह से श्रद्धा भक्तिपूर्वक पूजन करके देवो से वन्दनीय इस स्वर्ग के वैभव को ग्रहण करना चाहिए। ऐसा मन मे विचार कर वह देवेन्द्र त्रैलोक्येश्वर सर्वज्ञ अर्हंत देव की भक्ति पूर्वक पूजा करके महोत्सव पूर्वक स्वर्ग के साम्राज्य का स्वामी वनता है।

तत्पश्चात् वह देवेन्द्र तथा अन्य देव अपनी देवांगनाओ को साथ मे लेकर मन के समान द्रुतगति वाले विमानो द्वारा स्वेच्छानुसार सुन्दर २ बन उपवन पर्वत तथा सागरान्त तटो पर क्रीड़ा करते फिरते हैं। तथा सात प्रकार की देव सेनाओ से सेवित और मानसिक संकल्प मात्र से समुत्पन्न इन्द्रिय और मन को तृप्ति देनेवाले दिव्य भोगों को भोगते हुए सुख से निवास करते हैं। तथा सुखसागर मे मग्न होकर बीते हुए सागरों पर्यन्त काल को भी नही जानते हैं।

स्वर्गों मे देव मद्यांग, तूर्यांग, गृहांग, ज्योतिरङ्ग, भूषाङ्ग, भोजनाङ्ग, मालाङ्ग, दीपाङ्ग, वस्त्राङ्ग, और पात्राङ्ग, जाति के दश कल्प वृक्षो से उत्पन्न भोग सामग्री द्वारा निरन्तर सुख का आस्वादन करते है, तथा कल्पनातीत वैभव के विनोद मे मग्न रहते हैं।

देवो को जो सुख स्वर्ग मे मिलता है, उसका वर्णन करने का सामर्थ्य किसी मे भी नहीं है। क्योंकि वह सुख बिना खेद के उपलब्ध होता है, उसमे रोग, भय, त्रासादि नहीं है और वह सुख सम्पूर्ण इन्द्रियो को तृप्ति देने वाला है।

सौधर्म स्वर्ग से लेकर अच्युत स्वर्ग पर्यन्त सोलह स्वर्गों की कल्प संज्ञा है। क्योंकि इनमे दश प्रकार के देव भेदों की कल्पना होती है। ये सप्रविचार अर्थात् मैथुन सहित होते हैं इनके ऊपर के जो नव ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पांच अनुत्तर विमान हैं, उन्हें कल्पातीत (दश प्रकार की कल्पना रहित) कहते हैं। इनमें रहने वाले प्रत्येक देव अहमिन्द्र होते है। ये प्रवीचार (मैथुन) वर्जित हैं, इसीलिए वहां देवांगनाएँ नहीं होती हैं। उन देवो मे उत्तरोत्तर शुभ ध्यान बढ़ता चला गया है। और सब शुक्ल लेश्या वाले है, परन्तु उत्तरोत्तर बढ़ती हुई शुक्लतर और शुक्लतम लेश्या है।

विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित इन चार अनुत्तर विमानवासी अहमिन्द्र देव दो भव मनुष्य के धारण कर निश्चय से

निर्वाण पद पाते हैं, तथा सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र एक मनुष्य भव पाकर अविनश्वर निःश्रेयसपद पाते हैं।

सौधर्म से लेकर अच्युत स्वर्ग पर्यन्त इन सोलह कल्पस्वर्गों के देव शुभलेश्या, आयु, इन्द्रियो के विषय तथा अवधिज्ञान और प्रभानादि मे उत्तरोत्तर अधिक २ बढ़ते हुए हैं।

अनुत्तर विमानो के ऊपर सिद्धशिला है, उसके आगे तीन वातवलय (घनोदधिवातवलय, घनवातवलय, और तनुवातवलय) हैं। तनुवातवलय का जो पांचसौ पच्चीस धनुप प्रमाण अन्तिम लोक का क्षेत्र है, उसमें सम्पूर्ण कर्म रहित सिद्ध परमेष्ठी का आधार-क्षेत्र है।

इस प्रकार संक्षेप से लोक का वर्णन किया है, उसका विशेष विवेचन लोकभावना में करेंगे। धर्म्यध्यान में प्रवृत्त करनेवाले यतीश्वर को ऊपर बताये गये लोक के स्वरूप का चिन्तवन करना चाहिए। इसको संस्थानविचय नामक धर्म्यध्यान कहते हैं। इस संस्थान विचय नामक धर्म्यध्यान मे पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ये ध्यान के चार भेद माने गये हैं। अब इनका निरूपण करते हैं।

पिण्डस्थ ध्यान

पिण्डस्थं पञ्च विज्ञेया धारणा वीरवर्णिताः।
संयमी यास्वसंमूढो जन्मपाशान्निकृन्तति ॥ २ ॥
पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसना वाथ वारुणी।
तत्वरूपवती चेति विज्ञेयास्ता यथायथम् ॥ ३ ॥ (ज्ञाना० अ० ३६)

अर्थ—श्रीवर्द्धमानस्वामी ने पिण्डस्थ ध्यान मे पार्थिवी, आग्नेयी (अग्निधारणा) श्वसना (वायु धारणा) वारुणी (जल धारणा) तत्त्वरूपवती ये पांच धारणाएँ कही हैं। संयमी मुनी इन पॉचों से अनासक्त होकर संसार रूपी पाश का छेदन करता है।

पार्थिवी धारणा का स्वरूप

इन्द्रिय और मनवचनकाय को रोककर तथा योग्य आसन लगाकर ध्यान का इच्छुक संयमी प्रथम मध्यलोक के समान क्षीर सागर का चिन्तन करे। जो निः शब्द है, कल्लोल रहित है, तथा जो निर्मल बर्फ समान धवल जल से भरा हुआ है। उस क्षीर समुद्र के मध्यभाग मे सुन्दराकार देदीप्यमान दीप्तिवाले, तपाये हुए स्वर्ण कीसी प्रभावाले एक सहस्र दल के कमल का चिन्तन करे। जो कमल मध्यवर्ती

कसर समूह से रंजित है तथा चित्तरूपी भ्रमर को लुभानेवाला अतिसुन्दर एकलाख योजन के विस्तारवाला है, उस कमल के बीचो बीच मेरु के समान दिव्य कर्णिका का चिन्तन करे। जो कर्णिका अपनी अग्नि के कण समान प्रभा के पुंज से सब दिशाओ को पीतवर्णमय कर रही है।

उस कमल-कर्णिका के मध्य में शरदृऋतु के चन्द्रमा के समान श्वेतवर्ण के एक ऊँचे सिंहासन का चिन्तन करे। उस सिंहासन पर शान्तरूप क्षोभ रहित सुखपूर्वक अपने आपको बैठा हुआ चिन्तन करे। अर्थात् ऐसा विचार करे कि मैं उस सिंहान पर शान्त-क्षोभादि रहित, रागद्वेषादि भाव कर्म, भवभव मे उत्पन्न हुए ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और नोकर्म के क्षय करने मे समर्थ, आसन लगाकर बैठा हुआ शान्त भावरूपी निर्मल जल से कर्मरज को धोरहा हूँ। यह पार्थिवी धारणा का स्वरूप है।

आग्नेयी धारणा का स्वरूप

जब उक्त प्रकार के ध्यान मे चित्त स्थिर होने लगे, तब उसी सिंहासन पर बैठा हुआ अपने शरीर के भीतर नाभि मंडल पर मनोहर, ऊपर की ओर उठे हुए सोलह दल (पत्र) के कमल का चिन्तन करे। और कमल के सोलहो पत्रों पर क्रम से अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः इन सोलह अशरों का चिन्तन करे। तथा उस कमल के मध्य जो कर्णिका है, उसमें चन्द्र के समान दीप्ति से सब दिशाओं को देदीप्यमान करने वाले महामन्त्र "हूँ" स्थापना कर ऐसा चिन्तन करे कि—

पूर्वोक्त षोडशदल के कमल के ऊपर हृदयस्थित अधोमुख (नीचे मुख किये हुए औंधे) अष्ट दल के कमल की रचना करे, और उस कमल के आठ पत्तों पर क्रम से ज्ञानावरण दर्शनावरणादि आठ कर्मों की स्थापना करे। तत्पश्चात् चिन्तना करे कि नाभिमंडल पर षोडश दल के कमल की कर्णिका पर जो महामन्त्र 'हूँ' स्थापित किया है उसके रेफ से निकलती धूमशिखा का चिन्तन करे। फिर अग्नि के कण की पंक्ति निकल रही है ऐसा स्मरण करे। तत्पश्चात् निकलती हुई अग्नि की ज्वालाओं का चिन्तन करे। उस के बाद उन अग्निज्वालाओं से ज्ञानावरणादि कर्मों से अंकित उस कमल को जलता हुआ चिन्तन करे। ऐसा ध्यान करने से अष्ट कर्मों का दहन होता है, यह चैतन्य परिणामो का सामर्थ्य है, क्योकि पदार्थों की शक्ति अचिन्त्य है। आत्मा भावो के बल से ही बन्धता है और बन्ध से विपरीत भावना के बल से ही कर्मों का क्षय करता है।

उस हृदयस्थित औंधे आठ पांखुडीवाले कमल के जल जाने के पश्चात् शरीर के बाह्य भाग मे त्रिकोण (तीन कोने वाला) अग्निमडल का चिन्तन करे। वह अग्नि निरन्तर उठती हुई ज्वालाओ से सतत जलती हुई बड़वानल के समान है, तथा अग्नि के बीजाक्षर 'रं' से व्याप्त है, और उसके अन्त के तीनों कोने 'स्वस्ति' से अङ्कित हैं, ऐसा विचार करे। इसके पश्चात् सोचे कि भीतर की अग्नि तो आठ कर्मों को भस्म कर रही है, तथा धक् धक् लपटें उठाती हुई बाहर की अग्नि शरीर को दग्ध कर रही है। इस प्रकार सम्पूर्ण कर्म और समस्त

शरीर भस्मीभूत हुआ–विचारे। तत्पश्चात् शनैः शनैः उस अग्नि की ज्वालाओं की शान्ति का चिन्तन करे। इसे आग्नेयी धारणा कहते हैं।

श्वसना (वायवीय) धारणा का स्वरूप

ध्यान परायण योगी एक ऐसे महाप्रबल वायुमण्डल का चिन्तन करे जो सम्पूर्ण आकाश को व्याप्त कर संचरण कर रहा है। जो अपने तीव्र वेग से देवों की सेना को विचलित कर रहा है। जो सम्पूर्ण स्वर्ग भूमि तथा मेरु पर्वत को कम्पित कर रहा है, मेघ समूह को बिखेरता हुआ समुद्र को क्षोभित कर रहा है, समस्त लोक के मध्यभाग में गति करता हुआ, सम्पूर्ण दिशाओ मे संचरण करता हुआ, जगत् रूप भवन मे प्रवेश करके, उसकी सम्पूर्ण धूलि को तथा शरीरादि की जो भस्म हुई थी, उसको तत्काल इस प्रबल वायु मंडलने उड़ा दिया है–ऐसा चिन्तन करे। तत्पश्चात् ध्यानाभ्यास के बल से उस वायु को शनैः शनैः स्थिर चिन्तन करता हुआ पूर्णशान्त हुआ कल्पना करे।

वारुणी धारणा का स्वरूप

फिर ध्यानी मुनि इन्द्रधनुष की रचना, बिजलियों की चमचमाहट सहित घन घोर गर्जना करते हुए मेघ मण्डल से भरे हुए आकाश का ध्यान करे। उस मेघसमूह से उत्पन्न हुए अमृत समान जल की स्थूल मोतियों कीसी बूंदो से निरन्तर धारा-संपात वृष्टि करते हुए आकाश मण्डल का चिन्तन करे।

तदनन्तर अर्धं चन्द्राकार, अतिमनोहर, अमृत मय जलके प्रवाह से आकाश को प्लावित (जलमग्न) करते हुए वरुण (जल) मण्डल का चिन्तन करे। अचिन्त्य प्रभाव वाले दिव्य ध्यान से उत्पन्न हुए उस जल प्रवाह से शरीर के दग्ध होने से उत्पन्न हुए सम्पूर्ण भस्म को मैं धोरहा हूँ, ऐसा चिन्तन करे।

तत्त्वरूपवती धारणा का स्वरूप

तत्पश्चात् ध्यानी संयमी सप्तधातुवर्जित, पूर्णचन्द्र समान निर्मल कान्तिका धारक, सर्वज्ञ समान अपने आत्मा का ध्यान करे। इसके पश्चात् चिन्तन करे कि मैं गर्भादि कल्याण की महिमा से विशिष्ट हूँ। तथा देवेन्द्र, नागेंद्र व असुरेन्द्र मेरी पूजा कर रहे हैं, ऐसा स्मरण करे। इसके अनन्तर चिन्तन करे कि मेरे अष्ट कर्मों का सर्वथा क्षय होगया है तथा मेरा आत्मा अति निर्मल स्फुरायमान हुआ पुरुषाकार को धारण किये हुए मेरे शरीर के अन्दर विराज रहा है। ऐसे ध्यान को तत्त्वरूपवती धारणा कहते हैं।

इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यान करने में जिस का चित्त अभ्यस्त होगया है, वह ध्याननिरत ध्याता सयमी दूसरो से असाध्य, अमृत रूप शिव (मोक्ष) सुख को अत्यल्पकाल मे ही प्राप्त कर लेता है।

पिण्डस्थध्यान का उपसंहार

उक्त कथनानुसार पिंडस्थ ध्यान मे अपने आत्मा को सर्वदोषो से रहित, नूतन अमृत पुञ्ज तथा घनीभूत चन्द्रकिरण तुल्य गौर वर्ण और श्रीमत्सर्वज्ञदेव समान चिन्तन करे। तथा सोचे कि मैं सुवर्ण गिरि (मेरु) के शिखर पर सिंहासन पर विराजमान हूँ। संसार के सब प्रपञ्चों से मैं सर्वथा अलग हूँ। सुरेन्द्र, असुरेन्द्र और नागेन्द्र से भी मेरा प्रभाव अचिन्तनीय है। समस्त ज्ञेय पदार्थ मेरे ज्ञान मे प्रतिबिम्बित होने से मैं विश्वरूप हूँ। सब कल्याणक की प्रसूति की आधार भूमि हूँ। तथा अष्टकर्म मल और रागद्वेषादि कलङ्क धो डालने से पुरुषाकार सिद्ध स्वरूप हूँ। इस प्रकार ध्यान करने को श्रुतज्ञान-समुद्र के पारंगत मुनीश्वरों ने पिण्डस्थ ध्यान कहा है।

पिण्डस्थ ध्यान का प्रत्यक्ष फल

विद्यामण्डलमन्त्रयन्त्रकुहकक्रूराभिचाराः क्रियाः।
सिंहाशीविषदैत्यदन्तिशरभा यान्त्येव निःसारताम् ॥
शाकिन्यो ग्रहराक्षसप्रभृतयो मुञ्चन्त्यसद्वासनां,
एतद्ध्यानधनस्य सन्निधिवशाद्भानोर्यथा कौशिकाः ॥ ३२ ॥ (ज्ञाना. अ. ३७.)

अर्थ—जैसे-सूर्य का उदय होने पर उल्लू हतवीर्य होकर भाग जाते हैं, वैसे ही इस पिण्डस्थ ध्यान रूप धन के समीपस्थ होने पर सब विद्यामण्डल, मन्त्र, यन्त्र, इन्द्रजाल, छल-कपट, क्रूर अभिचार (मारणादि क्रिया, मूंठ आदि) क्रियाएँ तथा सिंह, सर्प दैत्य, दन्ती मदोन्मत्त हाथी, अष्टापद आदि निःसारता को प्राप्त होते हैं। अर्थात उनका बल क्षीण हो जाता है। तथा शाकिनी, भूत, राक्षस, पिशाचादि अपनी बुरी वासनाओं को छोड़ देते हैं। अर्थात् वे कुछ भी उपद्रव करने में समर्थ नहीं होते हैं।

शङ्का—ध्यान मे शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य, चमत्कार, अनन्त ज्ञानादि गुण-मण्डित आत्मा का ही चिन्तन करना चाहिए। इन पृथिवी जल या अग्नि आदि की धारणा का चिन्तन करने से आत्मा को क्या लाभ होता है ?

समाधान—यह आत्मा अनादि काल से ज्ञानावरणादि अष्टद्रव्यकर्म, रागद्वेषादि भावकर्म तथा औदारिकादि नोकर्म के वशीभूत होने से पराधीन हो रहा है। तथा ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय से आत्मा मे रागद्वेषादि भाव उत्पन्न होते हैं और उनके कारण मनमे सङ्कल्प विकल्प उत्पन्न होते हैं; इसलिए आत्मा शुद्ध आत्मा के ध्यान में स्थिर नहीं रहता। उसको स्थिर करने के लिए बाह्य, अनुभूत, साकार

पदार्थ के आलम्बन की आवश्यकता प्रतीत होती है। उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए पार्थिवी आदि धारणाओं की कल्पना की गई है। ध्याता प्रथम पार्थिवी धारणा से मन को थांभने का अभ्यास करे। जब मन की चञ्चलता कुछ २ रुकने लगे तब ध्यानाभ्यासी आग्नेयी धारणा से कर्मों को और शरीर को भस्म करने की कल्पना द्वारा मनको रोके। तदनन्तर वायवीय धारणा से प्रबल वायु वेग से उस कर्म और शरीर सम्बन्धी भस्म को उड़ाने की कल्पना का चिन्तन करे। तत्पश्चात् जलीयधारणा से कर्म और शरीर की अवशिष्ट भस्म को धो डालने के विचार में मन का स्तंभन करे। तत्पश्चात् तत्त्वरूपवती धारणा में औदारिकादि शरीर रहित तथा अष्ट कर्मों से शून्य शुद्ध चिदानन्दरूप आत्मा का ध्यान करे। इस प्रकार चित्त की चञ्चलता का स्तंभन कर स्थिरता का अभ्यास करते २ जब आत्मा अपने अन्तःकरण को निश्चल कर लेता है, तब शुक्ल ध्यान में प्रवृत्ति करता है। शुक्लध्यान में पृथक्त्ववितर्कविचार, एकत्ववितर्क अविचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवर्ती इन चारों भेदों को क्रम से प्राप्त होकर घातिया कर्म तथा अघातिया कर्म का नाश करके सदा सुखमय मोक्ष को प्राप्त होता है। अन्यमत में भी पार्थिवी आदि धारणा के आराधन का वर्णन है तथा उसके अनुसार वे ध्यान करते हैं, किन्तु आत्मसिद्धि का अभाव होने से वे हेय हैं। कभी कभी उनसे लौकिक चमत्कार की सिद्धि होती है। परन्तु उससे आत्मा का कुछ भी हित नहीं होता, मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। मोक्ष की प्राप्ति तो तत्त्वश्रद्धा, तत्त्वज्ञान और तत्त्वज्ञानपूर्वक आचरण करने से होती है। इनका उनमें अभाव है; इसलिए वे आत्महित के मार्ग में न लगकर संसार की क्रियाओं में ही लगे रहते हैं; अतः आचार्य महाराज ने इन पांच धारणाओं द्वारा सम्यक् प्रकार मनको रोकने के अभ्यास का उपदेश दिया है।

इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यान में पांचों धारणाओं का वर्णन समाप्त हुआ।

पदस्थ ध्यान

पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते।
तत्पदस्थं मतं ध्यानं विचित्रनयपारगैः॥ १ ॥ (ज्ञाना. अ. ३८)

अर्थ—जिसमे योगीश्वर पवित्र मन्त्र पदों का आलम्बन लेकर चिन्तन करते हैं, उसे विविध नयशास्त्र के पारगामी योगीश्वरों ने पदस्थ नाम का ध्यान माना है। पदस्थध्यान में मंत्र पदों का ध्यान होता है। जिनका स्मरण मात्र भी पुण्य की वृद्धि करता है—ऐसे पवित्र मन्त्राक्षरों का चिन्तन करना, उनमें अपनी चित्तवृत्ति को रोकने का अभ्यास करना, पदस्थ नामा धर्म्यध्यान कहलाता है।

वर्णमातृका का ध्यान

अनादि सिद्धान्त में प्रसिद्ध, सम्पूर्ण वाङ्मय रचना की जन्मभूमि तथा जगत् में वन्दनीय वर्णमातृका है, उसका चिन्तन करना चाहिए।

सारांश यह है कि समस्त आगम की रचना की कारणभूत वर्णमातृका अर्थात् स्वर और व्यञ्जन हैं, उनका चिन्तन करना पदस्थ नामा धर्म्यध्यान है।

ध्यान करनेवाला नाभिमण्डल के ऊपर षोडश दल (सोलह पांखुडी) के कमल की कल्पना करके उस कमल के प्रत्येक पत्र पर क्रम से फिरती हुई 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः' इस स्वरावली का चिन्तन करे।

इसके पश्चात् ध्यान का अभ्यासी मनुष्य अपने हृदय स्थान पर कर्णिका सहित चौबीस पत्रों का कमल चिन्तन करे। उसकी कर्णिका तथा पत्रों में क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म इन पच्चीस व्यञ्जनाक्षरों का चिन्तन करे।

इसके बाद आठ पत्रों से विभूषित मुखस्थ कमल में प्रत्येक पत्र पर भ्रमण करते हुए क्रम से य र ल व श ष स ह इन आठ व्यञ्जनाक्षरों का ध्यान करे।

इस प्रकार अनादि प्रसिद्ध वर्ण-मातृका का निरन्तर ध्यान करता हुआ योगी भ्रान्ति रहित श्रुतज्ञान रूपी समुद्र का पारगामी होता है। अर्थात् उक्त प्रकार से वर्णमातृका का निरन्तर ध्यान करनेवाले मुनि के ज्ञानावरणादि कर्मों का विशेष क्षयोपशम होता है और निरन्तर उसका ध्यान करते रहने पर श्रुतज्ञानावरण का उत्कृष्ट क्षयोपशम होकर पूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त हो जाता है।

उक्त ४६ वर्णमातृका के अक्षरों का ध्यान करनेवाला योगी कितने ही काल में नष्ट तथा भावी (उत्पन्न होने वाले) पदार्थों का भी ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

वर्णमातृका के ध्यान से बाह्यलाभ

वर्णमातृका के ध्यान से बाह्यलाभ क्या होता है? इसे ज्ञानार्णव में 'उक्तं च' देकर उद्धृत किया है—

जाप्याज्जयेत् क्षयमरोचकमग्निमान्द्यं।
कुष्टोदरात्मकासनश्वसनादिरोगान् ॥

प्राप्नोति नाप्रतिमवाङ्महतीं महद्भ्यः।
पूजां परत्र च गतिं पुरुपोतमाप्ताम् ॥ २ ॥ (ज्ञाना अ० ३८)

अर्थ— उक्त वर्णमातृका का जाप करने से ध्यानी मनुष्य क्षयरोग, भोजन में अरुचि, जठराग्नि की मन्दता, कुष्टरोग, उदररोग कास श्वास आदि रोगो को जीतता है। तथा वचन सिद्धि, महान् प्रभावशाली पुरुषों से पूजा सत्कार और उत्तमोत्तम पुरुषों से प्राप्त की गई शुभगति को प्राप्त करता है।

मन्त्रराज का ध्यान

सब मन्त्रपदों का अधीश्वर समस्त तत्त्वों का नायक "ह्रँ" बीजाक्षर है। यह मन्त्रराज सुरासुरों से वन्दनीय है, भयानक अज्ञान रूप अन्धकार का नाश करने लिए सूर्य समान है। तथा जिसने मस्तक पर स्थित जो अर्धचन्द्र है, उस की किरणो के आकार से सब दिशाओं के मध्य भाग को व्याप्त कर दिया है ऐसे "ह्रँ" इस मन्त्रराज को कमल के मध्य भाग में जो कर्णिका (गोल कुछ उठा हुआ भाग) है उस पर विराजमान करे। फिर उसका इस प्रकार चिन्तन करे कि वह मल और कलङ्क से रहित है, घनीभूत चन्द्रकिरणो के सदृश गोरवर्ण का धारक है। आकश में गति कर रहा है तथा दिशाओं में संचार कर रहा है। जिनेन्द्र देव के तुल्य है, ऐसा समझ करके इसका ध्यान करे।

कई लोग इस "ह्रँ" मन्त्रराज को बुद्ध, कई लोग हरि, कितने ही ब्रह्मा, कई महेश्वर, कितने ही शिव, कितने ही सार्वी और कई ईशान स्वरूप मानते हैं। वास्तव में तो यह है कि इस "ह्रँ" मन्त्रराज की शकल मे शान्तमूर्ति परम वीतराग सर्वज्ञ देवाधिदेव श्री जिनेन्द्रदेव ही स्वयं विराजमान हैं। अर्थात यह मन्त्रराज साक्षात् जिनेन्द्र देव का स्वरूप है।

यह मन्त्रराज ज्ञान का बीज है, जगत में वन्दनीय, जन्म संताप को शान्त करने के लिए मेघधारा के समान है तथा अत्यन्त पवित्र है ऐसे मन्त्रसम्राट् का ध्यान करो। जिसने इसका एक बार भी उच्चारण किया है, उसने मोक्ष के लिए पाथेय (कलेवा, संबल) ग्रहण किया है तथा जो इसको हृदय में स्थित करता है, उसके कर्म का क्षय होता है और शीघ्र मोक्ष की प्राप्ति होती है।

मन्त्रराज के ध्यान की विधि

धैर्य का धारण करने वाला ध्याता कुम्भक प्राणायाम करके अर्थात् खैंचे हुए प्राण वायु को रोक कर इस मन्त्रराज का अपनी दोनों भौहो के बीच मे स्फुरायमान होता हुआ चिन्तन करे। पश्चात् अपने मुख कमल मे प्रवेश करता हुआ विचारे। इसके बाद तालु के छेद से गमन करता हुआ तथा अमृत जल से झरता हुआ चिन्तन करे। तत्पश्चात नेत्र के पलको में स्फुरायमान होता हुआ तथा मस्तक के बालो मे

ठहरता करता हुआ चिन्तन करे। पश्चात् ज्योतिश्चक्र में भ्रमण करता हुआ विचारे। तदनन्तर सोचे कि यह मन्त्रराज शान्ति,प्रकाश, आह्लाद देने वाले चन्द्रमा से स्पर्द्ध (बराबरी) कर रहा है और दिशाओ के मध्य संचार करता हुआ आकाश मे उछल रहा है। तथा कलङ्क समूह को छेदन करता हुआ,संसार की भ्रान्ति का संहार कर रहा है। तथा मोक्ष स्थान को प्राप्त करता हुआ मोक्ष लक्ष्मी का मिलाप कर रहा है-ऐसा ध्यान करे।

ध्यान कर्त्ता को चाहिए कि अनन्य शरण होकर अर्थात् संसार मे इस मन्त्रराज के सिवा मुझे कोई शरण देने वाला नहीं है ऐसा विचार कर उसमे तल्लीन हो जावे, तथा निश्चल होकर सब अवस्थाओ मे दोनो भूलताओ (भौहों) के बीच मे अथवा नासिका के अग्र भाग में उस मन्त्रराज का ध्यान करे। इसे अनाहत देव कहते हैं।

कई आचार्यों ने इस मन्त्रराज को नासिका के अग्रभाग में तथा भूलता (दोनों भौहो) के मध्य भाग मे निश्चल धारण करने के समय मे वर्णादि का भेद करके भिन्न २ स्वरूप कल्पित किया है। तथा मन्त्र मण्डल और मुद्रा आदि साधनो के भेद से इष्टसिद्धि का देने वाला माना है।

अर्थात् कई आचार्य कहते हैं कि 'अर्हं' यह परमतत्त्व है, जो इसे जानता है वही तत्त्ववेत्ता है। प्रथम तो इस 'अर्हं' पूर्ण बीजाक्षर का चिन्तन करना चाहिए। तत्पश्चात् 'अ' अवयवरहित तथा 'ह' अवयवरहित इसका चिन्तन करे। पश्चात् चन्द्र की कान्ति के समान बिन्दुमात्र का चिन्तन करे। इसके बाद मन्त्रराज को अनुस्वार रहित चिन्तन करे। अर्धचन्द्राकार हीन ध्यान करे। दोनो रेफ (र) रहित चिन्तन करे। इसके बाद अक्षर हीन तथा उच्चारण करने योग्य न रहे ऐसा चिन्तन करे।

ध्यान को प्रबल बनाने के लिए चित्तस्थिर करके उसी अनाहत स्वरूप मन्त्रराज को क्रमसे सूक्ष्म चिन्तन करे। इस प्रकार सूक्ष्म, सूक्ष्मतर चिन्तन करता हुआ उसे बाल के अग्रभाग समान सूक्ष्मतम चिन्तन करे। इस प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म चिन्तन करता हुआ योगी अशेष विषयों से चित्तवृत्ति का निरोध करके क्षणभर मे सम्पूर्ण ज्योतिर्मय जगत् को साक्षात् प्रत्यक्ष अवलोकन करता है।

इस अनाहत मंत्र का ध्यान करने वाले योगी के अणिमा,महिमा आदि सब सिद्धियां सिद्ध होती हैं तथा देव दानव आकर सेवा करते हैं और आज्ञा ऐश्वर्य प्राप्त होता है, इस मे रंचमात्र भी सन्देह नहीं है।

इस प्रकार ध्यान का स्थिर अभ्यास हो जाने के पश्चात् 'लक्ष्य वस्तु' साकार पदार्थ से ध्यान को हटाकर अलक्ष्य जो लिखने में न आवे ऐसे अमूर्त्त पदार्थ मे मन को स्थिर करनेवाले ध्यानी मुनि के इन्द्रिय के अगोचर, अक्षय, अन्तर्ज्योति ज्ञान प्रकट होता है।

इस अनाहततत्त्व का तथा शिव नामक तत्त्व का अवलम्बन करके प्रशस्तमन के धारक योगीश्वरों ने क्लेश और त्रास से भरे हुए इस अनन्त संसार रूपी अटवी को पार किया है।

पू० फि १

सं० प्र०

अब प्रणव मन्त्र (ॐकार) के ध्यान का निरूपण करते हैं—

स्मर दुःखानलज्वाला प्रशान्तेर्नवनीरदम् ।
प्रणवं वाङ्मयज्ञानप्रदीपं पुण्यशासनम् ॥ ३१ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—हे योगिन् ! दुःख दावानल को शान्त करने के लिए नूतन मेघ के समान यह प्रणव नामा (ॐ) अक्षर है । यह समस्त वाङ्मय (सम्पूर्णश्रुत) का प्रकाश करने वाला दीपक तथा पुण्य का शासक है ।

इस प्रणव से शब्द स्वरूप अति निर्मल ज्योति की उत्पत्ति हुई है । अर्थात् प्रणव समस्त वाङ्मय की उत्पत्ति का कारण है । तथा इसके साथ परमेष्ठी का वाच्य वाचक सम्बन्ध है । अर्थात् परमेष्ठी का वाचक तो प्रणव है और परमेष्ठी प्रणव का वाच्य है ।

ध्यान करनेवाला संयमी स्वर और व्यञ्जन से वेष्टित (अकारादि स्वर और मकार जन्य अनुस्वार रूप व्यञ्जन संयुक्त) इस प्रणव (ॐ) को हृदय कमल की कर्णिका के मध्य में विराजमान करे । जो प्रणव अत्यन्त बुद्धिमान अति दुर्धर्ष तथा देवेन्द्र और सुरेन्द्र (धरणेन्द्र) से पूज्य है, झरते हुए मस्तक में चन्द्ररेखा के अमृत से आर्द्रित महाप्रभाव विशिष्ट है, कर्मरूप वन को दग्ध करने के लिए अग्नि के समान है—ऐसे इस महातत्व, महाबीज, महामंत्र, उच्चपद स्वरूप तथा शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान गौरवर्ण इस ॐ को ध्यानी योगी कुंभक प्राणायाम से चिन्तन करे ।

यदि इस प्रणव (ॐ) मन्त्र को गहरे सिन्दूर के वर्ण समान अथवा मूंगे की कांति के तुल्य चिन्तन किया जावे तो ध्याता संपूर्ण जगत् को क्षोभित कर सकता है । स्तंभन के कर्म में स्वर्ण के समान पीत वर्ण चिन्तन करे और द्वेष के कर्म में कज्जल के समान कृष्ण वर्ण तथा वशीकरण प्रयोग में रक्त (लाल) वर्ण और कर्मों का क्षय करने के लिये चन्द्रकान्ति के समान श्वेत वर्ण ध्यान करे ।

इस प्रकार प्रणव अर्थात् ॐकार मन्त्र के ध्यान का विधान किया । अब पंच परमेष्ठी के नमस्कारात्मक मन्त्रों के ध्यान का विधान करते हैं ।

पणतीससोलछप्पनचदुगमेगंच जवहज्झाएह ।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरुवएसेण ॥ ४९ ॥ (द्रव्य सं०)

अर्थ—परमेष्ठी के वाचक पैंतीस, सोलह, छह, पांच, चार, दो और एक अक्षर रूप मन्त्र हैं, उनका जाप करो तथा ध्यान

करो। इनके सिवा अन्य भी मंत्र पद है, उनका भी गुरु के उपदेशानुसार जाप करो।

पैंतीस अक्षरो का मंत्र—णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं। यह पैंतीस अक्षर का मंत्र हैं। यह अनादि निधन महामन्त्र है। तथा पंच परमेष्ठी को नमस्कार रूप है, और सब पापकर्म का विनाश करने वाला है और अन्य मन्त्रो के प्रभाव को दलित करने वाला है। अर्थात् इसका जाप और चिन्तन करने वाले पर दूसरे मारणोच्चाटन वशीकरण आदि मन्त्रो का कुछ भी असर नहीं होता है। यह मंत्र सब मांगलिक कार्यों की प्रसूति (उत्पत्ति) का हेतु है। इसलिए जो भव्यजीव संसारिक सुख और मोक्ष की प्राप्ति का अभिलाषी है, उसको चाहिए कि वह इस महामंत्र का प्रतिदिन जाप व ध्यान करे और अपनी अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त करे।

सोलह अक्षरों का पंच परमेष्ठी मंत्र द्रव्य संग्रह टीका में इस प्रकार वर्णित है।

'अरिहंत सिद्ध आयरिय उवज्झाय साहू' इस प्रकार सोलह अक्षरों वाले पंच परमेष्ठी मंत्र का जाप व ध्यान करे।

छह अक्षरों के मन्त्र—

१ अरिहंत सिद्ध। २ अरिहंत साहू। ३ ॐ नमः सिद्धेभ्यः। ४ ॐ णमो सिद्धाणं। ये छह अक्षरो के मंत्र ध्यान करने योग्य हैं

पांच अक्षरों के मन्त्र—

१ अ सि आ उ सा। २ णमो सिद्धाणं।

चार अक्षरों के मन्त्र—

१ अरिहंत। २ अ सि साहू।

दो अक्षरों के मन्त्र—

सिद्ध। अ सि। ॐ ह्रीं।

एकाक्षर मन्त्र—

अ अथवा ॐ। अकार अरिहंत का आदि अक्षर ग्रहण किया गया है तथा ॐ कार पंच परमेष्ठी का वाचक है। वह इस प्रकार है

अरिहंता असरीरा आयरिया तह उवज्झाया मुणिणो।
पढमक्खरणिप्पण्णो ॐकारो पंचपरमेट्ठी ॥ १ ॥ द्रव्यसं टी.

अर्थ—अरिहंत,असरीर (शरीररहित-सिद्ध भगवान्) आयरिय, उवज्झाय और मुनि इन पंच परमेष्ठी के वाचक पांच पदों के आदि अक्षर अ अ आ उ म् हैं, इनकी सन्धि होकर ॐ शब्द सिद्ध होता है। अर्थात् अ+अ और + आ इन तीनों वर्णोंकी सवर्ण दीर्घ सन्धि होकर 'आ' वर्ण होताहै। तथा आ+उ मिलकर 'ओ' रूप सिद्ध होता है तथा 'म्' का कातंत्र व्याकरण के नियम से अनुस्वार होता है। इस प्रकार ओ, ॐ ऐसा बीजाक्षर रूप बनता है। और यह ॐकार पंच परमेष्ठी का वाचक सिद्ध होता है। इसीको प्रणव नाम से कहते हैं। इस का महात्म्य पहले निरूपण कर आये हैं।

सप्त अक्षरों के मंत्र का वर्णन

स्फुरद्विमलचंद्राभे दलाष्टकविभूषिते।
कञ्जे तत्कर्णिकासीनं मंत्रं सप्ताक्षरं स्मरेत् ॥ ३९ ॥
दिग्दलेषु ततोऽन्येषु विदिक्पत्रेष्वनुक्रमात्।
सिद्धादिकं चतुष्कं च दृष्टिबोधादिकं तथा ॥ ४० ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—चमकते हुए निर्मल चन्द्र की ज्योत्स्ना के समान आठ पत्रों से सुशोभित कमल में जो कर्णिका है, उस पर विराजमान 'णमो अरिहंताणं' इस सप्ताक्षर मन्त्र का चिन्तन करे। उस कर्णिका के चारों ओर आठ पत्रों में से चार दिशाओं के चार पत्रों पर क्रमसे णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं, इन चार मन्त्र पदों का तथा शेष चार विदिशाओं के जो चार दल हैं, उन पर क्रमशः सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक् चारित्राय नमः, सम्यक् तपसे नमः इन चार मन्त्र पदों का ध्यान करे। इस प्रकार कमल के अष्ट दल और एक कर्णिका मे उक्त नौ मन्त्रों का चिन्तन करे।

नमस्कार मन्त्र का प्रभाव और फल

जगत के जितने भी योगीश्वरों ने आत्यन्तिकी लक्ष्मी (मोक्ष लक्ष्मी) प्राप्त की है, उन सबने एक मात्र इस महामन्त्र की आराधना कर के ही प्राप्त की है। इस महामन्त्र का पूर्ण प्रभाव योगीश्वरों के ही ज्ञान गोचर है। इसका पूरी तरह वर्णन तो वे भी नहीं कर सकते। इतने पर भी अनभिज्ञ, (अल्पज्ञ) मनुष्य इस महामन्त्र के प्रभाव का वर्णन करता है, वह सन्निपात रोग से ग्रसित प्रतीत होता है।

पापपङ्क से लिप्त हुए प्राणी इसी मन्त्र के आराधन से विशुद्ध होते हैं। इसी मंत्र के माहात्म्य से विचारशील मनुष्य संसार के क्लेश से मुक्त हुए हैं। यही एक ऐसा मंत्र है जो इस संसारमे भव्यजीवों के संकट के समय बन्धु है। अर्थात् दुःख से उद्धार करने वाला सच्चा मित्र है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी पदार्थ जीवों पर समान दृष्टि से अनुग्रह करने वाला नहीं है। क्योंकि इसी महामंत्र ने महान् संकट रूप पाताल वाले इस संसार समुद्र में डूबे हुए जगत् के जीवों को निकाल कर सुखमय मोक्ष में स्थापित किया है।

इस महामंत्र की महिमा कहां तक कहें। पूर्व समय में हजारों पाप करके, अज्ञानवश सैकड़ों जंतुओं का नाशकर तिर्यञ्च भी इस महामंत्र की शुद्ध भावों से आराधना करके स्वर्ग लक्ष्मी के स्वामी बने हैं।

जो मुनीश्वर अथवा पाक्षीक श्रावक मन वचन और काय को शुद्ध करके इस महामंत्र का एक सो आठ बार आराधन करे तो वह आहार भोजन करता हुआ भी एक उपवास के पूर्ण फल को प्राप्त करता है।

सोलह अक्षर का नमस्कार मन्त्र तथा उसकी महिमा

स्मर पञ्चपदोद्भूतां महाविद्यां जगन्नुताम्।
गुरुपञ्चकनामोत्थां षोडशाक्षरराजिताम् ॥ ४८ ॥
अस्याः शतद्वयं ध्यानी जपन्नेकाग्रमानसः।
अनिच्छन्नप्यवाप्नोति चतुर्थतपसः फलम् ॥ ४९ ॥ (ज्ञा० अ० ३८)

अर्थ—त्रिजगत के जीव जिसको नमस्कार करते हैं, जो पांच पदों से उत्पन्न हुई है, जो इन सोलह अक्षरों से विभूषित है, पंच गुरुओं के नाम से अङ्कित है ऐसी "अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्वसाधुभ्यो नमः" से विभूषित, उस महाविद्या का स्मरण करो। जो ध्यानी इस को दोसौ बार एकाग्र चित्त होकर जाप करता है वह बिना इच्छा के ही एक उपवास का फल प्राप्त करता है।

'अरिहंत सिद्ध' इस प्रकार छह अक्षरों के मन्त्र (विद्या) का तीन सौ बार जाप करने पर एक उपवास का फल मिलता है। इस मंत्र को अजेय बतलाया है। अर्थात इस मंत्र पर दूसरे का प्रभाव नहीं होता है। इस की शक्ति अचिन्त्य है।

'अरिहत' इन चार अक्षरों का यह मंत्र धर्म अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थ के फल का देने वाला है। इसके चार सौ बार जाप करने पर एक उपवास का फल मिलता है।

'सिद्ध' यह दो अक्षरों का मन्त्र द्वादशाङ्ग वाणी का सार है। संसार जन्य समस्त क्लेशों का क्षय करने में समर्थ यह मन्त्र मोक्ष का देने वाला है। सिद्धपद की आकांक्षा रखने वाला योगी इस का अवश्य ध्यान करे।

जो ध्यानी आनन्द से प्रफुल्लित चित्त हुआ एकाग्रचित्त होकर 'अ' इस एकाक्षर मन्त्र का पंचशत बार जाप करता है, वह एक उपवास से होने वाली कर्मों की निर्जरा करता है।

यहां पर इन मंत्रों का एक उपवास रूप जो फल बताया है वह केवल मंत्र जपने में रुचि उत्पन्न करने के लिए ही है। वस्तुतः इसका फल तो स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति है।

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा नमः' यह मंत्र पंच तत्त्वोपलक्षित है। इस पञ्चाक्षरमयी विद्या को मुनीश्वरों ने बीज बुद्धि द्वारा द्वादशांग वाणी से उद्धृत किया है। इस विद्या के विषय में निरन्तर अभ्यास करने से अपने मनको वशीभूत करता हुआ योगी निश्शङ्क होकर जाप करता हुआ अतिदृढ़ संसार बन्धन को शीघ्र उच्छिन्न करता है।

मङ्गलशरणोत्तमपदनिकुरम्बं यस्तु संयमी स्मरति।
अविकलमेकाग्रधिया स चापवर्गश्रियं श्रयति ॥ ५७ ॥ (ज्ञाना०अ० ३८)

अर्थ—चत्तारि मंगलं–अरिहंतमंगलं, सिद्धमंगलं,साहूमंगलं,केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा–अरिहंतलोगुत्तमा, सिद्धलोगुत्तमा, साहूलोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरणं पव्वजामि–अरिहंतसरणं पव्वजामि, सिद्धसरणं पव्वजामि, साहूसरणं पव्वजामि, केवलिपण्णत्तं, धम्मं सरणं पव्वज्जामि। इस प्रकार मंगल, उत्तम शरण भूत इन पदों को जो संयमी एकाग्र-चित से स्मरण करता है वह मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त होता है।

सिद्धेः सौधं समारुढुमियं सोपानमालिका ।
त्रयोदशाक्षरोत्पन्ना विद्या विश्वातिशायिनी ॥ ५८ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

सिद्धि (मोक्ष) महल पर चढ़ने के लिए सोपान (सीढ़ी) की पंक्ति स्वरूप तथा विश्व में महिमा उत्पन्न करने वाली तेरह अक्षरों वाली विद्या है। वह विद्या 'ॐ अर्हत् सिद्धसयोगकेवली स्वाहा' इस प्रकार है। मुनीश्वरो ने इस विद्या को मुक्ति कान्ता को मिलाने वाली दूती माना है, इसलिए जो मुक्ति स्त्री को प्राप्त करना चाहता है, उसे इस तेरह अक्षरों के मन्त्र का जाप व ध्यान करना चाहिए।

सकलज्ञानसाम्राज्यदानदक्षं विचिन्तय ।
मन्त्रं जगत्त्रयी–नाथ–चूडारत्नं कृपास्पदम् ॥ ६० ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—यह मंत्र त्रलोकेश्वर मुकुट के रत्न समान है तथा सकल ज्ञान के साम्राज्य को देने में प्रवीण है तथा कृपा का स्थान है; इसलिए 'ॐ ह्रीं श्रीं नमः' इस मन्त्र का चिन्तन करो।

नचास्य भुवने कश्चित्प्रभावं गदितुं क्षमः ।
श्रीमत्सर्वज्ञदेवेन यः साम्यमनलम्भते ॥ ६१ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—तीनों लोक में कोई भी विद्वान् इसके प्रभाव को कहने में समर्थ नहीं है। क्योंकि यह मन्त्र श्रीमत्सर्वज्ञ देव के साथ समानता रखता है।

स्मर कर्मकलङ्कौघध्वान्तविध्वंसभास्करम् ।
पञ्चवर्णमयं मन्त्रं पवित्रं पुण्यशासनम् ॥ ६२ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—हे भव्य ! तुम कर्मकलंक के समूह रूप अन्धकार का नाश करने के लिए सूर्य के समान, पुण्य का शासन, पंचवर्ण रूप 'णमो सिद्धाणं' इस पवित्र मन्त्र का चिन्तन करो।

सर्वसत्त्वाभयस्थानं वर्णमालाविराजितम् ।
स्मर मन्त्रं जगज्जन्तुक्लेशसन्ततिघातकम् ॥ ६३ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—हे संयमिन्! लोक के सब जीवों के क्लेश परम्परा का नाश करने वाला, सम्पूर्ण जीवों का अभयस्थान, वर्णमाला के अक्षरों से विराजमान इस 'ॐ नमोऽर्हते केवलिने परमयोगिनेऽनन्तशुद्धिपरिणामविस्फुरदुरुशुक्लध्यानाग्निनिर्दग्धकर्मबीजाय प्राप्तानन्तचतुष्टयाय सौम्याय शान्ताय मङ्गलाय वरदाय अष्टादशदोषरहिताय स्वाहा' का स्मरण करे।

स्मरेन्दुमण्डलाकारं पुण्डरीकं मुखोदरे।
दलाष्टकसमासीनं वर्णाष्टकनिराजितम् ॥६४॥
ॐ णमो अरिहंताणमिति वर्णानपि क्रमात्।
एकशः प्रतिपत्रं तु तस्मिन्नेव निवेशयेत् ॥६५॥

(ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ–हे संयमिन्! चन्द्रमण्डल के आकार आठ पत्रोंवाले एक श्वेत कमल को अपने मुख में चिन्तन करो। उसमें 'ॐ णमो अरिहंताणं' इस आठ वर्ण वाले मन्त्र के एक एक अक्षर को क्रमशः कमल के एक एक पत्र पर स्थापित करो।

स्वर्णगौरीं स्वरोद्भूतां केशरालीं ततः स्मरेत्।
कर्णिकां च सुधास्यन्दबिन्दुव्रजावभूषिताम् ॥६६॥ (ज्ञा० अ० ३८)

अर्थ–इसके बाद स्वर्ण के समान गौर वर्णवाली, स्वरसे उत्पन्न हुई केशर की पंक्ति का स्मरण करो तथा अमृतमय प्रवाह के बिन्दुओं से अलंकृत कर्णिका का चिन्तन करो।

प्रोद्यत्संपूर्णचन्द्राभं चन्द्रबिम्बाच्छनैः शनैः।
समागच्छत्सुधाबीजं मायावर्णं तु चिन्तयेत् ॥६७॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ–तत्पश्चात् उदय होते हुए पूर्णचन्द्र के समान कान्तिवाले, चन्द्रमण्डल से शनैः शनैः आते हुए सुधा (अमृत) के बीज मायावर्ण 'ह्रीं' इस बीजाक्षर का ध्यान करे।

मन्त्रराज के ध्यान कीविधि

इस मायावर्ण ह्रीं का किस प्रकार चिन्तन करे, इसे दिखाते हैं—

विस्फुरन्तमतिस्फीतं प्रभामण्डलमध्यगम् ।
सञ्चरन्तं मुखाम्भोजे तिष्ठन्तं कर्णिकोपरि ॥६
भ्रमन्तं प्रतिपत्रेषु चरन्तं वियति क्षणे ।
छेदयन्तं मनोध्वान्तं स्रवन्तममृताम्बुभिः ॥६

व्रजन्तं तालुरन्ध्रेण स्फुरन्तं भ्रूलतान्तरे ।
ज्योतिर्मयमिवाचिन्त्यप्रभावं भावयेन्मुनिः ॥७०॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ–इस ह्रीँ कार मन्त्र को देदीप्यमान अत्यन्तविशाल कान्ति मण्डल के मध्यमे विराजमान चिन्तन करे। इसके बाद मुखकमल मे संचार करता हुआ चिन्तन करे। पश्चात् कमल की कर्णिका के ऊपर स्थित हुआ विचारे, इसके बाद कमल के प्रत्येक पत्र पर भ्रमण करता हुआ चिन्तन करे। तदनंतर क्षण मे गगनतल मे गमन करता हुआ ध्यान करे। तत्पश्चात् मानसिक अन्धकार का छेदन करता हुआ तथा अमृत जल को चुवाता हुआ स्मरण करे। इसके अनन्तर तालु के छिद्र से होकर गमन करता हुआ सोचे। पश्चात् भ्रूलता के मध्य (दोनों भौंहों के के बीच) स्फुरायमान होता हुआ–चमचमाता हुआ चिन्तन करे। तथा ज्योतिस्वरूप (केवलीभगवान्) की तरह अचिन्त्य प्रभाव वाला यह ह्रीँ कार मंत्र है, ऐसा ध्यान करे।

अब इस मन्त्र का महात्म्य (महिमा) दिखाते हैं—

वाक्पथातीतमाहात्म्यं देवदैत्योरगार्चितम् ।
विद्यार्णवमहापोतं विश्वतत्त्वप्रदीपकम् ॥७१॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ–इस मन्त्र का महात्म्य वाणी के अगोचर है। इसकी देवेन्द्र, असुरेन्द्र और नागेन्द्र पूजा करते हैं। तथा यह मन्त्र विद्या रूपी समुद्र मे अवगाहन करने के लिए जंगी जहाज के समान है और विश्वभर के तत्त्व अथवा सम्पूर्ण तत्त्वों का प्रकाश करनेवाला विशाल दीपक है।

इतिध्यायन्नसौ ध्यानी तत्संलीनैकमानसः ।
वाङ्मनोमलमुत्सृज्य श्रुताम्भोधिं विगाहते ॥७२॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—पूर्वोक्त प्रकार इस ह्रीँकार मन्त्र का तल्लीन मन से ध्यान करनेवाला संयमी वाणी और मन के दोष का संहार कर श्रुत समुद्र मे प्रवेश करता है।

ततो निरन्तराभ्यासान्मासैः षड्भिः स्थिराशयः।
मुखरन्ध्राद्विनिर्यान्तीं धूमवर्त्तिं प्रपश्यति ॥७४॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—उक्त प्रकार स्थिरचित्त होकर छह मास पर्यन्त ह्रीँकार मन्त्र का निरन्तर अभ्यास करने पर मुख में से धुएँ की बत्ती निकलती हुई दिखाई देने लगती है।

ततः संवत्सरं यावत्तथैवाभ्यस्यते यदि।
प्रपश्यति महाज्वालां निःसरन्तीं मुखोदरात् ॥ ७५ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—इसके पश्चात् यदि एक वर्ष पर्यन्त इस ह्रीँकार मंत्र का पूर्वोक्त प्रकार अभ्यास किया जावे तो ध्यान करने वाला मुख से निकलती हुई अग्नि की महाज्वाला का दर्शन करता है।

ततोऽतिजातसंवेगो निर्वेदालम्बितो वशी।
ध्यायन् पश्यत्यविश्रान्तं सर्वज्ञमुखपङ्कजम् ॥ ७६ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—इसके पश्चात् लगातार इस मंत्र का ध्यान करता हुआ ध्यानी मुनि जब अपनी इन्द्रियों और मन को वशमें करता हुआ संवेग (संसार से उद्विग्न) और निर्वेद (वैराग्य) परायण होता है, तब उसे सर्वज्ञदेव के मुख कमल का दर्शन होता है।

अथाप्रतिहतानन्दप्रीणितात्मा जितश्रमः।
श्रीमत्सर्वज्ञदेवेशं प्रत्यक्षमिव वीक्षते ॥ ७७ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—इसके अनन्तर वही ध्यान का करने वाला संयमी जब श्रम पर विजय प्राप्त करलेता है तथा निरन्तर आनन्द के अनुभव से आत्मा को तृप्त करता रहा है, तो श्रीमत्सर्वज्ञ देव का प्रत्यक्षसा दर्शन करता है।

भावार्थ—तीर्थंकर देवाधि देव सम्पूर्ण अतिशयों से परिपूर्ण हैं, दिव्यरूपवाले हैं, पंच कल्याणक की महिमा से सहित हैं, विश्व

के जीवों को अभयदान देरहे हैं, उनके चारों ओर प्रभा (कान्ति) का मंडल बना हुआ है, उसके मध्य में देवाधिदेव विराजमान हैं। वे भव्यजीवों के हृदय कमल को प्रफुल्लित कहरहे हैं तथा ज्ञान मे क्रीडा कररहे हैं,केवलज्ञानादि लक्ष्मी को धारण कररहे हैं। ऐसे देवाधिदेव का यह ध्यानी प्रत्यक्ष की तरह दर्शन करता है।

इसके अनन्तर ध्यानी मुनि इस मंत्र के ध्यान मे प्रमाद रहित होकर इसके द्वारा सर्वज्ञ के स्वरूप का निश्चय हो जाने पर संसार के भ्रम को दूर करके लोक के अग्रभाग सिद्धक्षेत्र को निवास स्थान बना लेता है, जहां से पुनरागमन नहीं होता है।

इस प्रकार मुख मे अष्टदल कमल के आठ दलो मे आठ अक्षरों की स्थापना करके कर्णिका के चारो ओर की केसर में सोलह स्वर वर्णों की तथा कर्णिका के मध्य मे ह्रीं वर्ण की स्थापना करके पूर्वोक्त रीति से ध्यान करनेवाले को जो फल तथा महिमा उपलब्ध होती है, उस महिमा का वर्णन किया। अब आगे अन्य विद्या का निरूपण करते हैं—

'क्ष्वीं'कार का महात्म्य

स्मर सकलसिद्धविद्यां प्रधानभूतां प्रसन्नगम्भीराम्।
विधुबिम्बनिर्गतामिव क्षरत्सुधार्द्रां महाविद्याम्॥८१॥' (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—हे सयमिन्! तुम, जिससे सम्पूर्ण विद्या सिद्ध होती है, जो सर्वप्रधान है, पसन्न तथा गम्भीर है, चन्द्र के बिम्ब से निकली हुई की तरह झरते हुए अमृत से आर्द्र है ऐसी—'क्ष्वीं' इस महाविद्या का ध्यान करो।

अविचलमनसा ध्यायँल्ललाटदेशे स्थितामिमां देवीम्।
प्राप्नोति मुनिरजस्रं समस्तकल्याणनिकुरम्बम्॥८२॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—जो मुनि निश्चलचित्त होकर ललाट (भाल) प्रदेश पर इस 'क्ष्वीं' विद्यादेवी का ध्यान करता है,वह सम्पूर्ण कल्याण समूह को निरन्तर प्राप्त करता है।

अमृतजलधिगर्भान्निःसरतीं सुदीप्ता—
मलकतलनिषण्णां चन्द्रलेखां स्मर त्वम्॥

अमृतकणविकीर्णां प्लावयन्तीं सुधाभिः
परमपधरित्र्यां धारयन्तीं प्रभावम् ॥८३॥
एतां विचिन्तयन्नेव स्तिमितेनान्तरात्मना ।
जन्मज्वरक्षयं कृत्वा याति योगी शिवास्पदम् ॥८४॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—हे मुनीश्वर ! अमृत समुद्र से निकलती हुई देदीप्यमान, अमृत कणों से बिखरती हुई, अमृत से प्लावित (अमृत में डूबी हुई) मोक्ष की धरा में अपने प्रभाव को धारण करने वाली इस चन्द्र लेखा को तू अपने ललाट प्रदेश पर विराजमान करके ध्यान कर। जो योगी इस चिन्ता का स्थिर चित्त होकर चिन्तन करता है, वह जन्म रूपी ज्वर का क्षय करके मोक्ष स्थान को प्राप्त होता है।

सप्ताक्षर मंत्र

यदि साक्षात् समुद्विग्नो जन्मदावोग्रसंक्रमात् ।
तदा स्मरादिमन्त्रस्य प्राचीनं वर्णसप्तकम् ॥ ८५ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—हे मुने ! यदि तुम संसार रूपी दावानल में भयंकर भ्रमण करने से अत्यन्त उद्विग्न हो तो आदि मन्त्र (पंच नमस्कार मंत्र) के पहले के 'णमो अरिहंताणं' इन सात अक्षर के मंत्र का स्मरण करो।

तीन अक्षरों का महात्म्य

यदत्र प्रणवं शून्यमनाहतमिति त्रयम् ।
एतदेव विदुः प्राज्ञास्त्रैलोक्यतिलकोत्तमम् ॥ ८६ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—इस ध्यान के प्रकरण में अथवा इस लोक में प्रणव (ॐकार), शून्य (बिन्दु) और अनाहत (चन्द्र की रेखा समान) इन तीनों ही को बुद्धिमान मनुष्य तीनों लोक में तिलक के समान श्रेष्ठ समझें। अर्थात् ये तीनों इस जगत में श्रेष्ठ हैं।

नासाग्रदेशसंलीनं कुर्वन्नत्यन्तनिर्मलम् ।
ध्याता ज्ञानमवाप्नोति प्राप्य पूर्वं गुणाष्टकम् ॥ ८७ ॥

शंखेंदुकुंदधवला ध्याता देवास्त्रयो विधानेन ।
जनयंति सर्वविषयं बोधं कालेन तद्ध्यानात् ॥ ८८ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ—जो ध्यान करने वाला उक्त तीन मन्त्रो को नासिका के अग्रभाग मे स्थापित करके ध्यान करता है, वह पहले अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा आदि आठ दिव्य गुणो को प्राप्त करके पश्चात् अत्यन्त निर्मल ज्ञान (केवल ज्ञान) को प्राप्त करता है। तथा इन तीनों (प्रणव, शून्य और अनाहत) देवो को शंख के समान, कुन्द पुष्प के समान तथा चन्द्र की रेखा समान भिन्न २ ध्यान करता है, वह ध्यानी उनके ध्यान करने के सामर्थ्य से कुछ काल मे सब पदार्थों को विषय करने वाले ज्ञान (केवल ज्ञान) को प्राप्त करता है।

भिन्न २ मंत्र

प्रणवयुगलस्य युग्मं पार्श्वे मायायुगं विचिन्तयति ।
मूर्द्धस्थं हंसपदं कृत्वा व्यस्तं वितन्द्रात्मा ॥ ८९ ॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ-ॐकार का युगल, पार्श्व भाग मे माया अक्षर (ह्रीं) का युगल तथा इनके ऊपर भाग मे हंस पद रखकर ध्यानी प्रमाद रहित हुआ भिन्न २ रूप चिन्तन करे। अर्थात् 'ह्रीं ॐ ॐ ह्रीं हंसः' इस मंत्र का ध्यान करे।

ततो ध्यायेन्महाबीजं स्त्रींकारं छिन्नमस्तकम् ।
अनाहतयुतं दिव्यं विस्फुरन्तं मुखोदरे ॥ ९० ॥

अर्थ-तदनन्तर छिन्नमस्तक, महाबीज, अनाहत संयुक्त स्त्री इस दिव्य मन्त्र को मुख के मध्य मे स्फुरायमान हुआ चिन्तन करे। अर्थात् 'स्त्रीँ', इस दिव्य महाबीजाक्षर मंत्र को मुख मे दे दीप्यमान-चमकता हुआ चिन्तन करे।

श्रीवीर वदनोद्गीर्णां विद्यां चाचिन्त्यविक्रमाम् ।
कल्पवल्लीमिवाचिन्त्यफलसम्पादनक्षमाम् ॥९१॥
विद्यां जपति य इमां निरन्तरं शान्तनिश्वविस्पन्दः ।
अणिमादिगुणाँल्लब्ध्वा ध्यानी शास्त्रार्णवं तरति ॥९२॥ (ज्ञाना० अ० ३८)

अर्थ–श्रीमत् महावीर स्वामी के मुख कमल से उद्गत अचिन्तनीय पराक्रमवाली कल्पलता के समान अचिन्त्य फल प्रदान करने में सामर्थ्य वाली ऐसी "ॐ जोग्गे मग्गे तच्चे भूदे भव्वे भविस्से अक्खे पक्खे जिण पारिस्से स्वाहा" विद्या का अथवा "ॐ ह्रीं स्वर्हं नमो नमोऽर्हंताणं ह्रीं नमः" इस विद्या का सब चचलता को रोककर जो निरन्तर जाप करता है वह ध्यानी अणिमा आदि गुणों को प्राप्त करके शास्त्रसमुद्र का पारगामी होता है अर्थात् द्वादशांग वाणी का ज्ञाता–श्रुतकेवली होता है।

इस विद्या का सतत ध्यान करने से ध्याता को भूत भविष्यत् उत्पन्न वर्त्तमान–त्रिकाल का तथा विश्वतत्त्वों का ज्ञान होता है।

जिस मन्त्र के ध्यान के प्रभाव से ध्यान करनेवाले के उपसर्ग कर्त्ता सिंह सर्पादि क्रूरजन्तु तथा ध्यानमें विघ्न करनेवाले व्यन्तरादि देव उपशान्त हो जाते हैं। उस ध्यान का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हैं।

'ॐ णमो अरहंताणं' का ध्यान निम्न प्रकार करे।

आठो दिशाओं में रहने वाले आठ दल जिसके हैं, ऐसे कमल पर ग्रीष्मऋतु के सूर्यसमान प्रखर किरणों से देदीप्यमान अपने आपको विराजमान चिन्तन करे। अर्थात् उस कमल में मैं बैठा हुआ हूं ऐसा चिन्तन करे। तथा उस कमल के आठ दलों पर क्रम से उपर्युक्त मन्त्र के एक एक अक्षर को पूर्वादि दिशा के क्रम से स्थापित करे। इसके पश्चात् पूर्व दिशा से प्रारम्भ करके प्रदक्षिणा करता हुआ प्रत्येक पत्र पर अङ्कित मन्त्राक्षर का चिन्तन करे। इस प्रकार कमल के प्रत्येक पत्र के सम्मुख स्थित होकर प्रदक्षिणा करता हुआ उक्त अष्टाक्षर के मन्त्र का ग्यारहसौ बार चिन्तन करे। इस प्रकार प्रतिदिन ध्यान करता हुआ आठ रात्रि पर्यन्त प्रसन्न चित्त होकर जाप करे। इसके अचिन्त्य दिव्य प्रभाव से हिंसादि क्रूर भाववाले सिंह सर्प व्याघ्रादि जन्तु अपने क्रूर आशय को इस प्रकार छोड़ देते हैं, जैसे कि सिंह से भयभीत हुए हाथी अपने गर्व को छोड़ देते हैं।

उक्त प्रकार आठ रात्रियों के बीत जाने के बाद इस अष्टदल कमल को मुख पर स्थापित करके उसके पत्रों पर स्थित वर्णों का अनुक्रम से निरूपण करके अवलोकन करे। इस प्रक्रिया को प्रथम विघ्न की शान्ति के लिए सेवन करके पश्चात् प्रणव (ॐ) वर्जित सात अक्षर के 'णमो अरिहंताणं' इस मन्त्र का ध्यान करे। प्रणवसहित मन्त्र का ध्यान तो सम्पूर्ण इष्ट–सिद्धि का देनेवाला होता है और प्रणवरहित मन्त्र का ध्यान मोक्ष का देने वाला होता है।

स्मर मंत्रपदं वाऽन्यजन्मसंघातघातकम्।
रागाद्युग्रतमस्तोमप्रध्वंसरविमण्डलम् ॥ १०३ ॥ (ज्ञाना. अ. ३८) पू० फि० ३

अर्थ—हे मुने ! तुम रागादि भयानक अन्धकार के पुंज को नाश करने के लिए सूर्यमण्डल समान जन्म सन्तान का घात करने वाला एक दूसरा "श्रीमद् वृषभादि वर्धमानान्तेभ्यो नमः" यह मन्त्र है, इसका ध्यान करो ।

अथ सिद्धचक्र नामक मन्त्र का स्वरूप व प्रभाव दिखाते हैं–

मनः कृत्वा सुनिष्कम्पं तां विद्यां पापभक्षिणीम् ।
स्मर सत्त्वोपकाराय या जिनेन्द्रैः प्रकीर्त्तिता ॥ १०
चेतः प्रसत्तिमाभत्ते पापपङ्कः प्रलीयते ।
आविर्भवति विज्ञानं मुनेरस्याः प्रभावतः ॥१०५॥
मुनिभिः संजयन्ताद्यैर्विद्यावादात्समुद्धृतम् ।
भुक्तिमुक्त्योः परं धाम सिद्धचक्राभिधं स्मरेत् ॥१०६॥
तस्य प्रयोजकं शास्त्रं तदाश्रित्योपदेशतः ।
ध्येयं मुनीश्वरैर्जन्ममहाव्यसनशान्तये ॥१०७॥ (ज्ञा० अ०

अर्थ–ध्यान का कर्त्ता मनको निष्कम्प करके 'ॐ अर्हन्मुखकमलवासिनि पापात्मक्षयंकरि, श्रुतज्ञानज्वालासहस्रप्रज्वलिते सरस्वति मत्पापं हन हन दह दह क्षां क्षीं क्षूं क्षौं क्षः क्षीरवरधवले अमृतसंभवे वं वं हूं हूं स्वाहा, इस पाप–भक्षिणी विद्या का पाप का नाश करने के लिए ध्यान करे । इससे चित्त में प्रसन्नता प्राप्त होती है, पापरूप कीचड़ नष्ट होता है, तथा मुनीश्वरों के विशिष्टज्ञान प्रकट होता है । इस सिद्ध चक्र नामक मंत्र को संजयन्त आदि मुनियों ने विद्यानुवाद नामक दशमपूर्व से निकाला है । यह मंत्र स्वर्गादि के सुख और मुक्ति का देनेवाला है । इस सिद्धचक्र का प्रयोजक जो शास्त्र है, उस का आश्रय लेकर उसके उपदेशानुसार मुनीश्वर महान् दुःख की शान्ति के निमित्त इसका ध्यान करें ।

यह सब मन्त्र तब तक ही आराध्य होते हैं जब तक आत्मा मे कुछ भी शुभरागांश रहता है । वीतराग के लिए किसी वस्तु विशेष के ध्यान का नियम नहीं है । यही कहते हैं.–

वीतरागो भवद्योगी यत्किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।
तदेव ध्यानमाम्नातमतोऽन्यद् ग्रन्थविस्तरः ॥ २ ॥ (उक्तं च–ज्ञाना. अ. ३८ ११३ में)

अर्थ–वीतरागी मुनि जिस वस्तु का चिन्तन करता है, वह सब ध्यान माना गया है। इसके अतिरिक्त जितना वर्णन किया गया है, वह सब ग्रन्थ का विस्तार मात्र समझना चाहिए।

उक्त ध्यान का तथा ध्यान के योग्य मन्त्रों का जो विस्तार किया गया है; उसका प्रधान हेतु चित्त की एकाग्रता मात्र है। ध्यान करने वाला इन बताये गये मन्त्रों मे अपने मन को स्थिर करने का अभ्यास करे। अभ्यास करते २ जब अन्तःकरण मे स्थिरता आजावे तब ध्यानी मुनि अपने आत्मा का ही ध्यान करे। विना आत्मध्यान के मोक्षपद की प्राप्ति असंभव है।

इस प्रकार पदस्थनामक धर्म्यध्यान का वर्णन किया।

रूपस्थधर्म्यध्यान

आर्हन्त्यमहिमोपेतं सर्वज्ञं परमेश्वरम्।
ध्यायेद्देवेन्द्रचन्द्रार्कसभान्तस्थं स्वयम्भुवम् ॥ १ ॥ (ज्ञाना० अ० ३९)

अर्थ—जो सर्वज्ञ देवाधिदेव, परमात्मा, देवेन्द्र, ज्योतिष देवों के इन्द्र एवं चन्द्र सूर्यादि की सभा के मध्य में विराजमान हैं, तथा जो समवसरणादि बाह्यमहिमा से विभूषित हैं, ऐसे परमभट्टारक (सयोगकेवली) भगवान् का ध्यान करे।

भावार्थ—इस रूपस्थध्यान मे समवसरणादि विभूति सहित परमभट्टारक अर्हन्त देव का ध्यान किया जाता है। ये सयोगकेवली भगवान् राग द्वेष मोह (अज्ञान) आदि अठारह दोषो से रहित, अनन्तज्ञान (केवलज्ञान) मण्डित तथा सम्पूर्ण अतिशयों से अलंकृत एक हजार आठ व्यञ्जन तथा लक्षणों से विभूषित हैं। (तिल मसा आदि शरीर के चिह्न को व्यञ्जन कहते हैं। वे ९००, तथा श्रीवत्सादि १०८ शुभ लक्षण, इस प्रकार १००८ शुभव्यञ्जन व लक्षण से सुशोभित होते हैं।) देव, मनुष्य, तिर्यंचादि की बारह सभाओ के मध्य गन्धकुटी पर विराजमान हैं। जिन का परमौदारिक शरीर है। जिन का शरीर की कान्ति के मण्डल से सूर्य चन्द्रादिका प्रकाश छिपगया है। तथाकोटि सूर्य के प्रकाश को जिसने तिरस्कृत कर दिया है,उस प्रभा मण्डल मे भव्यजीव अपने सात भवो का अवलोकन करते हैं। जिन परमशान्त वीतराग अर्हन्त देव के सर्वाङ्ग से दिव्यध्वनि होरही है उस दिव्यध्वनि को प्रत्येक जीव अपनी २ भाषा मे कर्णगोचर कर रहे, हैं और वस्तु तत्त्व को समझकर अत्यन्त आनन्द से प्रफुल्लित हुए अपना आत्मकल्याण कर रहे हैं। ऐसे देवाधि देव सर्वज्ञ वीतराग अर्हन्त परम भट्टारक का ध्यान करना चाहिए।

उनका मुनिजन सहस्त्र नाम से स्मरण करते है, उनमें से कुछ नाम यहां अङ्कित करते हैं–१ अव्यक्त, २ कामनाशक ३ अजन्मा ४ अनन्त, ५ अतीन्द्रिय, ६ जगद्वंद्य, ७ योगिगम्य ८ महेश्वर, ९ ज्योतिर्मय, १० अनाद्यनन्त, ११ सर्वरक्षक, १२ योगीश्वर, १३ जगद्गुरु, १४ अच्युत, १५ शान्त, १६ तेजस्वी, १७ सन्मति, १८ सुगत. १९ सिद्ध, २० जगत् श्रेष्ठ, २१ पितामह, २२ महावीर, २३ मुनिश्रेष्ठ २४ पवित्र, २५ परमाक्षर, २६ सर्वज्ञ, २७ परमदाता, २८ सर्वहितैषी, २९ वर्धमान, ३० निरामय, ३१ नित्य, ३२ अव्यय, ३३ परिपूर्ण, ३४ पुरातन, ३५ स्वयम्भू, ३६ हितोपदेशी, ३७ वीतराग, ३८ निरञ्जन ३९ निर्मल, ४० परमगम्भीर, ४१ परमेश्वर, ४२ परमतृप्त, ४३ अव्याबाध, ४४ निष्कलङ्क, ४५ निजानन्दी, ४६ निराकुल, ४७ निःस्पृह, ४८ देवाधिदेव, ४९ महाशंकर, ५० परमब्रह्म, ५१ परमात्मा ५२ पुरुषोत्तम, ५३ अमर, ५४ परमबुद्ध, ५५ अशरणशरण्य, ५६ गुणसमुद्र, ५७ सकलतत्त्वज्ञ, ५८ आत्मज्ञ, ५९ शुक्लध्यानी, ६० परमसम्यग्दृष्टि, ६१ तीर्थङ्कर, ६२ अनुपम, ६३ विश्वतत्त्वज्ञ, ६४ परमपुरुषार्थी, ६५ कमशैलवज्र, ६६ विश्वविद्याविशारद, ६७ निरावरण, ६८ स्वरूपासक्त, ६९ कृतकृत्य, ७० परमसंयमी, ७१ सकलक्षेत्रज्ञ, ७२ स्नातकनिर्ग्रन्थ, ७३ सयोगिजिन, ७४ परमनिर्जराकारक, ७५ गणनायक, ७६ परमशुद्ध, ७७ मुनिगणश्रेष्ठ, ७८ परमसंवरपति, ७९ तत्ववेत्ता, ८० आत्मरमण, ८१ मुक्तिस्त्रीवर, ८२ परमविरक्त, ८३ परमानन्द, ८४ परमतस्वी, ८५ परमक्षमावान्, ८६ परमशान्त, ८७ परमशुचि, ८८ परमत्यागी, ८९ अक्षुतब्रह्मचारी, ९० शुद्धोपयोगी, ९१ निरालम्ब, ९२ परमस्वतन्त्र, ९३ अशत्रु, ९४ निर्विकार, ९५ आत्मदर्शी, ९६ महर्षि, ९७ परमाकिञ्चन, ९८ जगदीश, ९९ विष्णु १०० ब्रह्मा, १०१ महेश, १०२ ईश्वर, १०३ जिनेन्द्र, इत्यादि नामो का उच्चारण कर उनके गुणों का चिन्तन करना चाहिए।

इस प्रकार श्रीमंत अर्हन्त देव के गुण मे जिसका अन्तःकरण तन्मय हो जाता है, वह ध्यानी अभ्यास के वश अर्हन्त देव के ध्यान मे तल्लीन हुआ अपनी आत्मा और अर्हन्तपरमात्मा के भेदभाव रहित हो जाता है, तब वह ज्ञानी अहर्निश आत्मा को सर्वज्ञ स्वरूप देखता है। उस सयय वह ऐसा विचार करता है कि यह सर्वज्ञ देव हैं और मैं उनके स्वरूप मे लीन हूं, अतः मैं भी उनके समान विश्वदृष्टा (सर्वज्ञ) हूं, अन्य नहीं हूं।

आत्मा मे अनन्त शक्ति छिपी हुई है। जब यह आत्मा उसको प्रकट करने का ध्यान रूप सदुद्योग करता है, तब उसकी सब शक्तियाँ विकसित हो जाती हैं। उस समय वह चौदह भुवन को क्षोभित करने की सामर्थ्य रखता है।

इस प्रकार रूपस्थ ध्यान का वर्णन हुआ। अब रूपातीत ध्यान का निरूपण करते हैं।

रूपातीत ध्यान

अथ रूपे स्थिरीभूतचित्तः प्रक्षीणविभ्रमः ।
अमूर्त्तमजमव्यक्तं ध्यातुं प्रक्रमते ततः ॥१५॥
चिदानन्दमयं शुद्धममूर्त्तं परमाक्षरम् ।
स्मरेद्यत्रात्मनात्मानं तद्रूपातीतमिष्यते ॥१६॥ (ज्ञा० प्र० ४०)

अर्थ–जब ध्यानी मुनि का रूपस्थ धर्म्यध्यान में चित्त स्थिर हो जाता है, चित्त की सब भ्रान्ति नष्ट हो जाती है, तब ध्यानी अमूर्त्त, अजन्मा, अव्यक्त (इन्द्रियों के अगोचर) परमात्म तत्त्व का ध्यान करना प्रारंभ करता है। जो परमात्मा चिदानन्द स्वरूप है, शुद्ध–द्रव्यकर्म और भावकर्म व नोकर्म से रहित है, शरीर रहित होने से अमूर्त्त है, परम अविनश्वर है, उस शुद्धात्मा का जो ध्यान किया जाता है, उसे रूपातीत ध्यान कहते हैं।

शंका–चित्तवृत्ति के क्षोभरहित हो जाने को योगी जन ध्यान कहते हैं। तब मोक्षप्राप्त परमात्मा का चिन्तन कैसे किया जावे ? क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त अन्य तत्त्व का ध्यान चित्त मे अनैक्य अवश्य उत्पन्न करता है। द्रव्यसंग्रह में भी कहा है–

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिन्तह किंवि जेण होइ थिरो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे झाणं ॥५६॥

अर्थ–हे मुने ! तुम कुछ भी शारीरिक चेष्टा न करो, अन्तर्जल्प तथा बाह्यजल्परूप कुछ भी वचन उच्चारण न करो, किसी दूसरे पदार्थ का चिन्तन न करो, ऐसा करने से तुम्हारी आत्मा अपने स्वरूप मे स्थिर हो जावेगी। इसे ही उत्कृष्ट ध्यान कहते हैं।

समाधान–आत्मा को अपने स्वरूप मे स्थिर करने के लिए रूपातीत ध्यान का आश्रय लिया जाता है। क्योंकि जब तक आत्मा को अपने गुणों मे स्थिर होने का अभ्यास नहीं हुआ है, तब तक इस ध्यान का अवलम्बन आवश्यक माना गया है। प्रथम परमात्मा के गुणों का पृथक् २ चिन्तन करे और उन गुणो के समूह से विशिष्ट परमात्मा का ध्यान करे, और अनन्य शरण होकर परमात्मा के स्वरूप मे तल्लीन हो जावे। जब आत्मा परमात्मा के स्वरूप मे एक रूप होकर मिल जाता है, तब ध्यानी के चित्त मे कुछ भी क्षोभ नहीं रहता है।

इस प्रकार शुद्धात्मा के गुणो द्वारा अमूर्त्त, शुद्धस्वरूप, परमात्मा का ध्यान करता हुआ ध्यानी मुनि अपनी आत्मा और परमात्मा

में अभेद भाव समझकर ऐसा विचार करे कि मैं और परमात्मा एक ही हूँ। मेरी आत्मा के और परमात्मा के स्वरूप में शक्ति की अपेक्षा से किंचिन्मात्र भी भेद नहीं है। केवल व्यक्ति की अपेक्षा से भेद है। परमात्मा कर्मरहित होगये हैं; इसलिए उनके सब गुण व्यक्त (प्रकट) होगये हैं और मेरी आत्मा कर्मविशिष्ट है, अतः वे गुण अव्यक्त (अप्रकट) हैं। लेकिन शक्ति रूपसे उनमें और मुझमे लेश मात्र अन्तर नहीं है।

कर्मरहित परमात्मा का स्वरूप यह है, जो रूपातीत ध्यान मे चिन्तन किया जाता है—

> व्योमाकारमनाकारं निष्पन्नं शान्तमच्युतम्।
> चरमाङ्गात्किञ्चिन्न्यूनं स्वप्रदेशैर्घनैः स्थितम् ॥ २२ ॥
> लोकाग्रशिखरासीनं शिवीभूतमनामयम्।
> पुरुषाकारमापन्नमयप्यमूर्तं च चिन्तयेत् ॥ २३ ॥ (ज्ञाना० अ० ४०)

अर्थ—अकाश के आकार अर्थात निराकार, पुद्गल के आकार से रहित, कृतकृत्य, शान्तस्वरूप, अपने स्वरूप में अच्युत (स्थिर) चरम शरीर से किंचित् न्यून, अपने आत्माके निविड़ प्रदेशों मे स्थित, लोक के अग्रभाग मे जो तनुवातलय है उसके अन्तिम भाग मे विराज मान, शिवस्वरूप अर्थात् पूर्व के अकल्याण रूप को छोडकर-कल्याण रूप हुए, आमय (शारीरिक व आत्मीय रोग) से वर्जित, पुरुषाकार को धारण करने वाले होते हुए भी अमूर्त्त अर्थात् पुद्गल के रूप रस गन्ध और स्पर्श रूप मूर्त्तधर्म रहित, ऐसे परमात्मा के स्वरूप का ध्यान करना चाहिए।

शंका–जिस परमात्मा के शरीर नहीं है, जो द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म रहित है, कृतकृत्य है, चैतन्यस्वरूप और आनन्दमय है तथा महान् और जगत मे सबसे श्रेष्ठ है, ऐसे अमूर्त्त परमात्मा के पुरुषाकार कैसे सम्भव हो सकता है?

समाधान–जैसे-पीतल आदि धातु की मूर्ति बनाने के लिए मोम भर कर साँचा बनाया जाता है, उसको अग्नि में पकाने पर मध्यवर्ती जो मोम होता है वह गल जाता है और उसके मध्य के आकाश का आकारमात्र रह जाता है। वैसे ही आत्मा जिस शरीर से अष्ट कर्मों का क्षय करके मोक्ष-प्राप्त करता है, उस चरम (अन्तिम) शरीर से कुछ कम अर्थात् नासिका कर्ण आदि छिद्र और त्वचा नखादि से न्यून शरीर का आकार रहता है।

अथवा—समस्त अवयवो मे परिपूर्ण और सब लक्षणों से परिपूर्ण निर्मल दर्पण मे पड़े हुए प्रतिबिम्ब के समान कान्तिवाले परमात्मा का ध्यान करे।

इसका आशय यह है कि जैसे स्वच्छ दर्पण में पुरुष के सम्पूर्ण अवयव और लक्षणों से विशिष्ट पुरुष का आकार दिखाई देता है, वैसे ही परमात्मा के प्रदेश अवयव रूप परिणत हो रहे हैं और लक्षणों की तरह आत्मा के सम्पूर्ण गुण विद्यमान रहते हैं।

इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करते रहने से ध्यानी की आत्मा में ऐसा दृढ़ संस्कार हो जाता है कि वह शब्दादि में भी परमात्मा को ही प्रत्यक्ष सा देखता है। उस समय ध्यानी को ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि मैं ही परमात्मा हूँ, मैं ही सर्वज्ञ हूँ। ज्ञानद्वारा सर्व व्यापक मैं ही हूँ, सिद्ध भी मैं ही हूँ और साध्य (सिद्ध करने योग्य) भी मैं ही हूँ, संसार से पृथक् परमात्मा, परमज्योति रूप सम्पूर्ण विश्व का दर्शक, और निरञ्जन (कर्मरूप अञ्जन रहित) मैं ही हूँ। जब ऐसे परमात्मा का ध्यान करने लगता है, उस समय वह निरंजन, अमूर्त, (अशरीरी) कलङ्क रहित जगद् का गुरु, ध्यान व ध्याता से रहित, महान् चैतन्य मात्र स्फुरायमान होता है। इस प्रकार ध्यानी भेद भाव का त्याग करके परमात्मा और अपने आत्मा में ऐक्य भाव को इस तरह प्राप्त होता है कि उसे पृथक् भाव प्रतीत ही नहीं होता है।

इस प्रकार रूपातीत ध्यान का वर्णन किया। अब संक्षेप से ध्यान की आवश्यकता और प्रभाव दिखाते हैं:—

हे आत्मन्! यदि तू संसार के शरीर जन्य रोगादि तथा इष्टवियोग, अनिष्ट-संयोग से उत्पन्न हुए मानसिक संकल्प और विकल्प के निमित्त से निष्पन्न व्याकुलता और जन्म मरण आदि भयानक दुःखों से सर्वथा दूर रहने वाले श्री अरहंत परमेष्ठी व सिद्धपरमेष्ठी के दिव्य आनन्द का रसानुभव करना चाहता है तो तू प्रत्येक अवस्था में अर्थात् अनुकूल तथा प्रतिकूल सब अवस्थाओं में सदा प्रसन्नचित्त हो, सदा शान्ति को धारण कर और सांसारिक विषयों में दौड़ते हुए मन को रोक।

शंका—जिसका मन ध्यान में समर्थ न हो। अर्थात् अभ्यास न होने के कारण मन को एकाग्र करने की क्षमता न हुई हो तो उसे क्या करना चाहिए, जिससे ध्यान की सिद्धि हो जाय?

समाधान—सबसे पहले उसे पर पदार्थ में जो ममत्व हो रहा है, उस को घटाने का प्रयत्न करना चाहिए। ज्यों ज्यों उस का परपदार्थ से ममत्वभाव कम होता जावेगा, त्यों त्यों उसके मन में क्षोभ उत्पन्न करने वाले संकल्प और विकल्प का ह्रास होता चला जायगा, और मन की स्थिरता होने लगेगी।

जब तक उसका मन स्थिरता को प्राप्त न हो, तब तक उसे अनित्य, अशरण आदि बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करना चाहिए। अर्थात् संसार तथा शरीर विषयादि की क्षणभंगुरता का विचार करना चाहिए, आत्मा की अशरणता का विचार करना चाहिए। इस प्रकार अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन भी धर्म्यध्यान माना गया है। इनके चिन्तन में मन की स्थिरता का अभ्यास करके पश्चात् अपने स्वरूप का निरूपण करे। अपने आत्मा में अपने को स्थिर करने के लिए पूर्वोक्त पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान का अवलम्बन ले।

धर्म्यध्यान का फल

असंख्येयमसंख्येयं सद्दृष्टयादिगुणेऽपि च ।
क्षीयते क्षपकस्यैव कर्मजातमनुक्रमात् ॥१२॥
शमकस्य क्रमात् कर्म शान्तिमायाति पूर्ववत् ।
प्राप्नोति निर्गतातङ्कः स सौख्यं शमलक्षणम् ॥१३॥ (ज्ञाना० अ० ४१)

इस धर्म्य ध्यान के प्रभाव से दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय करने वाले सम्यग्दृष्टि नामक चौथेगुणस्थान से लेकर अप्रमत्त नामक गुणस्थान तक इन चार गुणस्थानो मे असख्यात असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती है तथा दर्शन मोहनीय का उपशम करने वाले जीव के भी असंख्यात असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। अतः उक्त प्रकार धर्म्यध्यान करनेवाला संसार के आतंक-त्रास से रहित हुआ शान्ति सुख का अनुभव करता है।

धर्म्यध्यान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है तथा इसमें क्षायोपशमिक भाव रहता है और लेश्या सदा शुक्ल ही रहती है।

धर्म्यध्यान के चिह्न

अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वं गन्धःशुभो मूत्रपुरीषमल्पम् ।
कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि चिह्नम् ॥ (उक्तंच-ज्ञाना० अ० ४१श्लो १५)

अर्थ—धर्म्यध्यान परायण महात्मा के चित्त मे इन्द्रियो के विषयो की लम्पटता नहीं रहती है। उसके शरीर मे रोग नहीं रहता, अर्थात् शरीर नीरोग होता है। उसमे निष्ठुरता नहीं होती है। शरीर मे शुभगन्ध होता है। उसके मल व मूत्र स्वल्प होता है। शरीर कान्ति सहित होता है।वह सदा प्रसन्नचित्त रहता है। उसकी बोली में मिठास होता है। वह योगप्रवृत्ति के प्रथम चिह्न माने गये है।

धर्म्यध्यानी मरकर कहां जन्म लेते हैं, यह बताते हैं—

अथावसाने स्वतनुं विहाय, ध्यानेन संन्यस्तसमस्तसङ्गाः ।
ग्रैवेयकानुत्तरपुण्यवासे सर्वार्थसिद्धौ च भवन्ति भव्याः ॥ १६ ॥

देवराज्यं समासाद्य यत्सुखं कल्पवासिनाम् ।
निर्विशन्ति ततोऽनन्तं सौख्यं कल्पातिवर्तिनः ॥ १६ ॥
संभवन्त्यथ कल्पेषु तेष्वचिन्त्यविभूतिदम् ।
प्राप्नुवंति परं सौख्यं सुराः स्त्रीभोगलाञ्छितम् ॥ २० ॥ (ज्ञाना अ० ४१)

अर्थ—धर्म्यध्यान का आराधक भव्य पुरुष आयु के अन्त समय में शुभध्यान से समस्त परिग्रहों का त्यागकर अपने शरीर को छोड़ता है। वह महानुभाव नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पाँच अनुत्तर विमानों में जन्म लेता है। वहां पर जन्म लेनेवाले वे कल्पातीत विमानवासी देव सब अहमिन्द्र होते हैं। कल्पवासी देवों के इन्द्रों को जो सुख उपलब्ध होता है, उससे अनन्त गुणा सुख अहमिन्द्र देवों को प्राप्त होता है।

यदि धर्म्यध्यानी कल्पातीत विमानों मे कदाचित् जन्म न ले तो धर्म्यध्यान के प्रभाव से कल्पवासी देवों में तो अवश्य जन्म लेता ही है, अन्यत्र कदापि जन्म नहीं लेता। वहां पर कल्प स्वर्गों में भी देवांगनाओं सहित नित्योत्सव, दिव्य सुख का निरन्तर सागरो पर्यन्त भोग करता है।

तत्पश्चात् वह देव दिव्य भोगों का अनुभव कर स्वर्ग से च्युत होकर मनुष्यों से वन्दनीय पवित्र उच्चकुल में जन्म धारण करता है।

तत्पश्चात् वह शरीर और आत्मा को भिन्न अनुभव कर, उन दिव्य भोगो से विरक्त होकर, जिनदीक्षा लेकर सम्यक् रत्नत्रय की शुद्धि के लिए अत्यन्त दुष्कर तपस्या, तथा धर्म्य ध्यान और शुक्लध्यान को अपनी शक्ति के अनुसार स्वीकार करके कृत्स्न कर्मों का क्षयकर परम पद निर्वाण को पाता है।

इस प्रकार धर्म्यध्यान को इस लोक सम्बन्धी सुख का देनेवाला और दुःखों का क्षय करने वाला तथा परलोक में स्वर्गादि की सम्पत्ति और अनेक अनुपम ऐश्वर्य व सुख का देने वाला समझकर इसका आराधन करना चाहिए। इसके आराधन से चित्त की मलिनता मिट कर चित्त में आल्हाद उत्पन्न होता है। अनागत कर्मों का संवर और पूर्व बन्धे हुए कर्मों की निर्जरा होती है। इसलिए निरन्तर अपने चित्त को धर्म्यध्यान में निरत रखना उचित है। धर्म्यध्यान के जो साधन पूर्व मे लिखे गये हैं, उनकी सहायता लेकर अपने चित्त को स्थिर करने का अभ्यास करे। कर्मों का क्षय करनेवाला एक ध्यान ही अमोघ साधन है। ध्यान का आराधन किये बिना कर्म का क्षय होना असंभव है। जिन्होने मुक्ति को प्राप्त किया है उन महानुभावों ने ध्यान के धन का ही संचय किया था, ऐसा दृढ़ निश्चय कर शुभ ध्यान मे तत्पर रहना ही

मनुष्य का कर्तव्य है, यही साक्षात् आत्मा का कल्याण करनेवाला है।

शुक्ल-ध्यान का स्वरूप

निष्क्रियं करणातीतं ध्यानधारणवर्जितम् ।
अन्तर्मुखं च यच्चित्तं तच्छुक्लमिति पठ्यते ॥ ४ ॥ (ज्ञाना. अ. ४२)

अर्थ—जो ध्यान निष्क्रिय है अर्थात् कायादि की समस्त क्रियाओं से रहित है, इन्द्रियो से अतिक्रान्त है, ध्यान की धारणा से वर्जित है, अर्थात् मैं अमुक् का ध्यान करूं ऐसी धारणा–इच्छा से रहित है, जिसमें चित्त अपनी आत्मा में ही रत रहता है; बाह्य पदार्थ में नहीं दौड़ता, उसे शुक्लध्यान कहते हैं।

चारो ध्यानो में शुक्लध्यान ही सर्वोत्कृष्ट है, क्योंकि वही कर्म–क्षय का साधकतम कारण है। शुक्ल का अर्थ श्वेत–स्वच्छ है। कर्मों का नाश होने से आत्मा स्वच्छ होजाता है। वह स्वच्छता शुक्लध्यान का कारण है, इसलिए इस ध्यान को भी स्वच्छ कहा गया है। शुक्ल ध्यान शुद्धोपयोग का अविनाभावी है। शुद्धोपयोग का यह कार्य भी है और कारण भी। इस लिए भी यह शुक्ल है।

यह शुक्लध्यान आदि के तीन संहनन वाले मनुष्यों के ही होसकता है; उत्तर के तीनो संहनन वालो के नहीं। ध्यान की परिभाषा है एक पदार्थ को मुख्य कर (उसे विषय बनाकर) अन्य चिन्तनाओ से मनको हटा लेना। यह ध्यान अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त्त तक ही ठहर सकता है। इसके बाद जो ध्यान होगा वह दूसरा ध्यान कहलावेगा और इस प्रकार ध्यान की परम्परा चलेगी। ध्यान की परम्परा भी ध्यान ही कहलाती है।

इस ध्यान के चार भेद हैं–पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्ववितर्कविचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, व्युपरतक्रियानिवर्ति। पहले दो ध्यानो में जो वितर्क शब्द आया है उसका अर्थ श्रुत ज्ञान है। अर्थात् ये दोनों ध्यान श्रुत ज्ञानियो के ही होते हैं; केवल ज्ञानियो के नहीं। श्रुतज्ञान की उत्कृष्ट मर्यादा चौदह पूर्व और जघन्य मर्यादा अष्ट प्रवचन मातृका(पांच समिति और तीन गुप्तियों का ज्ञान) है। श्रुत ज्ञान की जघन्य मर्यादा से लेकर उत्कृष्ट मर्यादा तक यही दोनों शुक्लध्यान होसकते हैं।पर इसका मतलब यह कभी नहीं है कि यह दोनो ध्यान पूर्ण श्रुत केवली के ही हो। सूत्रकार के 'शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः' सूत्र में पहले के दोनों ध्यानों में श्रुतज्ञान की उत्कृष्ट मर्यादा बतलाई गई है। उनका आशय यह नहीं है कि पूर्ण श्रुतज्ञानियों के बिना ये दोनों ध्यान नहीं होसकते। अगर यह नहीं माना जाय तो फिर दशवें और ग्यारहवें गुण स्थानवाले निर्ग्रन्थ मुनियों के जघन्य श्रुतज्ञान अष्ट प्रवचन मातृका क्यों माना ?

चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक धर्म्यध्यान होता है यह पहले कह चुके हैं। धर्म्यध्यान श्रेणी चढने के पहले होता है। धर्म्यध्यान से श्रेणी का प्रारम्भ नहीं होसकता। इसलिए श्रेणी चढने के पहले धर्म्यध्यान और इसके बाद शुक्लध्यान होता है। इस तरह आदि के दोनो शुक्लध्यान श्रुतज्ञानियो और अन्त के दोनो ध्यान केवलज्ञानियो के होते हैं।

जिसमे चारित्र मोहनीय की इक्कीस प्रकृतियो के दबाने का कार्य किया जाता है वह उपशम श्रेणी और जिसमें उक्त प्रकृतियो का क्षय किया जाता है वह क्षपक श्रेणी कहलाती है। इन दोनो ही श्रेणियो मे क्रमशः प्रथम और द्वितीय शुक्ल होता है। अब उन ध्यानो का पृथक् २ वर्णन करते हैं :—

पृथक्त्व वितर्क वीचार

जिस ध्यान मे पृथक् पृथक् भिन्न २ रूप से श्रुतज्ञान निरूपित अर्थ (द्रव्य व पर्याय) तथा व्यञ्जन (शब्द) में योग (मन, वचन और काय योग) का संक्रमण-परिवर्तन होता है, उसे पृथक्त्ववितर्क वीचार नामक शुक्लध्यान कहते हैं।

इस ध्यान का आराधक-द्रव्य को छोडकर पर्याय मे आजाता है, तथा पर्याय का ध्यान करते २ द्रव्य मे आजाता है, अर्थात द्रव्य का ध्यान करने लगता है। इसे अर्थ-सक्रमण अर्थात् अर्थ का परिवर्तन कहते हैं। एक श्रुतवचन को ग्रहण कर पश्चात् उसे छोडकर दूसरे श्रुतवचन का ध्यान करने लगता है। उसको भी छोडकर दूसरे श्रुतवचन का विचार करने लगता है। इसे व्यञ्जन संक्रान्ति कहते हैं। काययोग का अवलम्बन भी त्याग कर मनोयोग का आश्रय लेता है। पुनः इसे भी छोडकर अन्ययोग का अवलम्बन लेता है। इस प्रकार के परिवर्तन (बदलने को) वीचार कहते हैं।

इस ध्यान का धारक वही होता है-जो आदि के उत्तम सहननो में से किसी एक का धारण करने वाला हो, उत्तम (वज्रवृषभनाराच) सहनन होने के कारण परिषहों की बाधा को सहन करने मे समर्थ हो। वही सहिष्णु मुनि पर्वत की गुफा, शिखर, वृक्ष की कोटर, (खोह) नदीतट, श्मसान, पुराना वन, शून्य गृह उपवनादि मे से किसी एक ऐसे स्थान मे जहां पर पशु, पक्षी, स्त्री, नपुंसक, मनुष्यादि का गमनागमन न हो, जहा पर क्षुद्र जीव जन्तु न हो, और दूसरे स्थानों से वहां पर उनके आने की सम्भावना भी न हो, वह स्थान अत्यन्त उष्ण न हो और अत्यन्त शीत भी न हो, वहां पर अत्यधिक वायु का भी संचार न हो, वर्षा और आतप (गर्मी) की बाधा से वर्जित हो, बाह्य और अंतरङ्ग के चित्तविक्षेप के कारण न हो, ऐसे पवित्र तथा अनुकूल स्पर्शवाले भूमि भाग पर सुखकर आसन लगाकर बैठे। पर्यङ्कासन (पालथी) पद्मासन आदि लगा कर अपने शरीर को तना हुआ रखे। अपनी गोद मे वाम (बाऍं) हाथ की हथेली रखे। दातो के अग्रभागो को परस्पर अत्यन्त न जोडे और अधिक खुले रखे। मुख को थोडा सा झुका हुआ रखे। शरीर के मध्य भाग को सीधा और तना हुआ रखे, मुख की छवि प्रसन्न और नेत्र

दृष्टि सौम्य और निर्निमेप (पलक-टिमकार रहित) हो। निद्रा, आलस्य, काम, राग, रति, अरति, शोक, भय, हास्य, द्वेष, विचिकित्सा आदि का सर्वथा त्याग करे। तथा श्वासोच्छ्वास का मन्द मन्द प्रचार करे। इत्यादि कृतपरिकर्मा साधु अर्थात् उक्त ध्यान के साधनो से सुसज्जित ध्याता नाभि के ऊपर हृदय, मस्तक अथवा भ्रूलता के मध्य, ललाट प्रदेशादि और भी अनेक स्थनों में जहां परिचय किया हो वहां मनोवृत्ति को रोककर इस ध्यान का अभ्यास प्रारम्भ करे। परिचित-अभ्यस्त किसी स्थान पर मन को एकाग्र करके राग द्वेष और मोह को शान्त करता हुआ निपुणता से शारीरिक क्रिया का निग्रह करे, श्वासोच्छ्वास की गति मन्द मन्द करे, विचार को निश्चल रक्खे और क्षमा का धारण करे, बाह्य और आभ्यन्तर द्रव्य पर्याय का ध्यान करने से श्रुत ज्ञान के सामर्थ्य को प्राप्त हुए मुनि का मन अर्थ (द्रव्य पर्याय) और व्यंजन (वचन) तथा काय योग और वचन योग मे पृथक् पृथक् रूप से संक्रमण करना है अर्थात् द्रव्य से पर्याय में पर्याय से द्रव्य मे तथा काय योग से वचन योग मे और वचन योग मे काययोग मे भ्रमण करता है। उस समय यह ध्यानी मुनि चारित्र मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का शनैः शनैः अति मन्द गति से उपशमन अथवा क्षपण करना प्रारम्भ करता है। जैसे अति उत्साही बालक कुंठित कुल्हाड़ी से चिरकाल में तरु (वृक्ष) का छेदन करने मे समर्थ होता है, क्योकि उसके द्वारा चलाई गई वह कुंठित कुल्हाड़ी कभी किधर गिरती है और कभी किधर, ठीक लक्ष्य पर अवस्थित नहीं रहती। इसी प्रकार इस ध्यान के धारक का चित्त अर्थ पर्याय और काय योग तथा वचन योग मे भ्रमण करता है; इसलिए मन्दगति से मोह की प्रकृतियो को उपशमन अथवा क्षपण करता है।

यह ध्यान मनोयोग, वचनयोग और काययोग इन तीनो योगो के धारक मुनियो के होता है। चतुर्दश पूर्व के ज्ञाता श्रुत केवली ही इस को ध्या सकते हैं।

एकत्ववितर्क अवीचार नामा शुक्ल ध्यान—

ज्ञेयं प्रक्षीणमोहस्य पूर्वज्ञस्याभिमतद्युतेः ।
सवितर्कमिदं ध्यानमेकत्वमतिनिश्चलम् ॥ २५ ॥ (ज्ञाना० अ० ४२)

अर्थ—जिसके चारित्र मोह का क्षय हो गया है, तथा जो पूर्व का ज्ञाता है, जिसकी तेजस्विता लोकोत्तर है, उसके अनिश्चल अर्थात् परिवर्तन रहित, अवीचार रूप एकत्ववितर्क नाम का शुक्लध्यान होता है।

भावार्थ-क्षीण मोही मुनि ही एकत्ववितर्क अवीचार नामक ध्यान का आराधक होता है। उसका ध्यान निश्चल होता है। जिस द्रव्य का, जिस अणु का, अथवा जिस पर्याय का वह चिन्तन करता है उसमे मनोवृत्ति निश्चल रहती है, योग का परिवर्तन नहीं होता है। इस निर्मल ध्यान रूपी अग्नि के प्रज्वलित होने पर ध्याता अनन्त गुणी विशुद्धि को प्राप्त हुए योग विशेष का आश्रय लेकर ज्ञानावरण की सहायकबहुतसी

प्रकृतियों का बन्ध रोकता है तथा उनकी स्थिति का ह्रास और क्षय करता है। श्रुतज्ञान में उसका उपयोग निश्चल रहता है। द्रव्य अथवा पर्याय में, अथवा श्रुत वचन में उसका चित्त स्थिर रहता है। अर्थ (द्रव्य पर्याय) और व्यञ्जन (श्रुत वचन) और काय योग तथा वचन योग में मन का संक्रमण (परिवर्तन) नहीं होता है। सुमेरु की भांति अडोल अकम्प रहता है तथा सम्पूर्ण कषायों का क्षय हो जाने से वैडूर्य मणि के समान स्वच्छ होता है। जिस पदार्थ पर ध्यान होता है, उसको फिर नहीं बदलता है। इस प्रकार के ध्यान को एकत्व वितर्क अवीचार नाम का शुक्लध्यान कहते हैं। अन्तमें इस एकत्ववितर्क अवीचार नामकशुक्लध्यान रूपी जाज्वल्यमान अग्नि से मुनि केवलज्ञान और केवल दर्शन के अवरोधक ज्ञानावरण, और दर्शनावरण, मोहनीय और अनन्त अभयदानादि में विघ्न करनेवाले अन्तराय कर्म इन चार घाति कर्मों को सर्वथा भस्म करते हैं।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान

सर्वज्ञः क्षीणकर्मासौ केवलज्ञानभास्करः।
अन्तर्मुहूर्त्त शेषायुस्तृतीयं ध्यानमर्हति ॥ ४१ ॥ (ज्ञाना० अ० ४२)

अर्थ—जिनके चार घाति कर्म नष्ट होगये हैं, जिन्होंने केवलज्ञान रूपी सूर्य से सम्पूर्ण लोकालोक को प्रकाशित कर दिया है, ऐसे सर्वज्ञ सयोगकेवली की जब अन्तर्मुहूर्त्त मात्र आयु शेष रहती है, तब वे इस सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक ध्यान का आराधन करते हैं।

भावार्थ—जब क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनीश्वर एकत्ववितर्कअवीचार नामके शुक्ल ध्यान से चार घाति कर्म का नाश करके सयोगकेवली भगवान् होजाते हैं, तब वे उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त सहित अष्ट वर्ष हीन पूर्व कोटि पर्यन्त लोक में विहार करते हैं। जब उनकी आयु अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहजाती है और नाम, गोत्र, तथा वेदनीय कर्म इन तीनों की भी उतनी (अन्तर्मुहूर्त्त मात्र) स्थिति रह जाती है, तब वे केवली भगवान् सब वचनयोग, मनोयोग तथा बादर काययोग का सर्वथा परित्याग करके सूक्ष्मकाययोग का आश्रय लेकर सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान का आराधन करते हैं, जब अन्तर्मुहूर्त्त मात्र शेष आयु रही हो और अन्य तीन कर्मों की स्थिति अधिक हो उस समय वे योगीश्वर सामायिक की सहायता सहित निशिष्टिकरणरूप महासंवर के कर्त्ता अति शीघ्र कर्म का परिपाचन करने के स्वाभाव वाले तथा सम्पूर्ण कर्म रज का विध्वंस करने की स्वाभाविक शक्तिवाले आत्मा के उपयोगातिशय से दण्ड, कपाट, प्रतर और लोक पूरण रूप आत्मा के प्रदेशो को चार समय में फैलाकर फिर चार ही समयो मे प्रतर कपाट् दण्ड और आत्म-प्रवेश रूप आत्मा के प्रदेशों को संकोच करके सब कर्मों की स्थिति समान करलेते हैं और पूर्व शरीर प्रमाण होकर सूक्ष्मकाय योग से सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक शुक्ल ध्यान का आराधन करते हैं।

समुच्छिन्नक्रियानिवर्त्ती नामक ध्यान

द्वासप्ततिर्विलीयन्तेकर्मप्रकृतयो द्रुतम्
उपान्त्ये देवदेवस्य मुक्तिश्रीप्रतिबन्धकाः ॥ ५२ ॥
तस्मिन्नेव क्षणे साक्षादाविर्भवति निर्मलम् ।
समुच्छिन्नक्रियं ध्यानमयोगिपरमेष्ठिनः ॥ ५३ ॥ (ज्ञाना० अ० ४२)

अर्थ—श्रीमत् देवाधिदेव अर्हन्तदेव के अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान के उपान्त्य (अन्त समय के पहले) समय में मुक्तिलक्ष्मी की प्रतिबन्धक (बाधक) बहत्तर कर्म प्रकृतियां अतिशीघ्र क्षीण हो जाती हैं । उसी समय अर्थात् अयोगकेवली गुणस्थान के उपान्त्य समय में अयोगकेवली भगवान् के निर्मल समुच्छिन्नक्रिया नामक शुक्लध्यान प्रकट होता है और अन्तिम समय तक रहता है ।

भावार्थ–जिस ध्यान मे श्वासोच्छ्वास का प्रचार नष्ट हो जाता है, सम्पूर्ण शरीर,वचन व मन के योग नष्ट होजाने से आत्मा के सब प्रदेशो के परिस्पंदन का अभाव हो जाता है, उसका समुच्छिन्न क्रिय ध्यान कहते हैं । यह ध्यान अयोगकेवली के उपान्त्य (अन्त के पहले समय) मे होता है । उसी उपान्त्य समय मे अयोगकेवली के साता असाता वेदनीय प्रकृति में से एक प्रकृति, देवगति, औदारिक, वैक्रियिक आहारक, तैजसकार्माण शरीर बंधन, पांच संघात, छह संस्थान, औदारिक वैक्रियिक आहारक के अंगोपाग, छहसंहनन, पांच प्रशस्त और पांच अप्रशस्त वर्ण, दो गंध, पाच प्रशस्त रस, और पांच अप्रशस्त रस, स्पर्शआठ, देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, अपर्याप्तक, प्रत्येक शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ,अशुभ, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर.अनादेय, अयशःकीर्त्ति, निर्माणनाम, नीचगोत्र इन बहत्तर प्रकृियो का क्षय होता है । तथा अन्तिम समय मे–साता असाता वेदनीय मे से एक प्रकृति, मनुष्यायु मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रियजाति, मनुष्यगतिप्रायोग्या नुपूर्वी, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशःकीर्त्ति, तीर्थंकर नाम, उच्चगोत्र इन तेरह प्रकृतियो का विनाश होता है ।

इस ध्यान के प्रभाव से वे अयोगकेवली भगवान् सम्पूर्ण कर्ममल से विमुक्त, अत्यन्त स्फटिक मणिवत् निर्मल, परमशान्त, निष्कलङ्क, निरायम और जन्म-मरण रूप संसार के दुर्निवार बन्ध के क्लेशो से रहित होजाते हैं । जिनका आत्मा सिद्ध और निष्पन्न अर्थात् परिपूर्णता को प्राप्त हो गया है, जो निरञ्जन–कर्मअञ्जन से रहित, क्रिया रहित है, शरीर रहित हैं, शुद्ध है, विकल्परहित है, और अत्यन्त निर्मल हैं, जिनके यथाख्यात चारित्र पूर्ण हो गया है । अनन्तवीर्य प्रकट हो गया है । जिनके दर्शन और ज्ञान परमोत्कृष्टशुद्धि को प्राप्त हो गये हैं, तीनों योगों का अभाव होने से अयोगी है और केवल ज्ञान के उत्पन्न होने से केवली हैं, जिन्होने अपनी आत्मा को साध लिया है,

अपने (आत्मा के) स्वभाव को सिद्ध कर लिया है, अतः सिद्ध स्वभाव हैं, परमस्थान पर स्थित हैं, इसलिए परमेष्ठी हैं-ऐसे अयोगकेवली परमात्मा बन्धन से मुक्तहुए स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करते हैं, और लोक के अग्रभाग में अर्थात् लोक के अन्त में जो तनुवातवलय है, उसके अन्तिम भाग में जाकर विराजमान होते हैं।

शंका—कर्ममुक्त भगवान् के गमन के कोई कारण नहीं है, क्योंकि जीव का गमन विहायोगति नाम कर्म के उदय से होता है। वह जिन भगवान के सर्वथा नष्ट हो गया है। फिर उनके गमन में क्या कारण है, जिससे वे गमन करके लोक के अन्तभाग में जाकर विराजमान होते हैं?

समाधान—यद्यपि भगवान के गति कराने वाला विहायोगतिनामा नामकर्म नहीं है, तथापि निम्नोक्त पाँच कारणों से उनका गमन होता है। वही मोक्षशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में कहा है—

"पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च।"

अर्थात् जैसे कुम्हार के हाथ व दंड के संयोग से चाक का भ्रमण होता है किन्तु चाक के हाथ व दंडे का संयोग न रहने पर भी वह कुम्हार का चाक पूर्व संस्कार के वश कुछ देरतक घूमता रहता है। वैसे ही संसार अवस्था में जीव ने मोक्ष की प्राप्ति के लिए बहुत बार प्रयत्न किया था उस प्रयत्न का अब अभाव होने पर भी पूर्व प्रयोग के कारण मुक्त जीव का गमन होता है। यह एक हेतु है। दूसरा हेतु है 'असंग' अर्थात्-जैसे मिट्टी से लिपटी हुई तुम्बी जल के संसर्ग से मिट्टी के दूर हो जाने पर निसंग होने से पानी के ऊपर आजाती है, वैसे ही कर्म भार से दबा हुआ आत्मा कर्मवश नियम रहित संसार में ऊँचा नीचा व तिरछा गमन किया करता था, अब कर्म सम्बन्ध न रहने से जीव ऊपर गमन करता है। तथा तीसरा हेतु है-बन्धन का छेदन।

जैसे-एरण्ड के बीज का कोश (ऊपर का छिलका) जब फट जाता है, तब उसका बीज ऊपर को उछलता है। वैसे ही मनुष्यादि पर्याय में लेजाने वाले गति, जाति, शरीरादि सम्पूर्ण कर्मों का छेदन होने से जीव का ऊर्ध्व गमन होता है। चौथा हेतु यह है:—

जैसे-वायु के सम्बन्ध से रहित दीपक की शिखा स्वभाव से ऊपर को जाती है, वैसे ही कर्म सम्बन्ध से रहित मुक्तजीव भी स्वभाव से ऊपर की ओर गमन करते हैं। ऊर्ध्वगमन करने का उनका स्वभाव है। और स्वभाव में तर्क नहीं होता है। जैसे अग्नि का स्वभाव उष्ण है, इसमें यह तर्क नहीं किया जाता कि अग्नि उष्ण क्यों है? जल के समान शीतल क्यों नहीं 'स्वभावोऽतर्क गोचरः' अर्थात् वस्तु के स्वभाव में तर्क नहीं हो सकता।

शंका—मुक्तात्मा का ऊर्ध्वगमन करने का स्वभाव है, तो निरन्तर उसे ऊर्ध्वगमन करते रहना चाहिए । आपने तो उस को लोक के अग्रभाग मे स्थित मानी है सो कैसे ?

समाधान—प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिये दो कारणो की आवश्यकता होती है, एक अन्तरङ्ग और दूसरा बहिरंग । मुक्तात्मा के गमन रूप कार्य मे अन्तरङ्ग कारण तो जीव का ऊर्ध्वगमन करने का स्वभाव है । और वहिरङ्ग कारण धर्म द्रव्य है, क्योंकि धर्म द्रव्य के निमित्त से जीव और पुद्गल गमन करते हैं । धर्म द्रव्य के अभाव मे जीव गमन नही कर सकता । धर्म द्रव्य लोकान्त तक ही है, उस के आगे नहीं । तनुवातवलय के परे धर्म द्रव्य का अभाव होने से मुक्त जीव आगे गमन नहीं कर सकते; क्योकि गति का बहिरङ्ग कारण नहीं है इसलिए मुक्तात्मा लोक के अग्रभाग मे विराजान रहते हैं ।

इस प्रकार समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति नामा शुक्लध्यान का वर्णन किया ।

यहां पर एक शंका उपस्थित होती है कि चित्त की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं । किन्तु जिसके मन द्वारा चिन्तन नहीं होता है, ऐसे केवली भगवान के ध्यान का सद्भाव कैसे कहा ?

समाधान—यद्यपि केवली भगवान के ध्यान नहीं होता है, तथापि उपचार से उनके ध्यान माना गया है । उपचार से ध्यान मानने का कारण यह है कि ध्यानकर्म-क्षय का साधक कारण है और कर्मक्षय तो केवली भगवान के भी होता है । इसलिए उनके उपचार से ध्यान माना गया है । तथा उनके द्रव्यमन विद्यमान है ; इसलिए कर्म-क्षय रूप कार्य को देख कर उपचार से केवलियों के भी ध्यान मान लिया गया है ।

व्युत्सर्ग तप

व्युत्सर्ग नाम त्याग का है । बाह्य और आभ्यन्तर उपधि के त्याग करने को व्युत्सर्ग कहते हैं यथा—

दुविहो य विउस्सग्गो अब्भंतरबाहिरो मुणेयव्वो ।
अब्भंतरकोहादी बाहिरं खेत्तादियं दव्वं ॥२०६॥ मूला० पंचा०

अर्थ—परिग्रह के त्याग को व्युत्सर्ग कहते हैं । उसके दो भेद हैं—अभ्यन्तरपरिग्रहव्युत्सर्ग और बाह्यपरिग्रह व्युत्सर्ग क्रोधादि के त्याग को आभ्यन्तरपरिग्रहव्युत्सर्ग तथा क्षेत्रादि द्रव्य के त्याग को बाह्यपरिग्रहव्युत्सर्ग कहते हैं । इनका नाम अभ्यन्तरोपधित्याग और बाह्योपधिपरिग्रहत्याग भी है । उपधिका अर्थ परिग्रह है ।

'अनुपात्तवस्तुत्यागो बाह्योपधिव्युत्सर्गः' अर्थात् जो वस्तु आत्मा के एकत्व (अभेदपने) को प्राप्त नहीं है, आत्मा से भिन्न है, उसे बाह्य उपधि कहते हैं, उसके त्याग करने को बाह्योपधि व्युत्सर्ग कहते हैं।

"क्रोधादिभावनिवृत्तिरभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्गः" अर्थात् क्रोध मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, हास्य, रति, अरति, शोक, भय आदि दोषों की निवृत्ति (त्याग) को अभ्यन्तरउपधिव्युत्सर्ग कहते हैं। अथवा

"कायत्यागश्च नियतकालो यावज्जीवं वा" अर्थात् अभ्यन्तरउपधिव्युत्सर्ग नियतकाल (कालके परिमाण सहित) अथवा जीवन पर्यन्त शरीर का त्याग करना भी अभ्यन्तर उपधिव्युत्सर्ग है।

इसका आशय यह है कि शरीर का आत्मा से सन्निकट सम्बन्ध है;इसलिए इसे भी अभ्यन्तर उपधि कहा है। इसका अन्तर्मुहूर्त, एक पहर, एक दिन, दो दिन, एक सप्ताह, एक पक्ष, एक मास, छह मास, बारह मास तक काल की अवधि लेकर शरीर से सर्वथा ममत्व के त्याग करने को नियतकाल (परिमित काल पर्यन्त) काय का त्याग नामक अभ्यन्तर उपधि व्युत्सर्ग कहा जाता है। तथा जीवन पर्यन्त शरीर से ममत्व के त्याग करने को यावज्जीवकाय त्याग नामक अभ्यन्तर व्युत्सर्ग माना गया है।

यह व्युत्सर्गतप निःसङ्गता (परवस्तु में अनासक्ति) निर्भयता—जीवित रहने की आशा की निवृत्ति, दोषों का निराकरण, तथा मोक्ष मार्ग की भावना में तत्पर रहने के लिए सेवन किया जाता है।

मूलाचार में अन्तरङ्ग परिग्रह के चौदह भेद और बाह्य परिग्रह के दस भेद निम्नप्रकार कहे हैं:—

चौदह प्रकार का अन्तरङ्ग परिग्रह—

मिच्छत्तवेदरागा तहेव हस्सादिया य छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया चोद्दस अब्भंतरा गंथा ॥२१०॥ (मूला. पञ्चा.)

अर्थ—मिथ्यात्व, राग, द्वेष, वेद (स्त्रीवेद पुरुषवेद, नपुंसकवेद) हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा तथा क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चौदह आभ्यंतर परिग्रह हैं। इनका त्याग करना आभ्यन्तरव्युत्सर्ग कहलाता है।

दश प्रकार का बाह्य परिग्रह—

खेत्तं वत्थु धणधण्णगदं दुपदचदुप्पदगदं च।
जाणसयणासणाणि य कुप्पे भंडेसु दस होंति॥२११॥ (मूला. पञ्चा)

अर्थ—धान्यादि के उत्पत्ति स्थान को 'क्षेत्र' कहते हैं। रहने के निवासस्थान घर हवेली महल बंगले आदि को 'वास्तु' कहते हैं। स्वर्ण चांदी, हीरा, मोती, माणिक आदि को 'धन' कहते हैं। शालि जो, गेहू, ज्वार, मक्का, बाजरा, आदि को 'धान्य' कहते हैं। दासी, दास, नौकर, चाकर, आदि स्त्री पुरुष को द्विपद कहते हैं। गाय, भैंस, घोड़ा, हाथी, बैल आदि पशुओ को चतुष्पद (चौपाये) कहते हैं। रथ, गाड़ी, तांगे, मोटर, वायुयान आदि सवारी को यान कहते हैं। पलंग, शय्या, खाट, आदि सोने के साधन को शयन कहते हैं। कुरसी, कोच आदि बैठने के साधन को आसन कहते हैं। सूत के कपड़े ऊनी, वस्त्र, चन्दन आदि को कुप्य कहते हैं। सोने व चांदी के अतिरिक्त द्रव्य को भी कुप्य माना है। तथा लाटी संहिता मे घृतादि पदार्थ को कुप्य कहा है। और राजवार्तिक में क्षौम (सूक्ष्म वस्त्र) कार्पास (सूती वस्त्र) कौशेय (रेशमी वस्त्र) तथा चन्दनादि को 'कुप्य' माना है, वस्तुत. इन अर्थों मे कुछ भी अन्तर नहीं प्रतीत होता है; क्योकि सोने व चांदी से अतिरिक्त सब द्रव्य 'कुप्य' शब्द के अर्थ होते हैं। इसी प्रकार भाण्ड शब्द के अर्थमे भी भिन्न २ मत हैं। मूलाचर की टीका में 'भाण्ड' शब्द का अर्थ 'हींग मिरच आदि' किया है। ऐसा ही अर्थ भगवतीआराधना की संस्कृत टीकाओं में किया है लाटी संहिता में 'भाण्ड' शब्द का अर्थ भाजन (बर्त्तन) किया है। वह इस प्रकार है।

कुप्यशब्दो घृताद्यर्थस्तद्भाण्डं भाजनानि वा। (सर्ग ६ श्लो० १०७)

अर्थात्—घृतादि पदार्थ को कुप्य कहते हैं और भाण्ड का अर्थ भाजन (पात्र) है।

इस प्रकार चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग और दश प्रकार के बाह्य परिग्रह के त्याग को व्युत्सर्ग तप मूलाचार में माना है। और राजवार्तिक में परिमित काल तक तथा जीवन पर्यन्त शरीर के साथ ममत्व त्याग को भी व्युत्सर्ग माना है। इस का आशय यह है कि परिग्रह का त्याग तो महा व्रत में ही हो गया है, इसलिए व्युत्सर्ग तप में कायादि के ममत्व का त्याग करना ही श्रेष्ठ है।

वीर्याचार का स्वरूप

अणुगूहियबलवीरिओ परक्कमदि जो जहुत्तमाउत्तो।
जुंजदि य जहाथाणं विरियाचारोत्ति णादव्वो ॥ २१५ ॥ (मूला० पंचा०)

अर्थ—अपने बल और वीर्य को न छिपाते हुए जो मुनि आगमानुसार तपस्या और चारित्र में उद्यमशील होकर उत्साह करते हैं तथा अपनी शारीरिक स्थिति के अनुसार आत्मा को तपस्या मे लगाते हैं, उसे वीर्याचार कहते हैं।

भावार्थ—आहार औषधि आदि से उत्पन्न हुई शारीरिक शक्ति को बल कहते हैं। वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से जन्य तथा संहनन की अपेक्षा रखने वाली स्थिरता और शरीर के अवयव हाथ पाव जंघा कटि (कमर) स्कन्ध (कन्धे) आदि सुदृढ़ बन्धन की अपेक्षा करने वाले सामर्थ्य को वीर्य कहते हैं। उक्त बल और वीर्य को न छिपाकर जो मुनीश्वर शास्त्र विहित विधि के अनुसार, उत्साह पूर्वक, तीन प्रकार की अनुमति रहित, सत्रह प्रकार के संयम म अपनी शारीरिक स्थिति को ध्यान में रखकर अपनी आत्मा को लगाता है, उसके वीर्याचार होता है।

इसका आशय यह है कि अपने बल और वीर्य के अनुसार तथा बाह्य परिस्थिति को ध्यान मे रखकर संयम का अवश्य आचरण करना चाहिए। जो मुनि यथोक्त शारीरिक अन्तरंग और बहिरंग शक्ति के अनुसार सयम पालन मे प्रमाद करता है, वह अमूल्य चिन्तामणि समान अवसर को हाथ से खोता है, तथा अपने आत्माके प्रति विश्वास घात करता है। इसलिए मुनीश्वरों को उचित है कि वे अपनी योग्यता के अनुसार तपस्या आदि को बढाते रहें; किन्तु शक्ति से अधिक तपस्या आदि को ग्रहण करने का दुःसाहस भी न करें। जिस आचरण से आत्मा मे उत्साह बढ़ता जावे वैसा ही आचरण करना चाहिए।

ऊपर तीन प्रकार की अनुमति का परिहार तथा सत्रह प्रकार के संमय के पालन करने की बात कही है, उसे यथाक्रम से वर्णन करते हुए प्रथम तीन प्रकार की अनुमति का निरूपण करते हैं—

अनुमति के तीन भेद

पडिसेवा पडिसुणणं संवासो चेव अणुमदो तिविहा।
उद्दिट्ठं जदि भुंजदि भोगादि य होदि पडिसेवा ॥२१७॥ (मूला० पंचा०)

अर्थ—प्रति सेवा, प्रतिश्रवण और संवास इस प्रकार अनुमति के तीन भेद हैं। दाता ने पात्र का उद्देश करके आहारादिक बनाया अथवा वसतिका वा पिच्छी पुस्तक आदि उपकरण तैयार करवाया या मंगवाया हो, और ऐसे आहारादि कोमुनि ग्रहण करे तथा उस उपकरणादि को स्वीकार करे तो उसके प्रतिसेवा नामक अनुमति दोष होता है।

उद्दिट्ठं जदि विचरदि पुव्वं पच्छाव होदि पडिसुणणा ।
सावज्जसंकिलिट्ठो ममत्तिभावो दु संवासो ॥ २१८ ॥ (मूला० पंचा०)

अर्थ—दाता पात्र को पहले ही कहदे कि मैंने आपके निमित्त प्रासुक आहारादि बनाया है, अथवा उपकरणादि तय्यार किया या करवाया है, उसे ग्रहण कीजिए। इस प्रकार सुनकर यदि साधु उस आहारादि का ग्रहण करले तो उससाधु के प्रतिश्रवण नामक अनुमति दोष होता है। अथवा पात्र को आहारादि अथवा उपकरणादि देकर दाता कहे कि यह आहारादि आपके निमित्त बनाया था, उसे आपने ग्रहण करलिया, अतः अब मुझे सन्तोष हुआ, ऐसा सुनकर चुप रहे अथवा संतोष धारण करले तो उसके प्रतिश्रवण नामक दूसरा अनुमति दोष होता है। जो साधु आहारादि तथा उपकरण के निमित्त सदा संक्लेश परिणाम करता हुआ गृहस्थों के साथ निवास करता है और उनमें ममेदं 'भाव' (ममत्व भाव) करता है, उस के सवास नामक तीसरा अनुमति दोष होता है।

इस प्रकार अनुमति करने वाले साधु के यथोक्त बलवीर्य का आचरण नहीं होता है। उसने तो बलवीर्य को छिपाया है, इसलिए उसके वीर्याचार का सेवन नहीं होता है। अतः वीर्याचार के आराधन करने वाले को उक्त तीन प्रकार की अनुमति का परिहार करना चाहिए।

सत्रह प्रकार का संयम

पुढविदगतेउवाऊवणप्फदी संजमो य बोधव्वो ।
विगतिगचदुपंचेदिय अजीवकायेसु संजमणं ॥ २२० ॥
अप्पडिलेहं दुप्पडिलेहमुवेक्खवहट्टु संजमो चेव ।
मणवयणकायसंजमसत्तरसविधो दु णादव्वो ॥ २२१ ॥ (मूला० पंचा०)

अर्थ—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, और वनस्पति कायिक इन पाँच स्थावरजीवों की रक्षा करना पांच प्रकार का संयम है तथा दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चोइन्द्रिय और पांचइन्द्रय इन चार प्रकार के त्रसजीवों की रक्षा करना चार प्रकार का संयम है। सूखे तृणआदि का छेदन न करना यह अजीवकायरक्षा नामक संयम है। ये दश प्रकार का संयम हुआ। शेष सात प्रकार का सयम निम्न प्रकार है—१ अप्रतिलेखसंयम, २ दुःप्रतिलेखसंयम, ३ उपेक्षा संयम, ४ अपहरणसंयम, ५ मनःसंयम, ६ वचनसंयम और ७ काय-संयम।

(१) अप्रतिलेख-संयम—नेत्र से अथवा पिच्छी से किसी पदार्थ तथा पदार्थ के आधार भूत स्थान का देखना व शोधन करना, अप्रतिलेख-संयम है।

(२) दुःप्रतिलेख-संयम—यत्नपूर्वक प्रमादरहित होकर जीव रक्षा करते हुए वस्तु का प्रमार्जन करना दुःप्रतिलेख संयम है।

(३) उपेक्षा-संयम—प्रतिदिन उपकरण (पुस्तकादि) का निरीक्षण करना, पिच्छी से प्रमार्जन करना उपेक्षा-संयम है।

(४) अपहरण-संयम—उपकरणों से पंचेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि जीवों को अन्य स्थान में निक्षेपण न करना अपहरण-संयम है।

इसका आशय यह है कि कमण्डलु आदि में कोई जीव आकर गिर पड़े अथवा अन्दर घुसजावे तो उसकी रक्षा के निमित्त उसे यत्नपूर्वक अन्यत्र स्थापन करना दोषजनक नहीं है, किन्तु प्रमादवश या सहसा किसी जीव ने आकर अपना निवास स्थान बना लिया हो, उसको दूर करने से जीवबाधा प्रतीत होती हो तो उसे उस स्थान से पृथक् न करना चाहिए।

चारित्रसार में अपहृत (अपहरण) संयम के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य तीन भेद बताये हैं। प्रासुक वसतिका और आहार मात्र बाह्य साधन की अपेक्षा रखने वाले, जिनके ज्ञान और चारित्र की क्रिया परतन्त्र है, अर्थात् जो पुस्तक, कमण्डलु, पिच्छी, वसतिका आदि संयम के उपकरण की अपेक्षा रखने वाले हैं, वो मुनीश्वर बाह्यजन्तु के आकर गिर जाने पर उन उपकरणादि को छोड़कर जीवरक्षा के निमित्त आप स्वयं अलग होजाते हैं, उनके उत्तम अपहृत संयम होता है। मृदु (अत्यन्त कोमल) उपकरण से मार्जन करके उन आगत जीवों को दूर करने वाले मुनि के मध्यम अपहृत संयम होता है। तथा दूसरे उपकरण की इच्छा से पूर्व के उपकरणों को छोड़नेवाले मुनि के जघन्य अपहृत संयम होता है।

उदर (पेट) में उत्पन्न हुए कृमि आदि जन्तु का घात करने वाली औषधि का भी सेवन न करना अपहरण-संयम है। यदि किसी समय मुनीश्वर के उदर में कृमि आदि उत्पन्न हो जावे तो मुनीश्वर किसी से कहते नहीं है। बिना कहे भोजन के समय विरेचन की औषधि यदि श्रावक दे देता है, और उससे कृमिविनाश की संभावना प्रतीत नहीं होती है, तो मुनीश्वर उदररोग के लिए उस विरेचक औषधि का ग्रहण कर सकते हैं।

(५) मनः संयम—मन की कुप्रवृत्ति को-आत्मा के अहित कारक विचारों को रोकना मनः संयम है।

(६) वचन संयम—स्व व पर के अहित कारक तथा कटु, कठोरादि वचन का उच्चारण न करना वचन संयम है।

(७) कायसंयम—हिंसादि दोष जनक कायजन्य क्रिया का परिहार करना कायसंयम है।

इस प्रकार मुनीश्वरों को वीर्याचार का पालन करने के लिए उक्त १७ प्रकार के संयम का पालन करना चाहिए।

वीर्याचार के पालक मुनिराज उससर्ग और परीषहों से भी कभी विचलित नहीं होते। उपसर्ग मनुष्यकृत, देवकृत तिर्यंचकृत और अचेतनकृत इस तरह चार प्रकार के होते हैं। इन उपसर्गों के उदाहरण प्रथमानुयोग के शास्त्रों में पर्याप्त रूपसे मिलते हैं।

प्रश्न—उपसर्ग और परीषह में क्या भेद है ?

उत्तर—उपसर्ग आगन्तुक होते हैं और परीषह प्राकृतिक। भूख प्यास आदि की बाधा प्राकृतिकहै, इसलिए येप रीषह कहलाती हैं। किन्तु कौरवो के भानजों ने पांडवों को तपस्या के समय जो लोहे के गर्म वस्त्र पहनाये वह उपसर्ग था, यह मनुष्यकृत उपसर्ग का उदाहरण है।

परीषहो के बाईस भेद :—

(१) क्षुधा (२) तृषा (३) शीत (४) उष्ण (५) नग्नता (६) याचना (७) अरति (८) अलाभ (९) मच्छर आदि का काटना (१०) कुवचन सहन (११) रोग का दुःख (१२) शरीर का मल (१३) तृणादि का स्पर्श (१४) अज्ञान (१५) अदर्शन (१६) प्रज्ञा (१७) सत्कार पुरस्कार (१८) शय्या (१९) चर्या (२०) वध (२१) निषद्या (२२) स्त्री। इन २२ परिषहों को सहन करना चाहिये।

(१) क्षुधापरीषह जय—भूख की वेदना होने पर उसके वशवर्ती न होकर उसे सह लेना। जब मुनि को क्षुधा की वेदना होवे, इस प्रकार विचारना चाहिये कि—

हे जीव! तूने अनादि काल से संसार परिभ्रमण करके अनंत पुद्गलों का भक्षण किया तोभी तेरी भूख नहीं गई। तूने नरक गति मे ऐसी तीव्र क्षुधा-वेदना सही कि जिसकी कोई उपमा नहीं है। अर्थात् तुझे वहां इतनी क्षुधा थी कि सुमेरु के पर्वत के बराबर अन्न राशि को खा जाय परन्तु फिर भी एक दाना भी नहीं मिल सकता था। मनुष्य, तिर्यंच गति मे, वंदीगृह आदि में पड़े पड़े बहुत बार क्षुधा सहन की। फिर अब मुनिव्रत को धारण करके क्यों इस अल्प वेदना से कायर बनता है ? तुझे क्यों ऐसा दुखी होना चाहिये ? अब तुझे अनंत बार किये हुए भोजन की लालसा को त्याग कर ज्ञानामृत-आस्वादन-रूप भोजन करना चाहिये। इस प्रकार विचार कर क्षुधा जनित दुःख को सह लेना ही क्षुधा-परीषह-जय है।

(२) तृषा-परीषहजय—प्यास की असह्य वेदना के होने पर उसके वशीभूत न होकर उसे सह लेना ही तृषापरीषह-जय है। अतीव असह्य ग्रीष्म ऋतु मे गिरि के शिखर पर आरूढ मुनि के उपवास और ऋतु जन्य गर्मी की तीव्र उष्णता से घोर तृषा की वेदना होती है फिर भी वे धीर वीर होकर इस प्रकार विचारते हैं कि—

हे जीव ! तू ने संसार मे अनेक बार जन्म धारण कर अनेक गति मे अत्यन्त दुःसह तृषा की वेदना जनित महान दुःख सहन किये हैं, नरक में जब तू गया तब वहां पर ३३ सागर तक पीने के लिये एक पानी की बूंद तक नहीं मिली है, फिर इस थोड़ी सी वेदना से कायर क्यो होता है ? इस प्रकार के विचारो से मुनि शान्ति रस का पानकर भूख की परीषह पर विजय प्राप्त करता है।

३ शीतपरीषहजय—शीतऋतु में सर्दी के कष्ट को सहना ही शीतपरिषहजय है। जिस समय शरीर में सर्दी की वेदना होवे उस समय ऐसा विचारना चाहिए कि:—

"हे जीव ! तूने उस छठे, सातवें नरक की भूमि का स्पर्श किया है, वहा पर सागरों पर्यन्त उस अत्यन्त भयकर शीत वेदना को सहा है, जिसकी तुलना मे यह वर्तमान शीत-वेदना सुमेरु के सामने अणु के समान है। यदि तू उस महान उत्कृष्ट मुनिव्रत को धारण कर इसे जीतलेगा तो सदा के लिये तेरा इससे छुटकारा हो जायगा। यदि इसके सहने में कायरता की तो फिर इससे भी महान दुःसह शीत वेदना इस संसार मे अनेक बार फिर सहना पडेगा, इस प्रकार शीत की वेदना को सहना ही शीतपरिषहजय है।

४ उष्णपरीषहजय—गर्मी की भयंकर वेदना को शान्त भाव से सहन करना ही उष्णपरीषहजय है। जिस समय समस्त संसार तप्त तवे के समान गर्म हो जाता है, समस्त जीव-जंतु व्याकुल होकर घबरा जाते हैं, जंगल के महा हिंसक जीव सिंह, व्याघ्र आदि तथा हिरण वगैरह पशु व्याकुलता के कारण वैर भावछोड़ कर एक स्थान मे पड़े रहते हैं, जलाशयो का जल सूख जाता है, तप्त लूओं के चलने से वृक्ष कुम्हला जाते हैं. ऐसे प्रचंड ग्रीष्म काल में मुनिजन धीरवीर होकर पर्वतों की उच्च शिखर की शिलाओं पर मेरु समान अचल स्थिर रहते हैं, और स्वसंवेदन रूप ज्ञानामृत की धारा से उस उष्ण काल की वेदना का शमन करते हैं।

५ नग्नपरिषहजय—जो समस्त परिग्रह का त्याग कर नग्न हो, तन्तुमात्र भी परिग्रह की चाह नहीं करते, सदा स्त्री पर्याय एवं अपने शरीर को मल मूत्र से भरे घट के समान समझ कर उनसे परम विरक्त रहते हुए अपने आत्म-स्वभाव मे लीन रहते हैं, जिन्होने ब्रह्मचर्य को ही अपना सर्वस्व समझा है, जो रेशम, ऊन, घास, वृक्ष, चर्मादि किसी भी प्रकार के वस्त्र न रख कर दशों दिशाओं को ही वस्त्र रूप समझ कर, सर्वत्र बालक के समान निर्विकार होकर गमन करते हैं, जिन के मन मे किसी प्रकार की कालिमा नहीं है, ऐसे मुनिराज ही नग्नपरिषहविजयी कहाते हैं।

६ याच्या (याचना) परीषह-जय—किसी भी मनुष्य से किसी भी पदार्थ की याचना नहीं करना याच्या परीषह है। क्योंकि याचना से ही सब संसारी जीव दीन बन रहे हैं। महा वैभव, ऋद्धि सम्पन्न, इन्द्र तथा चक्रवर्ती भी अभिलाषा वश रंक हो रहे हैं। जैसे तीव्र गर्मी की ताप से वृक्ष का अंतः सार नष्ट होकर वह सार रहित सूखा हुआ प्रतीत होता है। उसी प्रकार तपस्या द्वारा जिन्होंने अपने शरीर

को शुष्क एवं अत्यन्त कृश कर दिया है, तथा इन्द्रिय और मन को पूर्ण वश कर लिया है; अतः जो आहार न मिलने पर चाहे प्राणों को त्यागना भी पड़े तो भी दीन भाव से कभी किसी श्रावक से याचना नहीं करते, परन्तु बिजली के समान अपने शरीर को दिखा मात्र देते हैं, सदैव सिंहवृत्ति को धारण करते हैं वे ही मुनि याचना परीषह पर विजय पाते हैं।

७ अरति-परीषह-जय—संसार के समस्त इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में संसारी जीव राग-द्वेष मान रहे हैं। किन्तु मुनिजनों ने सब प्रकार की सांसारिक इच्छाओं को त्याग दिया है, अतः मन्दिर, श्मसान, शहर-जंगल, शत्रु-मित्र, कनक-पत्थर, सुख-दुःख आदि सभी पदार्थों मे समता भाव धारण किये रहते हैं सदा ध्यान, स्वाध्याय मे लीन रहते हैं, उन्हें कभी भी अनिष्ट पदार्थ का संयोग होने पर खेद नहीं होता। यही अरति-परीषह को जीतना कहलाता है।

८ अलाभ-परीषहजय—धीर वीर मुनिराज अनेक उपवास करते हैं, फिर पारणा के निमित्त दातारों के घरों में जाते हैं, परन्तु अन्तराय कर्म का तीव्र उदय होने से उन्हें अहार का संयोग नही मिलता फिर भी वे रंचमात्र भी खेदखिन्न नहीं होते, किन्तु लाभालाभ मे समान बुद्धि रखते हैं, मन, वचन और काय की गुप्तियो को पालते हुए सदा ज्ञानामृत भोजन में तृप्त रहते हैं उसी को अपना अहार समझते हैं, भिक्षा नहीं-मिलने पर रंच मात्र भी हताश नहीं होते, वे ही अलाभ को जीतने वाले कहलाते है।

९ दंशमशक परीषहजय—डांस और मच्छर आदि जानवरों द्वारा सताये जाने पर भी विचलित नहीं होना। इनकी बाधा को शान्त भावसे सहलेना। यहां दंस, मसक से केवल डांस और मच्छर ही न लेना किन्तु इसी तरह सताने वाले सर्प, बिच्छू, चीटी आदि से भी शरीर में बाधा होने पर किसी तरह विचलित न होना दंस, मशक, परीषह का जीतना कहलाता है।

१० आक्रोश परीषहजय—मुनि की महादुर्धर नग्न दिगम्बर अवस्था को देखकर दुष्टजन उन्हें गालियाँ देते हैं, पत्थर तथा कंकडों की भयंकर चोट करते है, चोर, ठग, पाखंडी, निर्लज्ज आदि कठोर शब्दों का प्रयोग कर हर प्रकार से निन्दा करते हैं, पर वे धीर मुनिराज क्षमा रूपी ढाल को लेकर, किंचित् मात्र भी उनके दुर्वचन एवं शस्त्र प्रहार की चिंता नहीं करते, प्रत्युत अपने मन को आत्म-मनन में लगाते हैं। कदाचित् कर्म निमित्त से उपयोग उस तरफ चला भी जावे तो उनका भला ही विचारते हैं, अरे! ये विचारे, गरीब, मेरे इस हाड मांस के पुतले शरीर को देख कर गाली देते हैं, अतः ये मेरे निमित्त मे व्यर्थ ही पाप बंध कर रहे है, ये इस पाप से किस प्रकार छूटे, यह विचार मन में रखकर उनको धर्म की ओर लगाने की चेष्टा करते हैं परन्तु उनका अनिष्ट कभी नहीं विचारते, उन मुनीश्वरों के आक्रोश परीषहजय होता है।

११ रोग-परीषह-जय—यह शरीर मल मूत्र का पिटारा है, ऐसा समझ कर इससे विरक्त हुए, मुनिश्वर संसार की अन्य

वस्तुओं के समान इसको भी अनित्य समझते है। उन्हें सिर्फ आत्मिक गुणों की ही परवाह है। अतः उनकी शुद्धि की ही उन्हें चिंता है। ऐसी अवस्था मे विरुद्ध आहार पान आदि की तीव्र शीतोष्णता से शरीर में अनेक प्रकार की व्याधियाँ जैसे ज्वर-प्रकोप, वात विकार, चर्म-विकार, पित्त-कफ-विकार, ज्वर-रोग आदि हो जावे तो उनके दूर करने की रंचमात्र भी फिकर नहीं करते। जल्लोपधि आदि ऋद्धियों के प्राप्त हो जाने पर उन रोगों का प्रतीकार करने की सामर्थ रखने पर भी उन्हें सहते हैं, ऐसे मुनिराज ही व्याधि परीषह को जीतते हैं।

१२ मल-परीषहजय—पृथ्वी कायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक, और वनस्पतिकायिक, तथा त्रसकायिक, इन षट् काय के जीवों की विराधना से मुनि दूर रहते हैं अतः वे स्नान किया नहीं करते कारण कि स्नान करने से जीवों की विराधना होती है, और साधु होते हैं अहिंसा महाव्रती, छहकाय के जीवों की दया के पालक, अतः ऐसे दयालु ऋषि शरीर में पसीना आने से रज (धूल) बैठ जाय तो रंचमात्र भी खेद नहीं करते, स्नान करने की इच्छा भी वो नहीं करते हैं, न विलेपन आदि करते हैं। इस परीषह के जय करने के लिये निम्न विचार करना चाहिए कि "हे जीव! यह शरीर इतना मलिन है कि सारे समुद्र के जल से भी धोया जावे तो भी पवित्र नहीं होता। और तू सदा निर्मल, अमूर्तिक शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, तेरे साथ इन मूर्तिक पदार्थों का संसर्ग नहीं हो सकता, अतः इस पौद्गलिक देह से स्नेह छोड़ अपनी आत्मा में रमण कर।

१३ तृणस्पर्शपरीषह—जगत के जीव जरासी फास के लग जाने पर अपने मन में दुखी होते हैं, और उसके मिटाने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु मुनिराज इस प्रकार न करके तृण, कंटक, कांच, फांस, कंकर आदि के शरीर या आखों में लग जाने पर भी खेदखिन्न नहीं होते, न उनके निकालने का प्रयत्न करते हैं, न अन्य से निकालने के लिये कहते हैं। ऐसे ही साधु इस परीषह को जीतते हैं।

१४ अज्ञान परीषहजय—ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से चिरकाल तक तपश्चर्या करने पर भी विशेष ज्ञान नहीं हो पाता। इस कारण यदि अन्य जन कहे कि तू मूर्ख है, अज्ञानी है, तब भी अपने चित्त मे मुनिराज रंचमात्र भी खेद नहीं करते, प्रत्युत विचारते हैं कि "मेरे कर्म का तीव्र उदय है. इससे ज्ञान नहीं होता", इस तरह वे संकल्प विकल्प नहीं करते हैं। यही अज्ञान परीषह जीतना कहलाता है।

१५ अदर्शन परीषह जय—समस्त संसारी जीव अपने प्रयोजन वश ही कार्य करते है। और प्रयोजन में गड़बड़ी होने पर मन में दुख मानते हैं। परन्तु मैं रात दिन तप मे लीन रहता हूं, परम वैरागी हूं, स्वाध्याय मे मन लगाता हूं, कषायो पर विजय पा चुका हूं, समस्त पदार्थों के स्वरूप का मुझे परिज्ञान है, अर्हंत सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, इन पांचो परमेष्ठियों मे तथा धर्म में दृढ विश्वास है, और चिर काल तक तपस्या की है तो भी मुझे अवधि-ज्ञान, मनः पर्यय ज्ञान व ऋद्धियां आदि प्राप्त नहीं हुई। क्या जैन दीक्षा या संयम पालने का कोई फल नहीं होता? क्या मेरा तप पालन सब व्यर्थ ही जा रहा है? इस प्रकार के विचार दर्शन विशुद्धि के योग से उत्पन्न न होना ही अदर्शन परीषहजय कहा जाता है।

१६ प्रज्ञापरीपहजय—"मैंने अंग, पूर्व, प्रकीर्णक ज्ञान प्राप्त कर लिया, मेरे सामने प्रतिवादी ऐसे भागते हैं, जैसे सूर्य के प्रताप से अंधकार भाग जाता है। मैं न्याय, व्याकरण तर्क, छंद, कला आगम, सिद्धान्त आदि शास्त्रो मे पारंगत हू" इत्यादि अहंकार पूर्ण भाव का न होना प्रज्ञापरीषह जय है।

१७ सत्कार पुरस्कार परीपहजय-देव, मनुष्य, तिर्यंच आदि सब ही जीव अपना आदर-सत्कार चाहते हैं, आदर करने वालो के प्रति मित्रभाव और नहीं करने वालों प्रति शत्रु के भाव रखते हैं। परन्तु मुनीश्वर सुरेन्द्रादिक महर्द्धिक देवो से सत्कार पाने पर भी अपने मन मे हर्ष नहीं करते। तथा ऐसा विचार नही करते हैं कि ये अविवेकी मूर्ख लोग क्यो नही मुझे नमस्कार करते हैं? मेरी पूजा क्यो नही करते? ढोंगियों को तो पूजते फिरते हैं, व्यन्तर आदि मिथ्यादृष्टियो की भी पूजा करते हैं, ये मेरे लिये उठते भी नही हैं। मेरे प्रति भक्ति के परिणाम भी नहीं रखते हैं। इस प्रकार सत्कार पुरस्कार की भावना से रहित जो मुनिराज होते है उनके सत्कार पुरस्कार परीपहजय होता है।

१८ शय्यापरीपहजय-स्वाध्याय, ध्यान एवं मार्गश्रम से जो खेद-खिन्न हो चुके है, फिर भी जो बहुत कम सोते हैं, और वह भी एक करवट ही। विषम, कंकरीले कठोर, गर्म या ठडे स्थान का जिनको कोई विचार नहीं है। किसी लकडी या पत्थर की तरह, व्यन्तरादिकृत उपसर्ग आदि बाधाओ के उपस्थित होने पर भी शरीर को नहीं हिलाते, डुलाते, ऐसे सहनशील मुनियो के शय्या परीपह जय होती है।

१९ चर्या परीषहजय—अनशन,उनोदर आदि बाह्य प्रायश्चित आदि एवं आभ्यन्तर तपों को धारण करने वाले निष्परिग्रही मुनीश्वर कंकड, पत्थर, बालु, कांच आदि से व्याप्त पृथ्वी पर जीवों की बाधा का परिहार करते हुए नंगे चरणो से गमन करते हैं। और मार्ग चलने से जो खेद होता है उसे शान्त परिणामो से सहन करते हैं। यही चर्या परीपहजय कहा जाता है।

२० वधबंधनपरीपहजय— दुष्टों के द्वारा यदि वीतराग मुद्रा धारी तपस्वियो के शरीर मे तीक्ष्ण बाण, तलवार, मुद्गर, परशु, बन्दूक आदि से बाधा पहुँचाई जाय तो भी वे मुनि किन्चित् भी क्रोध नहीं करते, केवल अपने द्वारा पूर्व संचित किये हुए असाता वेदनीय कर्म का उदय समझ कर शरीर से ममत्व बुद्धि हटाकर अपनी आत्म-रक्षा (रत्नत्रय-रक्षा) मे तत्पर रहते हैं। ऐसे शान्त, कषाय मुनिराज ही वन्धन परीषह को जीतने वाले कहलाते है।

२१ निषद्यापरीषह जय—निर्जन बनो मे, (जहां सिंह, व्याघ्र, सादूंल, भालू आदि हिंसक जीव हैं) व्यन्तर देवो के स्थानों में, अंधकार युक्त पर्वतों की गुफा मे, सूने घर, स्मशान भूमि मे, वन मे, एक जगह बैठकर वीरासन, गोदूहन, पद्मासन, अर्द्ध पद्मासन, खड्गासन, मुर्दासन, मयूरासन, कुक्कटासन आदि आसनो से नियत काल तक स्थित रहकर जो ध्यान लगाते हैं। सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि भयानक जन्तुओं की गर्जना को सुन कर भी जिनका चित्त विचलित नहीं होता, कोई कितना भी उपसर्ग क्यों न करे परन्तु अपने आसन

से चलायमान नहीं होते हैं,—अडिग रहते हैं। ऐसे मुनि निषद्यापरीषहजय होते हैं।

२२ स्त्री परीषह जय—जो महामनोहर रूपवाली देवांगनाओं के समान स्त्रियों को देखकर भी विचलित नहीं होते, जिनके हृदय में लेश मात्र भी विकार पैदा नहीं होता—ऐसे ही ब्रह्मचर्य के धारक धीर वीर मुनिराज स्त्री परीषह के जीतने वाले कहलाते हैं।

इन बाईस परीषहों को सहना मुनि के वीरत्व को प्रकट करता है। इस प्रकार वीर्याचार का वर्णन समाप्त हुआ।

उक्त प्रकार से संयम-प्रकाश के पूर्वार्द्ध की तृतीय किरण में दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार तप-आचार और वीर्य नामक आचारों का वर्णन करते हुए पंचाचार नामक अधिकार समाप्त हुआ।

❀ इति पंचाचाराधिकारः ❀